



# चौमासा

वर्ष-32 अंक-97  
मार्च-जून 2015

प्रधान सम्पादक  
वन्दना पाडेण्य

सम्पादक  
अशोक मिश्र



आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी  
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

ISSN 2249-5479

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

### सम्पर्क

आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स

भोपाल-462002

फोन/ फ़ैक्स : 0755-2661948, 2661640

E-mail : mplokkala@rediffmail.com,  
mptribalmuseum@gmail.com

web. : www.mptribalmuseum.com



### मूल्य

एक प्रति बीस रूपये

वार्षिक सदस्यता - पचास रूपये

आजीवन सदस्यता - पन्द्रह सौ रूपये

चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

### प्रचार/प्रसार

प्रवीण गावण्डे - (मो. 9827351093)

### शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

### मुद्रण

मध्यप्रदेश माध्यम, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

निदेशक, आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्- भोपाल मुद्रक, प्रकाशक द्वारा मध्यप्रदेश माध्यम, भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स- भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-अशोक मिश्र



## इस अंक में

- युग निर्माण के सूत्रधार : राजयोगी भरथरी / डॉ. पून सहगल / 5  
जग में अमर जोगी भरथरी / डॉ. श्रीराम परिहार / 11  
लोकसंस्कृति: वैश्विक परिदृश्य / धर्मेन्द्र पारे / 18  
बुन्देली का लोक साहित्य / डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव / 23  
लोक देवता-हरदौल जू / डॉ. सुधा तैलंग / 29  
रिश्तों को बाँधती है ठिठोली / डॉ. अर्पणा बादल / 31  
बुन्देलखण्ड के लोकनृत्य / डॉ. गायत्री बाजपेयी / 36  
सजनई गीत / बाबूलाल दाहिया / 44  
बघेली फागें / संतोष कुमार तिवारी / 49  
लोक कथाओं का महत्त्व / डॉ. अर्जुनदास केसरी / 58  
लोकवाद्यों की पीठिका / डॉ. महेन्द्र भानावत / 61  
एक महीना ऐसा भी .....! / डॉ. मालती शर्मा / 68  
लोरी की यात्रा / डॉ. सुधा गुप्ता 'अमृत' / 74  
रायगढ़ की सांस्कृतिक परम्परा / डॉ. मोनिका सिंह / 85  
हमारी आदिवासी अस्मिता / डॉ. विनय कुमार पाठक / 90  
लोक संस्कृति और समाज / डॉ. अर्चना शुक्ला / 99  
लोक भाषाओं की कहावतें / डॉ. मीना साकल्ले / 102  
मालवी काया गीत / डॉ. स्वर्णलता ठन्ना / 113  
भाव व्यंजना के गीत / डुमन लाल ध्रुव / 120  
छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य में गीत / डॉ. राजन यादव / 123  
कुम्हारों की पहचान / डॉ. सुधीर कुमार / 131  
लोक साहित्य में पर्यावरण / डॉ. अंशुबाला मिश्रा / 134  
गोण्ड जनजातीय परम्पराएँ / जगत्पति आनंद ज्यातिषी / 137  
आदिवासी संस्कृति में कौड़ी / सुनीता श्रीवास्तव / 155  
बघेली में मानस का प्रभाव / डॉ. सेवाराम त्रिपाठी / 158  
पवनपुत्र की श्रेष्ठता / डॉ. गार्गीशरण मिश्र 'मराल' / 164  
समीक्षा - झाबुआई संस्कृति की झलक / डॉ. मनीषा सिंह मरकाम / 169



## युग निर्माण के सूत्रधार : राजयोगी भरथरी

डॉ. पूरन सहगल

लोक पुरुषों के चरित्र को यदि समझना और समझ कर लोक में पुनः ले जाकर लोक को ज्योतिर्मय करना अभीष्ट हो, तब हमें सबसे पहले लोक में जाकर उन्हें खोजना होगा। समय की धूल-धूप ने उनके इतिहास पर इतना प्रभाव डाला है कि कभी उनकी रंगत उड़ जाती है और वह बदरंग होकर अपने वास्तविक रंग को खो बैठते हैं।

राजयोगी भरथरी ( भर्तृहरि) हों अथवा महाराजा शकारि विक्रमादित्य या फिर सरस्वतीपुत्र महाराजा भोज अथवा परमवीर हूणारि यशोधर्मन। सभी लोकपुरुष कालजयी होकर एक समय में देवपुरुष बन जाते हैं। लोक में रमते हैं। लोक इन्हें अपने ढंग से सजाता, संवारता और सहेजता है। लोक में उनका जो स्वरूप निर्धारित हो जाता है, वही लोकमान्य हो जाता है।

राजयोगी भरथरी के साथ भी यही सब कुछ हुआ है। वे कब और कैसे भर्तृहरि से भरथरी हो गए, यह भी तय कर पाना बहुत कठिन कार्य है। इसका कारण है इतिहास और लोकाख्यानों का परस्पर गड़बड़ हो जाना। जबकि, दोनों की संगति के बिना कोई भी निष्कर्ष निकाल पाना संभव नहीं हो सकता। लोकाख्यानों की सुदीर्घ एवं सम्पन्न परम्परा आज भी अक्षुण्य है और हमारी संस्कृति का पोषण करती, लोक रंजन तथा लोक साहित्य को समृद्ध करती हुई अपने गौरव को अक्षुण्य रखे हुए है।

भर्तृहरि अर्थात् श्रेष्ठ पालक, स्वामी, भर्ता। यदि हम लोकमान्य सम्बोधन भरथरी को भी समझें तो भी उसका अर्थ यही होगा। भरथरी = भर + थरी अर्थात् भरण करने वाला, पोषण करने वाला या पालन करने वाला एवं थरी-थली-स्थली पृथ्वी। भरथरी अर्थात् धरती का पालक, स्वामी, भर्ता।

भरथरी सचमुच पालक था। पोषक और स्वामी था। अपने राज्य के लिए वह पिता तुल्य था। वैसा श्रेष्ठ कुशल राजा, रणकुशल, रागी और बैरागी कोई भी शासक न तो उनसे पहले हुआ, न बाद में हुआ। वह पालक के रूप में विष्णु तुल्य, सृजक के रूप में ब्रह्मा तुल्य एवं रक्षक के रूप में शिव तुल्य थे। शिव के तो वे अंश अवतार ही थे। वे शिव मंगलकारी दिव्य विभूति के रूप में प्रकट हुए और समग्र जीवन लोक-कल्याणार्थ समर्पित कर दिया।

गर्धभिल्ल एक शक्तिशाली राजा था। उज्जैन में उसकी सत्ता अक्षुण्य थी। इसके लिए भरथरी लोकगाथा कहती है -

*गर्ध भिल्ल राजो बड़ो, नेम धरम निरधार।  
चम्पा दे रानी कहें सतवंती सतनार।।<sup>1</sup>*

उज्जैन नगर अतिसम्पन्न था। वहाँ सतखण्डे महल बने थे। सोलह निर्मल तालाब थे।

*सतखण्डा तो महल है, सोला उजल तराव।<sup>2</sup>*

सब तरफ हरियाली, बाग-बगीचे, नगर मध्य नगर नायक महाकाल और नगर बाहर राजा के सतखंडे महलों की रलक दलक। गर्धभिल्ल के बाद भर्तृहरि राजा बने। उनके समय उज्जैन की समृद्धि और भी अधिक बढ़ गई। भर्तृहरि जब पुनर्जीवन प्राप्त कर तथा पाँच वर्ष सिद्ध गुरु के आश्रम में शिक्षा-दीक्षा लेकर अश्व सवार होकर अपने महलों की ओर प्रस्थान करते हैं, तब भरथरी लोकगाथा उनकी छवि का बखान करती हुई कहती है -

*बरस अट्टारह भरथरी, होया जुगत जुवान।  
कमर कटारी खड़ग धज, खांदे तीर कमान।।  
दूरं ती सिवजी फबे, निकटायों में राम।  
भलके जाणे क्रसन वे, धन-धन मारव धाम।।  
भरथरी पाट विराजताँ, कटया सबै करेस।  
धन धरती धन धाम हे, धन हे मारव देस।<sup>3</sup>*

भरथरी के पाट बिराजते ही मालव देश धन्य हो गया। क्योंकि वह शिव का अंश और सद्गुरु सिद्ध का वरदायी शिष्य था। गाथा कहती है - भर्तृहरि धर्म-नियम से शासन करता था। उसमें अच्छी सूझ-बूझ थी। शत्रु चौकस थे। दरबारी व राजपुरुष भी चौकस थे। वह परम वीर और प्रतापी राजा था। युद्ध में उसका पराक्रम देखते ही बनता था। उसके दण्ड कठोर किन्तु हृदय

कोमल था। वह पक्षपात बिल्कुल नहीं करता था। उसके धर्मनिष्ठ राज्य में नियमानुसार वर्षा होती थी। यज्ञ हवन खूब होते थे। व्यापार भी खूब बढ़ गया था।

सभी लोग आय का दसवां भाग दान-धर्म में लगाते थे। उज्जैन नगर में मूर्ख उदाहरण स्वरूप भी नहीं मिलता था। प्रत्येक गाँव में पाठशालाएँ थीं। राजा गुणियों का सत्कार करता था। वह स्वयं बहुत ज्ञानी था। वह ज्ञानवान, बलवान और सामर्थवान था। उसे मनु का अवतार माना जाता था। वह कभी ऋषि अत्रि के समान और कभी अगस्त के समान लगता था। राज्य में चोरी-चकारी और लूट नहीं होती थी। घरों के कपाट बंद तो किए जाते थे, किन्तु उनमें ताले नहीं लगाए जाते थे। सर्वत्र सुख शांति थी। शत्रु सदा भयभीत रहते थे। सीमाएँ सुरक्षित थीं। ऐसा था भरथरी का वह श्रेष्ठ और सम्पन्न युग। वह एक महान राजा था। मालवा का वह युग, श्रेष्ठ युग था। उसे श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम बनाने में महाराज भरथरी का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है।<sup>4</sup>

पिछले कुछ वर्षों से विद्वानों के बीच यह विषय विशेष रूप से चर्चा में बना हुआ है कि क्या भरथरी ने गोरखनाथ से दीक्षा ग्रहण की थी। नाथ परम्परा में भरथरी को चौबीस सिद्धों में अठारहवें स्थान पर माना है।<sup>5</sup> गोरखनाथ का समय इतना विवादित है कि आज तक कोई भी विद्वान किसी सर्वमान्य निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सका। कभी वे कबीर से चर्चा करते दिखते हैं और कभी नानकदेव के साथ।<sup>6</sup>

गोरखनाथ को विद्वानों ने 7वीं से लगाकर 18वीं शताब्दी के मध्य होना माना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी से लेकर डॉ. बड़थवाल, डॉ. राम कुमार वर्मा, डॉ. मोहनसिंह, डॉ. शहीदुल्ला, डॉ. फर्कहर, डॉ. राहुल सांस्कृत्यायन आदि विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रकट करते हुए गोरख को व उसके समय को आगे-पीछे करते हुए अनिर्णीत बनाए रखा है।<sup>7</sup>

यदि हम भरथरी (भर्तृहरि) के समय पर प्रकाश डालें, तब कह सकते हैं कि वे निर्विवाद रूप से विक्रम की पहली शताब्दी में हुए। वे विक्रमादित्य के ज्येष्ठ भ्राता थे। इसके विपरीत भरथरी और गोरख का समय कभी मेल नहीं खाता। इनमें से किसी के पास भी कोई तर्कपूर्ण प्रमाण नहीं है। मेरे पास उपलब्ध एक गाथा को साक्ष्य माने, तब उस गाथा में कहीं भी गोरख का वर्णन या

संदर्भ तो नहीं आता, किन्तु एक सिद्ध गुरु का उल्लेख अवश्य उसमें हुआ है।

इस गाथा में उज्जैन के राजा गर्धभिल्ल और रानी चम्पादे की तपस्या से महादेव प्रसन्न हुए और उन्हें अपने अंश से एक पुत्र का वरदान दिया।

*आखर सुण ली रामजी, राणी री अरज पुकार।  
मँहलँ प्रगट्या नाथ जी, गल मुँडा की मार।।  
मादेव खुद परगट्या, सुणता अरज पुकार।  
राणी झट चरणा लगी, नयणा आँसू ढार।।<sup>8</sup>*

स्वयं महादेव ने अपने अंश से पुत्र प्रदान कर कहा- यह बेटा बारह वर्षों के पश्चात् पुनः मुझमें समा जाएगा। आगे जाकर वही हुआ श्याम हिरण वध और उसकी हिरणियों के श्राप के कारण बारहवें वर्ष में भर्तृहरि की मृत्यु हो गई। जिसे 'सिद्धगुरु' ने पुनः जीवन देकर जहाँ महादेव की वरदान सीमा की रक्षा की, वहीं राजकुमार भर्तृहरि को नया जीवन देकर गर्धभिल्ल और चम्पादे को पुत्र सुख से वंचित भी नहीं होने दिया।

*भरथरी पापो जाणताँ, कूद गयो कुंड बीच।  
सतगुरु ने झटकाढयो, अमरत जल दियो सींच।।  
इतर भरथरी रो वियो, दूजो जनम सुचार।  
मरजादा महादेव री, हो पायी निराधार।।<sup>9</sup>*

यही भरथरी बाद में उज्जैन का राजा हुआ। गाथा में उसे परमवीर, न्यायप्रिय एवं प्रजावत्सल राजा कहा गया है। पींगलगाढ़ से गणिका आई। नाम था पींगला। राजा उस पर आसक्त हो गया और महलों में बैठी रानी पींगला को भुला बैठा। राजकाज बाधित हुआ।

राज्य व राजा की ऐसी दुर्दशा देखकर राजगुरु (सिद्धगुरु, सतगुरु) विचलित हो उठे। उन्होंने भर्तृहरि को अमृतफल देकर कहा- इसे खाने वाला चिरायु एवं चिरयुवा बना रहेगा। राजा ने वह फल गणिका पींगला को दिया। पींगला ने अपने प्रेमी सेनापति को, सेनापति ने अपनी पत्नि को और सेनापति की पत्नि ने अपनी बहन रानी पींगला को दे दिया। पींगला ने वह फल अपने पति राजा भर्तृहरि को दे दिया। भर्तृहरि फल देखकर चकित हुए। खोज करने पर उन्हें सारी फल यात्रा का भान हुआ। वह फल लेकर गणिका

पींगला के महल पहुँचा और उस पर विश्वासघात का आरोप लगाकर खूब डाँट फटकार लगाई।

गणिका ने शांत भाव से कहा- राजन! मैं गणिका हूँ। मुझे नगरवधू भी कहा जाता है। मेरे पास आने वाला प्रत्येक व्यक्ति समान आदर पाता है। मैंने सदा अपने गणिका धर्म का पालन किया है। आप ही राजधर्म से भटक गए हैं। ऐसा कहकर वह गणिका समस्त भोग-विलास की सुख-सुविधा का त्याग कर गेरुए वस्त्र धर योगिनी होकर महल से बाहर चली गई। इसका प्रभाव भर्तृहरि पर गहरा पड़ा और उनके मन में वैराग्य भाव का उदय हो गया। तब सिद्धगुरु ने उनके सिर पर आशीर्वाद का हाथ रख दिया और भिक्षा मांग कर आने का आदेश दिया।

*सिद्ध गुरु माथे हाथ धर्यो, धर दियो मोरां हाथ।  
मोह रा बंधन टूट्या तुरताँ, चालण लाग्या साथ।।  
जाओ भरथरी महलँ, द्वारे भिक्षा लाओ मांग।  
मोह रा बंधन जद टूटे ला, परणी देवे सांग।।<sup>10</sup>*

यहाँ भी गोरख का कोई उल्लेख नहीं आता। फिर वह कौन-सा भरथरी हुआ जिसे गोरख ने दीक्षा देकर नाथ पंथ में दीक्षित किया? क्या वे सिद्ध पुरुष ही गोरख थे? क्या यह माना जाए कि भरथरी और भर्तृहरि दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुए? एक अन्य गाथांश में एक संदर्भ आता है -

*भरथरी तो एकज वियो, विक्रम विया अनेक।  
गोरख होया जुग-जुगाँ, राम धरम री टेक।।  
एक पींगलाँ रानी वई, भरथरी जीव जड़ी।  
दूजी होई पींगला, गणिका मेहल छड़ी।।  
दोई पींगला जोगण वई, लग्यो सबद रो बाण।  
अमरपुर पउँची दोई, सिद्धां क्यो बखाण।।  
पींगला नाम धरे नहीं, बेटी रा माँ बाप।  
पींगल, पींगला नाम में, ऐसी लागी छाप।।<sup>11</sup>*

गाथा कहती है- भरथरी तो केवल एक ही हुआ। विक्रमादित्य अनेक हुए। विक्रमादित्य एक शौर्य उपाधि बन गई और समय-समय पर कई राजाओं ने इसे धारण किया।<sup>12</sup>

इसी प्रकार गोरख भी अनेक हुए। रामधर्म (मर्यादा) की रक्षा करने के लिए युग-युग में गोरख ने अवतार लिया। पींगला भी

दो हुई – एक रानी पिंगला जो राजा भरथरी को अतिप्रिय थी। दूसरी गणिका पिंगला (महल खड़ी – कोठे चढ़ी, यह एक सम्बोधन गणिका या वैश्या के लिए साधारण जन में होता है।) अंत में दोनों जोगन बन गईं और अमरपुर (स्वर्ग) चली गईं। ऐसा सिद्धों ने बखान किया है। उन पिंगलाओं के बाद किसी भी बाप ने अपनी बेटी का नाम पिंगला नहीं रखा। इस गाथांश में दोनों पिंगला को जोगन हो जाने का जो संकेत है, उसकी पुष्टि ‘भरथरी की लोकगाथा’ करती है।

जब भरथरी गुफा में साधना कर रहे थे। तभी रानी पिंगला भी महल में योगसाधना में लीन हो गईं। उसे सिद्धि प्राप्त हो गई। भरथरी को सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाई। तब रानी (योगिनी) पिंगला ने गुफा के बाहर जाकर भरथरी को बाहर बुलाया। और उनका भटकाव दूर कर व उनसे दीक्षा लेकर वन में चली गईं।

गाथा कहती है सबसे पहले नाथ तो स्वयं महादेव हैं। दूसरे मछिंदर नाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) हुए। फिर गोरखनाथ हुए। पहला गोरख नंदी हुआ। दूसरे कृष्ण हुए। तीसरे भरथरी हुए। चौथे फिर दुबारा गोरखनाथ हुए। इस प्रकार गोरख युग-युग में हुए। महादेव से यह परम्परा चली जो भरथरी और गोरख तक निरन्तर बनी रही।

*पेलो तो नाथ महादेव जी ने जाणजो जी।*

*दूजो तो होया मछन्दरनाथ।।*

*मछन्दर तो तप तपयो जी भारी।*

*उपज्या जी उपज्या गोरखनाथ।।*

*पेहलो तो गोरख नंदी जाणजो जी कोई।*

*दूजो तो होया गिरधर गोपाल।।*

*तीजा जो जाणो जोगी भरथरी जी जाणो।*

*चौथा तो होया गोरखनाथ।।*

*गोरख तो होया जुग-जुग मोकरा।*

*जुगाँ-तो जुगाँ औतार।।*

*भटक्याँ ने गेलो वतायो जी गोरख।*

*भूल्याँ रो कर्यो जी उद्वार।।*

*महादेव ती चाली बेल गोरख जी।*

*नाम तो धराया धर्या पाट।।*

*आखिर तो परगट्या जुग भरथरी जी गोरख।*

*भरथरी वराज्या गोरख पाट।।<sup>13</sup>*

इस प्रकार गोरख भी एक अवतार हैं। यह बाद में एक पदवी (विशेषण) बन गया। युग के अनुसार गोरख ने अवतार लिया। यह भी कह सकते हैं कि जब भी कोई दिव्य साधक गोरख के अनुरूप यशस्वी हुआ, उसे गोरख पद नाम से सम्बोधित किया गया। इसी परम्परा से भरथरी के समय में उनके राजगुरु जिन्हें गाथा ने सिद्धगुरु कहा है, जो इतने सक्षम थे कि उन्होंने हवन कुण्ड में कूदकर प्राण त्याग चुके कुमार भर्तृहरि को जीवित कर दिया। वे एक चमत्कारी पुरुष थे। उन्होंने भर्तृहरि को योगी होने की दीक्षा दी थी। वहीं उनके दीक्षा गुरु थे। गोरख नहीं थे।

यदि इत्सिंग की मानें जो 7वीं शताब्दी में भारत आया और उसने कहा कि ‘मुझे ज्ञात हुआ है कि लगभग पचास वर्ष पूर्व उज्जैन के एक सिद्ध वैयाकरण का निधन हो गया है। वह व्याकरण निश्चित रूप से भर्तृहरि ही थे।’ इत्सिंग का यह कथन अत्यंत भ्रामक है। वे कैसे कह सकते थे कि जिस सिद्ध का निधन हुआ वे भर्तृहरि ही थे? क्या कोई और नहीं हो सकता? फिर यह भी तो सम्भव है कि उसके पास जो सूचना रही हो, वह किसी अनुमान के आधार पर रही हो। यदि वह भर्तृहरि थे तब वे 7वीं शताब्दी में कैसे हो सकते हैं? इत्सिंग एक विदेशी यात्री था। इसे न तो भारत की संस्कृति का पता था और न ही इतिहास का। वह यहाँ का भूगोल भी कहाँ जानता था? दूसरों की अधकचरी और अप्रमाणिक सूचनाओं पर ही वह आधारित था। उसने जिस व्याकरण की बात कही है क्या वह वाक्यपदीय का सृजक भर्तृहरि ही था अथवा कोई अन्य? यह स्पष्ट नहीं है।

उपरोक्त विश्लेषण से इतना खराखट्ट समझ में नहीं आता है कि भरथरी के दीक्षा गुरु गोरख ही थे अथवा उनके ही राजगुरु ‘सिद्ध गुरु’ थे। यह एक लम्बित प्रश्न है। गाथाकार ने जिस दिव्य पुरुष को बार-बार सिद्ध पुरुष कहा है, बहुत सम्भव है वे ही वास्तव में गोरख हों। गाथाकार उनका नाम कहीं नहीं कहता। यह सम्भवतः इसलिए हुआ होगा कि वह उन सिद्ध पुरुष के नाम विषय में पूर्णतः आश्वस्त नहीं था। लगता है कि वह सिद्ध पुरुष गोरख ही रहा होगा।

जब इतिहास ठिठक कर रुक जाता है, तब लोक उसका साहित्य मार्ग प्रशस्त करता है। किन्तु जब दोनों ही ठिठक कर खड़े हो जाते हैं, तब केवल पुरातत्त्व उन्हें मार्ग दिखा सकता है। इस



कारण मैं पुरातत्त्व को तीसरी आँख कहता हूँ। अब पुरातत्त्व की बारी है। पुरातत्त्ववेत्ताओं को अब सक्रिय होकर समाधान निकालना चाहिए। और सप्रमाण यह सिद्ध कर देना चाहिए कि भर्तृहरि उज्जैन शासक थे। विक्रम के ज्येष्ठ थे तथा गोरख के शिष्य भी वही थे। गाथा अंतिम सोपान में कहती है -

महादेव और भरथरी, गुरु सिख संजोग।  
इन्द्र ती वृहस्पति कहयो, यो अद्भुत्यो जोग।।  
मइमा सुण गुरु सिख री, इन्द्र वियो सुचन्न।  
धन्न-धन्न महादेव प्रभु, धन्न भरथरी धन्न।।  
सिद्ध गुरु रा रूप में, महादेव ही जाण।  
लीलाधारी रा सृजन, किण विध करूँ बखाण।।<sup>14</sup>

भरथरी और महादेव का योग-संयोग गुरु-शिष्य जैसा ही है। वृहस्पति ने इन्द्र से कहा- यह संयोग अद्भुत और अनन्य है। इन्द्र स्वयं जब भरथरी गुफा में आकर उनकी तपस्या भंग करना चाहते थे तथा जब अपने सभी प्रयासों में वह असफल हो गया। उसने भर्तृहरि की अद्भुत छवि देखी और वहाँ स्वयं महादेव को उसने भरथरी के पृष्ठबल के रूप में खड़ा देखा, तब वह औचक हो उठा। तभी वृहस्पति ने उसे भर्तृहरि की महिमा का भान करवाया। वृहस्पति ने इन्द्र से कहा कि सिद्ध गुरु और कोई नहीं स्वयं महादेव ही हैं। लीलाधारी की लीला का बखान कर पाना बहुत कठिन होता है।

इसी गाथा के अंत में एक स्थान पर गोरख का नाम भी आता है। जब भरथरी की तपस्या सिद्ध हो जाती है, तब गोरख गुफा में प्रकट होकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं। भरथरी उन्हें प्रणाम करते हैं तथा गोरखनाथ को सतगुरु कहकर सम्बोधित भी करते हैं। किन्तु आगे चलकर गाथा कहती है -

ना तो कोई गुरु कथयो, ना कोई कथयो चेला।।  
नाथाँ रो मेलो वियो, होयो अजब सुमेल।।  
दोई रो मेलो वियो, करण जगत कल्याण।  
एक तो पेलं औतर्या, दूजा औतर्या जाण।।<sup>15</sup>

यह प्रगट अवतार वैसा ही था, जैसा परशुराम और राम का था। दोनों ही विष्णु के अवतार। एक का अवतार पहले हुआ और दूसरे का पश्चात। पहले (परशुराम) का अवतारकाल समाप्त होते ही राम का प्राकट्य हो गया। तब परशुराम ने अपने सभी आयुध

राम को सौंप कर गुरु (महादेव) शरण ले ली। गुफा के बाहर आ गोरख कहते हैं -

आदेसो सदगुरु वियो, चरणा धोको माथ।  
बाहर आ गोरख कहयो, सुणो भरथरी नाथ।।  
थे जाओ थांके मते, मूँ जाऊँ म्हारी गेल।  
गुरु किरपा वेसी जदां, वेसी फेर सुमेल।।<sup>16</sup>

गोरख तो वहाँ गुरु के आदेश से आए थे। इस प्रकार न कोई किसी का गुरु न कोई किसी का शिष्य। दोनों का गुरु महादेव। उन्हीं की आज्ञा से गोरख गुफा में आए और भरथरी को गुफा से बाहर लाकर जगत कल्याणार्थ भेज और स्वयं अपने अभीष्ट मार्ग पर चले गए। इस प्रकार यह गाथा जहाँ भरथरी के युग का गौरवशाली बखान करती हुई मालवा और उज्जैन नगर की भव्यता, सम्पन्नता, श्रेष्ठता और सुराज का बखान करती है, वहीं यह गोरख और भरथरी के गुरु शिष्य होने की गुत्थी भी सुलझाने का प्रयत्न करती है। नाथ सम्प्रदाय के उत्कृष्ट काल में नाथ योगियों ने उस सिद्ध पुरुष को उनका वास्तविक नाम देकर गोरख और भरथरी का योग कर दिया। ऐसा माना जा सकता है। यही सत्य भी लगता है।

मालवा को अपनी राज्य सभा में उत्कृष्टता प्रदान कर जिस श्रेष्ठ एवं विकासवादी युग का प्रारम्भ राजा भर्तृहरि ने किया था। उसे महाराजा विक्रमादित्य एवं फिर महाराजा भोज ने आगे बढ़ाया। राजा भर्तृहरि द्वारा निर्धारित श्रेष्ठतम परम्पराओं का निर्वाह इन दोनों राजाओं ने किया। वस्तुतः भर्तृहरि युग मालवा में एक उत्कृष्टता का प्रारंभ था। जिसे महाराजा विक्रमादित्य एवं महाराजा भोज ने निरन्तर तो किया ही, उन्हें और भी अधिक श्रेष्ठता प्रदान की।

राजयोगी भर्तृहरि अपनी तपस्या के बल पर लोक में यशस्वी हुए और लोक ने सम्मान पूर्वक उन्हें भर्तृहरि से भरथरी बनाकर अपना लिया। वे दोनों रूपों में महान सिद्ध हुए। इनके गीत इनकी यशगाथाएँ और इनकी विरदावलियाँ नाथ योगी गाँव-गाँव जाकर जब गाते हैं, तब उनकी वाणी और सारंगी से सदा यही बोल निकलते हैं -

म्हारी काया में बिराजो ओ राजा भरथरी।  
मेड़ी मेहल सब छोड़्या। बंधन मोह रा तोड़्या।।

जमारो धन्य कर लीयो । गुरां ती जोग ले लीयो ॥  
गुफा में तप क्यो भारी । वाज्या नाथ औतारी ॥  
जुगाँ जुग जस अमर रहसी । यो जोगीजस सदा कहसी ॥  
गामो-गाम जा गासाँ - ओ जोगी भरथरी ।  
म्हारी काया में पधारो ओ जोगी भरथरी ॥<sup>7</sup>

युग बीत गए। युगान्तर हो गए। राजा-योगी भी बीत गए  
किन्तु राजयोगी भरथरी का युग और यश आज भी लोकगायक

बखानते हैं। आज भी भरथरी लोकमन एवं लोक कंठ पर अमर  
बने हुए हैं। वे भविष्य में भी इसी प्रकार योगियों, भोगियों, रागियों,  
वैरागियों और सिद्धों, तापसों के मार्गदर्शक के रूप में सदा स्मरण  
किये जा रहेंगे। वे आदर्श शासक एवं श्रेष्ठ योगी थे। उनका युग  
मालवा में आदर्श युग था। महाराज विक्रमादित्य एवं महाराज भोज  
को उन्होंने सुसंस्कृत एवं सुशासित मालवा का वरदान देकर धन्य  
किया। भरथरी का महान ग्रंथ शतक त्रय आज भी उनकी गौरव  
गरिमा एवं परिपक्व विद्वता के प्रमाण रूप में जाना जाता है।

संदर्भ -

1. भरथरी लोक गाथा - डॉ. पूरन सहगल, पद 2
2. भरथरी लोक गाथा - डॉ. पूरन सहगल, पद 11
3. भरथरी लोक गाथा पद - डॉ. पूरन सहगल, 53-55 तक
4. भरथरी लोक गाथा - डॉ. पूरन सहगल पद, 57 से 80 तक
5. नाथ मत और निर्गुण काव्य, पृष्ठ 42
6. नाथ सम्प्रदाय - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 96  
गोरख बानी - भूमिका, पृष्ठ 30  
नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य, पृष्ठ 106 - डॉ. कोमलसिंह सौलंकी
7. नाथ सम्प्रदाय - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ 97  
एन साक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एपिक्स - जेम्स हेरिटेम्स, भाग 2, पृष्ठ 320  
योग प्रवाह - डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थवाल, पृष्ठ 62  
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डॉ. रामकुमार वर्मा, पृष्ठ 107  
नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य, पृष्ठ 107 - डॉ. कोमलसिंह सौलंकी
8. भरथरी री लोक गाथा - डॉ. पूरन सहगल, पद साखी 12-13
9. भरथरी री लोक गाथा - डॉ. पूरन सहगल, साखी 42-43
10. भरथरी री लोक गाथा - डॉ. पूरन सहगल, साखी 189-190
11. चित्तरंगी नाथ जोगी, सालासर बालाजी जिला-चुरू (राज.)
12. आदि विक्रमादित्य - डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, पृष्ठ 101 परिशिष्ट 5
13. भरथरी री लोक गाथा - डॉ. पूरन सहगल, साखी-पद 441 से 446
14. भरथरी लोक गाथा - डॉ. पूरन सहगल, पद 592 से 594
15. भरथरी की गाथा - पद 448-449
16. भरथरी लोक गाथा - पद 408 से 452 तक
17. सौजन्य - चित्तरंगी नाथ जोगी, सालासर बाला जी।

## जग में अमर जोगी भरथरी

डॉ. श्रीराम परिहार

अन्तर्मन में अनगिनत स्मृति-स्रोत आकार सागर बन गये हैं। उस सिन्धु में शंख-सीपी, मूँगे-प्रवाल, माणिक-मोती कहीं अतल गहराई में और कहीं किनारे छिटके चमक रहे हैं। कितने-कितने बियाबानों की यात्रा करते हुए ये स्मृति-निर्झर अपने गन्तव्य पर एक अनिर्वाच्य विश्राम बनाते हैं। विश्राम की थिर-स्थिति में कभी चाँद-तारे सिन्धु-जल में अपना मुख-झाँकते हैं और कभी सिन्धु अपनी नीलिमा में आकाश हो जाता है। विशाल, विराट और अन्तहीन आकाश। अपने ही मौन में बहुत कुछ कहता। बहुत कुछ गुनगुनाता और बहुत कुछ अपने भीतर के बुदबुद को उद्भूत करता आकाश। पुरुष और प्रकृति की अनन्तताओं की इन रंगयुक्त सीमाओं में सृष्टि की सुन्दर कथाएँ जीवित हैं। उन कथाओं ने उन सिन्धु-नदी के किनारे की वसुन्धरा को हरीतिमा से पुलकित कर दिया है। दूर्बा-दलों की गौ-भूमि पर मानव जीवन के उजले क्षण ओस बूँदों में मुस्कुराते हैं। उन्हीं दूर्बादलों की हरी दरी पर बैठकर एक आदिम पुरुष-नारी पृथ्वी की भागवत-कथा कह-सुन रहे हैं।

अनन्त कथाओं और गाथाओं के चरित्र स्मृति पटल पर तैरते हैं। कई बार बचपन बूढ़ी उम्र के आँगन में लौटकर बरसों-बरस पुराने को ताजा कर जाता है। मैं उस बचपन के साथ उम्र के आँगन में मिट्टी-पानी, पात-बानी के खेल रचाता हूँ। दौड़ता हूँ अपनी ही बीती छायाओं की हँसी को पकड़ने के लिए। खड़ा-खड़ा मौन-स्तब्ध देखता हूँ अनन्त-ज्योतिर्मय चेहरों को। अनायास आँसुओं के अर्घ्य से धो देता हूँ-एक योगी के चरणों को। योगी जो अपने संकल्प में अटल विश्वास से भरा है-मुझे कच्ची नींद में जगा दिया गया है। एक ही मेरी भुजा को थामे मुझे खींचें लिये जा रहा है। यह हाथ शायद से भरा है। नींद है। नींद है। अँधेरा, भादों की घनघोर काली रात का है, इसी अँधेरे को चीरते हुए माँ का स्वर मुझे धकेल रहा है। मुझे आभास होता है कि माँ के साथ मेरे भाई-बहन भी हैं। संभवतः पड़ोस के लोग भी। गाँव की धूलभरी, कीचड़सनी गलियों से हम चले जा रहे हैं। दूर कहीं से आती मृदंग की थाप अँधेरे के

गाल पर रह-रह चपत लगाती है। कानों के पर्दों पर ताल-नृत्य का उत्सव घुमरने लगता है। उसी के खींचाव में हमारे पाँव अचानक तेज हो जाते हैं। गली का मोड़ पार करते ही गाँव की चौपाल वाले मैदान में एक तेज रोशनी अँधेरे के समुद्र में आकाशदीप की तरह चमकती है।

मेरी आँखें फक हो जाती हैं। हम रोशनी में पहुँच जाते हैं। खम्भ गड़ा हुआ है। एक स्वाँग चल रहा है। स्वाँग में एक राजा है। वह शिकार करने वन में जाता है। वन में हिरणों का झुण्ड है। एक हिरण है। हिरण झुण्ड में है। झुण्ड के बीच में है। राजा हिरण को मारना चाहता है। हिरणी कहती है-मुझे मार डालो, कृष्ण मृग को छोड़ दो। राजा कहता है-वह स्त्री का शिकार नहीं करता। वह हिरण को ही मारेगा। एक बाण, दो बाण, तीसरे बाण में हिरण का वध हो जाता है। हिरण मर जाता है, हिरणी उसे शाप दे देती है। जैसे तूने हमसे हमारे हिरण को छीना है। मारा है। जैसे तू भी अपनी पत्नी से अलग हो जाएगा। जैसे मैं हिरण के वियोग में तड़प रही हूँ वैसी तेरी रानी भी तेरे वियोग में तड़पेगी। जा अगले जन्म में तू भी हिरण बनेगा और इसी तरह किसी शिकारी के बाण से तुझे वेधा जाएगा।

राजा हिरण का वध तो कर देता है, परन्तु वह उदास है। हिरण को मारने का अपराध उसे अनुभव होता है। हिरणी के शाप की वेदना और हिरण के मरण की पीड़ा उसे बेचैन करती है। वह राजभवन में आता है। कोई उत्सव नहीं। उछाह नहीं। सब कहीं चुप्पी है। सन्नाटा है। रानी पूछती है-स्वामी। उदास क्यों हैं? माता पूछती है-बेटा! कौन चिन्ता तुझे सता रही है? राजा माता को अपने दुःख का कारण बताता है। वह व्याकुल है-कि शाप कैसे छूटे? पाप शमन कैसे हो? माता भरथरी को कहती है-जिनके वरदान से तू पैदा हुआ है, उन्हीं गोरखनाथ की शरण में जा। वही तुझे इस पाप-दुःख से मुक्ति दिलाएँगे। राजा भरथरी राजमहल से हवा के तेज झोंके की तरह निकल जाता है। रानी पुकारती है। रोकती है। रोती है। बिलखती है। राजा नहीं सुनता है। भरथरी रुकता नहीं है। वह चला जा रहा है। गिरि, गुफा, गह्वर पार करता हुआ। वनान्तों को पीछे छोड़ता हुआ। वह घनघोर संकल्प की तरह चला जा रहा है। एक रमणीक स्थल आता है। नदी है। छायादार वृक्ष हैं। वृक्षों में फल हैं। वृक्षों की छाया में गाय और सिंह साथ बैठे हैं। वृक्षों के झुरमुट के पार एक योगी समाधिस्थ

है। धूनी सुलग रही है। चिमटा गड़ा हुआ है योगी के चेहरे पर शांति-कांति है। भरथरी सामने जा खड़ा होता है। झुकता है। दंडवत करता है। नयनों से अश्रुधारा झरती है।

गुरु गोरख पूछते हैं-बच्चा क्यों रोता है? किन कारणों से तू मुझ तक आया है। तेरे वस्त्र राजसी हैं। तेरे स्कंध वीर के हैं। तेरा भाल उन्नत है। उदास क्यों है? चिन्ता का कारण क्या है? भरथरी अपनी दुःख कथा का तरकश खाली कर देता है। कहता है-मुझसे पाप हुआ। मैंने कृष्ण मृग का वध किया है। मुझे हिरणी ने शाप दिया है। प्रभु इस मृग को जिन्दा कर दो। गुरु गोरख विनती सुन चुटकी भर भभूत लेते हैं और मृग के मुख में डालते हैं, मृग जीवित होकर कुलाचें भरता हुआ मृगी के पास चला जाता है। गुरु गोरखनाथ की सिद्धि से भरथरी भाव-विह्वल हो जाता है। विनती करता है-मुझे चेला बना लो। मैं जोगी बनना चाहता हूँ। पाप-शाप-दुःख से मुझे मुक्त करो।

*ज्ञान गुरु का लगी गया,  
बोल्या ते राजकुमार,  
चेला बणई लेओ आपणा  
सेवा करूँगा दिनरात  
कळू म अमर राजा भरथरी।*

गुरु गोरखनाथ अपनी साधना की शीतलता को दृष्टि में आँजकर भरथरी को देखते हैं। कहते हैं-राजा, जोगी बनना सहज नहीं है। तुम जाओ। राज करो। योग का मार्ग कठिन है। भरथरी गुरु गोरखनाथ के चरणों में सिर रख देता है। उठाये नहीं उठता। प्रार्थना करता है जब तक अपना शिष्य नहीं बना लोगे, चरणों में लोटता रहूँगा। गोरखनाथ उसे प्रबोधते हैं। समझाते हैं। भरथरी तब अपनी इच्छा से टस से मस नहीं होता। गोरखनाथ कहते हैं-शिष्य बनने के लिए, योग करने के लिए, जोगी बनने के लिए माया को त्यागना होगा। मोह का नाश करना होगा। यदि तुम वापस अपने राज्य में जाओ। राजमहल के द्वार पर जोगी बनकर खड़े होकर अपनी रानी को माता कहकर पुकारो और उससे भिक्षा लेकर आओ, तो तुम्हें शिष्य बना लूँगा।

*बोले तो बाबा गोरखनाथ जी,  
जो थारी मंशा जोग की,  
मानो ते वचन हमार,*

कळू म अमर राजा भरथरी,  
 सिर का हो चीर उतारी ख  
 डालो खवास का हाथ,  
 डालो ब्राहमण का हाथ,  
 अंग का जामा फाड़ी ख  
 कछनी लेओ डलवाय,  
 हाथ खप्पड़ पाँव पावड़ी  
 अंग म भस्मी रमाय,  
 पहुँची जा आपणा महल म,  
 राणी स भिक्षा लाव,  
 पुत्र कही भिक्षा डाल दे,  
 जोग अमर हुई जाय,  
 कळू अमर राजा भरथरी।

भरथरी ऐसा ही करता है। जोगी का वेश धारण करता है। राजमहल के द्वार पर जाकर पुकारता है- माता! भिक्षां देहि। रानी दासी को भिक्षा देने हेतु भेजती है। भरथरी भिक्षा नहीं लेता। कहता है रानी स्वयं आकर भिक्षा दे। पुनः पुकारता है- माता! भिक्षा दो। रानी मोतियन थाल भरकर लाती है। द्वार पर जोगी रूप में भरथरी को देखकर मूर्च्छित हो गिर पड़ती है। भरथरी शांत है। अविचलित है। वह खड़ा-खड़ा पुकारता है-माता! भिक्षा दो।

लोकनाट्य के उस स्वांग की कथा में भरथरी के पास लौटते हैं। भिक्षा नहीं मिली। प्रयास अधूरा रहा। एक स्वप्न पूरा होने के पहले ही भंग हो जाता है। गोरखनाथ अपने प्रकल्प पर दृढ़ हैं। पत्नी को माता कहकर भिक्षा माँगकर और पत्नी भरथरी को पुत्र कहकर तब तक भिक्षा नहीं दे देगी, भरथरी को शिष्यत्व प्राप्त नहीं होगा। भरथरी गुहारता है-माता! भिक्षा दो। जोगी को भिक्षा दो। रानी अवाक है। वह बिलखती है। वह भरथरी को जोगी बनने से बरजती है। राज-पाट की याद दिलाती है। अपने सुहाग की दुहाई देती है। वह कहती है-योग के सारे साधन मैं यहीं जुटा देती हूँ।

सुन राजा महाराज,  
 खड़िया बणाऊँ चंपा बाग म,  
 चंनन चौकी बणवाऊँगी,  
 जड़वाऊँगी हीरा लाल,

केसर धूनी रमाऊँगी,  
 सेवा करूँगी दिनरात,  
 कळू म अमर राजा भरथरी।

भरथरी पर कुछ असर नहीं है। भरथरी की माता रानी को समझाती है। भरथरी ने योग साधा है। उसी में उसका कल्याण है। उसके कल्याण में ही तुम्हारा कल्याण है। इसलिए हे बेटी! तू भरथरी को पुत्र कहकर भिक्षा दे, ताकि उसका संकल्प पूरा हो सके। उसका योग मुस्कुरा सके। रानी भरथरी को रोकने की अंतिम युक्ति साधते हुए कहती है-

बोली तो राणी सामदेही  
 चौसर खेलो म्हारा साथ,  
 हारूँ तो चलूँ तुम्हारा संग म,  
 जीतूँ राखूँ बिलमाय,  
 कळू म अमर राजा भरथरी।

भरथरी रानी की शर्त स्वीकारते हैं। चौसर खेली जाती है। रानी पासा फेंकती है। सोलह अंक आते हैं। भरथरी फेंकते हैं। पूरे पच्चीस अंक आते हैं। भरथरी उठ खड़े हो कहते हैं-माता! भिक्षा दो। पुत्र कहकर भिक्षा दो। मेरा जोग अमर हो जाए।

रानी सामदेही मोतियन थाल भरती हैं। साल दुशाला रखती है। भरथरी को पुत्र कहकर भिक्षा देती है। और पछाड़ खाकर गिर जाती है। भरथरी गुरु गोरखनाथ के पास चले जाते हैं। गुरु गोरखनाथ उन्हें आशीर्वाद देकर जोगी बना देते हैं। एक अमर कथा भादों के अँधेरे आकाश में ध्रुव बनकर चमकती है।

मैं अबोध दृष्टि से स्तब्ध देख रहा हूँ। मैंने महसूस किया मुझसे सटकर बैठी मेरी माँ धार-धार होकर रो रही है। सारे लोग सिसकियाँ भर रहे हैं। पूरे खम्भ परिसर में विषाद छा गया है। रात गलने लगी और अँधेरा भयावह हो उठा है। मृदंग बंद है। खम्भ में नाचने वाले के पाँव स्थिर हो गये हैं। जो जहाँ है, वह वहाँ थम गया है। मस्तिष्क में एक विषाद, नदी पूर आ गयी है। सारे तटबन्ध टूटने से लगे हैं। कुछ देर बाद बाढ़ का पानी उतरता है। किनारों पर स्मृति-खण्ड छूट जाते हैं। एक अमिट छाप भरथरी की कथा जिन्दगी के पन्नों पर छाप जाती है।

भरथरी की कथा का निमाड़ी लोकनाट्य एवं कलाओं में

वही स्थान है, जो राजा हरिश्चन्द्र, राजा गोपीचंद्र, राजा मोरध्वज, राजा नल की कथा का है। मेरे मानस पर उस रात की अँधियारी में मंचित इस कथा का जो गहरा प्रभाव पड़ा, उससे पूरा नाथ पंथ और उसकी योग साधना की एक लम्बी और भक्ति के मूल में स्थित परम्परा स्पष्ट होती चली गयी। बचपन की वह स्वाँग कथा, समझ-उमर में भारतीय भक्ति परम्परा की शास्त्रीय और भारतीय आस्था, विश्वास और त्याग की लोक परम्परा के चिन्तन केन्द्र में बैठ गयी। इसी कथा को मैंने भजन गायकों की मण्डली में गौरव-गाथा की तरह सुना। इसी कथा को हरबोलों के मुख से सूरज की पहली किरण के साथ ही द्वार पर फूटते हुए पाया। इसी कथा को नाथों की सिंगी और तम्बूरे में बजते हुए सुना। इसी कथा को गाँव-घरों की भित्ति-चित्र श्रृंखला में रेखांकित पाया। इसी कथा को बूढ़े दादा की कथा-वार्ताओं में गर्मी की रातों में खुले आँगन-चौगानों में बिछी खाटों पर कभी सिसकियाँ भरते हुए और कभी आश्चर्य से फटी आँखों में धँसते हुए अनुभव किया। कभी सैकड़ों राजाओं में से भरथरी जैसे कुछेक राजाओं को त्याग-योग के साधक के रूप में भारतवर्ष का गौरव गान सिद्ध करते हुए पाया है। लोक ने समवेत स्वर से गाया-कल्लु म अमर राजा भरथरी।

भरथरी की कथा मालवा, निमाड़, छत्तीसगढ़ में लोक की अन्तः तहों तक ऊर्जा जल-सी भरी हुई है। मध्यप्रदेश की अन्य बोलियों-क्षेत्रों में भी इसका प्रभाव हो सकता है। धुर दक्षिण में भी इसके सूत्र फैले हो सकते हैं। क्योंकि नाथ पंथ का प्रभाव पंजाब से लेकर बंगाल तक और दक्षिण में विशेषकर गोरखनाथ का प्रभाव महाराष्ट्र-कर्नाटक तक आज भी बहुत गहरा है। निमाड़ी लोक में जो भरथरी गाथा है, प्रकारान्तर या थोड़े बहुत अन्तर से अन्य बोली-भाषा में भी है। निमाड़ी भरथरी गाथा में जादू-टोना का वृत्तांत नहीं है। जबकि नंदकिशोर तिवारी द्वारा संकलित और अनूदित छत्तीसगढ़ भाषा के 'भरथरी' में जादू-टोना का स्थान है। वह प्रभाव बंगाल के कारण ही है। बंगाल तंत्र-साधना की भूमि रही है। असम का कामरूप क्षेत्र इसका आदि स्थल था। वहाँ पुरुषों को नाना रूपों में परिवर्तित करके स्त्रियाँ अपने बंधन में कर लेती थीं। प्रतीकार्थ यही हो सकता है कि उस क्षेत्र की स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य और वासना की पाश में जकड़कर पुरुषों को एक तरह से पशु-पक्षी की स्थिति में कर डालती थी। विवश और

बन्धनयुक्त। इसीलिए उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की स्त्री अपने पति को पूर्व दिशा बंगाल में जानै के लिए बरजती थी। बंगाल के लिए निमाड़ी क्षेत्र में 'काहूर बंगालो' संबोधन चलता था। 'काहूर' संभवतः कामरूप से ही बना हो।

लोक मानस में भरथरी की स्वीकृति नीति, श्रृंगार और वैराग्य की ही है। परन्तु भरथरी के वैराग्य शतक की बातें लोक में उतनी व्याप्त नहीं हैं, जितनी कि भरथरी की चरित्रवाली। भरथरी का चरित्र है लोक के पास। समूचा जीवन है उसके सामने। भारतीय लोक की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह उपदेश में उतना विश्वास नहीं करता, उपदेश पर उतना नहीं रीझता, जितना कि आचरण पर, सद्चरित्र पर। राम और कृष्ण भारतीय मानस में इतने गहरे इसलिए पैठे हैं, क्योंकि उन्होंने किसी टीले या चबूतरे या मंच पर खड़े होकर उपदेश नहीं दिया, बल्कि सम्पूर्ण जीवन को उपदेश की क्रियान्विति के रूप में जीकर बता दिया। इसलिए कहने से अधिक महत्त्वपूर्ण है करना। पूरा कर्म आधारित भरोसे का संसार है लोक के पास जो अनुभव की बोली बोलता है। निमाड़ में संत सिंगाजी ने जिसे गाया कि- कोई पुण्य-पुरबलो जागऽ, तब अनभै मारग लागऽ। यह अनभै पंथ कबीर का भी है। राजा भरथरी ने जोग लिया, राज त्यागा, मृग को मारने का दुःख अनुभव किया, गोरखनाथ को गुरु बनाया, अपने संकल्प को साधा, इन सबका सीधा और पारदर्शी प्रभाव लोक में है।

भरथरी की कथा में से भारतीय लोक ने जिन विश्वासों को ग्रहण किया उनमें सर्वाधिक प्रभावी हैं-पुनर्जन्म में विश्वास। भरथरी की कथा के महत्त्वपूर्ण मोड़ ही पुनर्जन्म की कथाओं से नये दिशा-सूत्र ग्रहण करते हैं। जिस मृग का भरथरी शिकार करते हैं, वह पूर्व जन्म में ऋषि था, मृगियाँ थी ऋषि-शिष्याएँ। भरथरी का विवाह, विवाह के बाद रानी से समागम की पहली ही रात सोने के पलंग का टूटना, रानी का मुख-मण्डल मुस्कान से भर जाना, भरथरी का विचलित होना, भरथरी का एक प्रश्न के उत्तर में एक ही जीव के कई योनियों में जन्म लेने वाली आत्मा के पास जाना- 'क्यूँ टूट्यो सोना को पलंग, क्यूँ आयी का मुख प हँसी'? भरथरी का उत्तर की तलाश में अपनी साली रामदेही के पास जाना, रामदेही का देह त्याग और अगले जन्मों में तोता, कुत्ती, कौआ, गाय, बिह्ली और सातवें जन्म में गढ़नरौला में उसका कन्या रूप में



जन्म लेना आदि प्रसंग पुनर्जन्म की अवधारणा की पुष्टि के ही प्रसार हैं। वह रूपदेही नामक कन्या अपने विवाह के अवसर पर भरथरी को पलंग के टूटने का रहस्य बताती है। रहस्य है—जो रूपदेही का पति है, वह पूर्व जन्म में भरथरी की माँ थी। यही कारण है—‘इन्हीं कारण टूट्यो सोना को पलंग, राणी का मुख प आयी हँसी।’

लोक में सात का अंक भी विशिष्ट है। सात जनम, सात फेरे, सात वचन, सात भाई की एक बहन, सात समुन्द्र, सतखण्डी, सात दरवाजे का किला आदि। भरथरी की कथा में पुनर्जन्म में यह सात का अंक महत्ता के साथ है। एक बात और है कि पुनर्जन्म यह सिद्ध करता है कि वर्तमान जीवन के रिश्ते ही अंतिम सत्य नहीं हैं। जिसे हम पत्नी समझते हैं, वह माता भी हो सकती है। लोक भरथरी की कथा से निष्कर्ष निचोड़ता है कि भोग की बिखरी संपदा के बीच भी जो योगी बनकर जीता है, वह श्रेष्ठ है। जो मोह को जीतकर अपने जीवन का उत्सर्ग खोज लेता उसका जीवन—पथ हमारे लिए भी अनुकरणीय है। सत्य आत्मा है। शेष सांसारिक हैं। उन नाते—रिश्तों में बैठा मोहपाश है। वह भ्रम है। वह संभ्रम पैदा कर वास्तव रूप को ढँक देता है। लेकिन गुरु गोरखनाथ जैसे नाथ की त्रिकाल भेदक दृष्टि असल रूप को उजागर कर देती है। भरथरी को लोक ने राजा के रूप में अपने सिर—आँखों पर नहीं बैठाया, लेकिन भरथरी का जोगी रूप, नाथ स्वरूप और वैरागी वेश लोक के मन में बस गया है। लोक ने राजा की बंदगी की है, लेकिन जोगी की पूजा की है।

भरथरी के चरित्र का करुणाद्र तत्त्व लोक को बहुत भाया। भरथरी की करुणा मृग के वध से उपजती है, हालाँकि उसके पीछे मृगी का शाप और भरथरी के स्वचिन्तन से उपजे भविष्य के प्रश्नों की पृष्ठभूमि है। लेकिन इससे जीव हिंसा के प्रति विरक्ति और जीव मात्र की सृष्टि में महत्ता रेखांकित होती है। यहाँ पर्यावरण संतुलन नीति और दया का वेश धारण कर आया है। एक बात और है जिसे केवल लोक ने अनुभव किया है— वह है मानवेत्तर सृष्टि की भाषा। लोक में समाहित भरथरी आदि की पौराणिक तथा परम्परा प्रसूत जातीय स्मृतियों द्वारा पोषित—पालित कथाओं में प्रत्येक जीव—जंतु—तृण—गुल्म—लता—तरु—वाचा सहित है। उनकी अपनी अनुभूतियाँ उसी स्तर की हैं, जिस स्तर की मानवीय

अनुभूतियाँ। उनकी वाचा शक्ति उतनी ही प्रबल और प्रभावी है, जितनी कि मनुष्य या ऋषि या देवता की। लोक में चींटों भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है और जीने की अधिकारी है, जितना हाथी या सिंह या मनुष्य। सहअस्तित्व की यह रोशनी लोक को अपनी प्रकृति—सान्निध्य जीवन—विधि से प्राप्त हुई है।

लोक की अभिव्यंजना शक्ति अद्भुत है। लोक—भाषा की प्रतीकार्थकता उसकी बड़ी ताकत है। लोक अधिकार प्रतीकों में बात करता है। लोकोक्तियों की सम्पदा का रक्षण इन्हीं अर्थों में आज जरूरी हो गया है। भरथरी की कथा में सोने के पलंग का टूटना, रानी का हँसना, महल चौबारे, भरथरी का जोगी बनना, हठयोग साधना की शब्दावली आदि—आदि प्रसंगों की शक्ति प्रतीक रूप में लोक ने ग्रहण की है। महल—चौबारे सच तो दिखते हैं नहीं। पलंग का टूटना मोह का भंग होना है। रानी का हँसना सांसारिक रिश्तों के आवरण को भेदकर वास्तव को जान लेना। भरथरी का जोगी बनना जीवन का लक्ष्य स्पष्ट होकर, आत्म स्वरूप को पा लेना है। भरथरी अपने परम वैराग्य के माध्यम से जीवन का सत्य उद्घाषित करते हैं। वह सत्य ही लोक का प्रेय है। लोक ने उस सत्य का न केवल सम्मान किया, बल्कि भोग में योग की युति भी जीवन में कायम की। राजा भरथरी नहीं; जोगी भरथरी अमर है। जग में अमर जोगी भरथरी।

## आचमन करते उषा की ज्योति से

राजा भोज धार नगरी के थे। उज्जैन भी उनके राजकाल में गौरव पा सका है। भोजपाल ( भोपाल ) उन्हीं का बनाया हुआ है। आज के भवन का नक्शा बनाते हैं। नक्शे के आधार पर मकान बनाना शुरू करते हैं, और बनते—बनते पूरा होते—होते मकान और नक्शे में अनेक जगह कई—कई अंतर आ जाते हैं। इसे वास्तुविद् की ना समझी कहें या उदासीनता? राजा भोज ने नगर स्थापत्य सम्बन्धी एक विशाल ग्रंथ ‘समरांगणसूत्रधार’ लिखा। इसी ग्रंथ के आधार पर भारतवर्ष की धरती पर सुन्दर—स्वच्छ नगर बसाये। नगर सभ्यता समृद्ध हुई। एक राजा के भीतर स्थित वास्तुविद् ने विश्व के समक्ष नगर स्थापत्य को साकार किया। राजा केवल सेना और सिंहासन से ही सज्जित होता है, यह बात नहीं, कला—साहित्य का आलोक उसे कितना मण्डित कर रहा है, यह भी गुणन योग्य है।

कला जीवन-सत्य की खोज है। कला की साधना जब राजा के वैभव से विभूषित व्यक्तित्व के द्वारा होती है, तो उस व्यक्तित्व के आत्म-विस्तार की प्रेरणाओं का अनुमान किया जा सकता है। कला संवेदना की अनुग्रही और आग्रही होती है। कला साधक में संवेदना का विस्तार जितना गहरा होगा, जीवन-सत्यों के साक्षात्कार करने में वह उतना ही सक्षम होगा। राजा भोज का राजत्व राजतंत्र, कला-साधना और साहित्य-सर्जन के माध्यम से अखण्ड भारत में एकल के अन्तर्यामी सूत्र प्रबल करता है। यह कार्य केवल राजलिप्सा से संभव नहीं है, इसके लिए अद्रोह की स्थिति और संप्रीति का भाव करता है। यह ही न्यायपूर्ण है। राजा भोज ने संस्कृति के लोकहितकारी तत्त्व को हृदयंगम् कर उसके सूक्ष्म-स्थूल, मन और कर्म, अध्यात्म जीवन और लोकजीवन के कल्याण के मार्ग का शोधन और स्थापन किया।

भारतीय चिन्तनधारा और जीवनविधि ने राष्ट्र को संचालित करने और समृद्ध बनाने वाली केन्द्रीय इकाइयों को उसकी चरम पूर्णता में ही सार्थक माना। राजा के गुण-धर्म को मुख की उपमा से विभूषित करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा- 'मुखिया मुख सो चाहिए, खान-पान को एक' पालै पौषे सकल अंग, तुलसी सहित विवेक।' संत तुलसीदास ने पृथु, दाधीचि, इक्ष्वाकु, अज, श्रीरामचन्द्र, भोज, अशोक आदि राजाओं के सुशासन की स्वस्थता और समदर्शिता को ध्यान में रखकर ही यह उद्घोष किया होगा। राजा भोज की व्यक्ति, समाज और राज्य सुपोषी कला-संस्कृति, समावेशी आलोकमय सत्ता का अध्ययन राजा पृथु की गुण-सत्ता का स्मरण करा देता है। श्रीमद्भागवत महापुराण के चतुर्थ स्कन्ध, अध्याय सोलह के श्लोक एक से दस तक जो गुण पृथु के बताये हैं, वे गुण भोज के हैं। उनमें से एक दो का उल्लेख इस प्रकार है-

'ये धर्मधारियों में श्रेष्ठ महाराज पृथु लोक को धर्म में प्रवृत्त करके धर्म मर्यादा की रक्षा करेंगे तथा उसके विरोधियों को दण्ड देंगे। ये अकेले ही समय-समय पर प्रजा के पालन-पोषण और अनुरंजन आदि कार्य के अनुसार अपने शरीर में भिन्न-भिन्न लोकपालों की मूर्ति धारण करेंगे तथा यज्ञ आदि के प्रकार द्वारा स्वर्गलोक और वृद्धि की व्यवस्था द्वारा भू-लोक दोनों का ही हित साधन करेंगे।'

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोक धर्मेऽनुवर्तयन।  
गोसा च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम्॥  
एष वै लोकपालानां विभर्त्येकस्तनौ तनूः  
काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम्॥

राजा भोज की सत्ता और नीतिज्ञता का प्राण तत्त्व धर्म ही था। भारतीयता के राष्ट्र-चिन्तन सम्बन्धी आयाम चाहे विविधमुखी और विविध विषोन्मुखी क्यों न हों, उनका केन्द्र धर्म है। राजा भोज का चरित्र और धर्माचरण दूध-मिश्री की तरह उजला और मधुर इसलिए बन पड़ा कि वे जीवन का उद्देश्य समझ सके थे। राजा और प्रजा के निहितार्थ शिव संकल्पित हों, यह जान सके थे। राजा के कार्यों से ज्ञान, कला, साहित्य, संस्कृति पुष्ट होकर राष्ट्र को आलोकित और आभावान करे, यह मान सके थे। भोज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ग्रन्थ साहित्य-कला का ग्रंथ होने के परे नीति और धर्म की भी गहरी प्रदर्शना कराने वाला है। राष्ट्र के केन्द्र में जन है। राष्ट्र का, विशेषकर भारत राष्ट्र का प्राण धर्म है। राजा और राजनीति उसकी एक अंग और धड़कन विशेष है। धर्म-चिन्तन से विलग होकर राष्ट्र-चिन्तन काम्य नहीं हो सकता।

राम के चरित्र की व्याख्या करने वाले महर्षि वाल्मीकि धर्म और चरित्र को एकरूप करके देखते हैं। उन्होंने श्रीरामचन्द्र को धर्म की दैहिक प्रतिमा, प्राणवान विग्रह के रूप में अनुभव किया और कहा-'रामो विग्रहवान धर्मः।' (अरण्यकाण्ड) वे राम को धर्मज्ञ, घनिष्ठ, धर्मभृतां आदि-आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं। राम ने अपने कार्यों से पृथ्वी पर जन अनुरंजनी लोककल्याणी लोक-तांत्रिक राजसत्ता स्थापित की। प्रजा में सकारात्मक वैचारिक क्षमता राष्ट्र में प्रसारित शाश्वत सरणियों से संभव हो पाता है। राजा भोज ने धारा नगरी में न केवल वाग्देवी सरस्वती का महामंदिर निर्मित किया, पूरे राष्ट्र में सारस्वत वातावरण का भी प्रवर्तन किया। महर्षि वेदव्यास ने धर्म के मर्म तक पहुँचकर जो व्याख्या दी, वह एकदम नवीन और शिवत्व-साधक है। धर्म को कर्मकाण्ड से सर्वथा विलग करते हुए, उसे स्वर्ग प्राप्ति का साधन मात्र नहीं समझते। वे धर्म का नया स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-'नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः' (उद्योग पर्व) व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक सबको धारण करने वाले जो शाश्वत नियम है, वे धर्म हैं। धर्म का वास्तविक स्वरूप स्वर्ग से भी उच्च है। लोक स्थिति का सनातन



बीज धर्म है। संभवतः राजा भोज जैसे गुणी और सनातन धर्मी व्यक्तित्व ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को भलीभाँति पहचान लिया था। इसीलिए वे जय-पराजय, सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति को समभाव से अनुभव करते हुए कर्म प्रकाश से राज सिंहासन को सार्थक करते रहे। धर्म सम्मत कार्य से जीवन में प्रकाश आता है और मनुष्य में देवत्व प्रकाशित होता है। देवत्व का आवाहन राजा भोज ने लोकभूमि पर जन के बीच लोकधर्म और राजधर्म में समन्वय स्थापित करते हुए किया। बल्कि राजधर्म की निष्पत्ति लोकधर्म से कर दिखाई। इसीलिए राजा भोज का चरित्र आदर्श राजा के मानदण्ड की तरह सुस्थित है।

नीतिज्ञ चाणक्य कहते हैं-‘बुद्धि ईश्वर का वरदान है, इसका उपयोग पूरी ईमानदारी से करना चाहिए।’ राजा भोज ईश्वर से बुद्धि का वरदान लेकर आये तो उन्होंने उसे संसृष्टि के प्रतिमानों की पहचान और अपने लोक राज्य में उनकी स्थापना के संदर्भों में सार्थक किया। उन्होंने पाया कि पृथ्वी सत्य द्वारा ही धारित है। शब्द धारित है आकाश से। तेज धारित है सूर्य से। निसर्ग की परिचालन शक्ति ऋत् से ही धारित हैं। उन्होंने अपनी बुद्धि का उपयोग जय-विजय, यश-कीर्ति, कला-साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, विद्या-प्रज्ञान आदि के वैभव सम्पादन में करते हुए अपनी रत्नगर्भा प्रार्थनाओं में अमरता की शुभतर आकांक्षा प्रकट की हैं। ऐसी विजयश्री की आकांक्षा की, जिसमें सभी शासक और शासित प्रेमपूर्वक रह सकें।

परिणाम में राजा भोज सत्ता के रथ पर बैठकर भी सांस्कृतिक परम्परा से जुड़ने के संकल्प को साधे रहे। वे जानते थे कि इस महादेश की संस्कृति से कटकर सत्ता के रथ को बहुत दूर तक नहीं ले जाया जा सकता और न ही इस पर बहुत देर तक बैठा जा सकता है। इस रथ से नीचे भी राजा को देखना होता है। भोज देख सके थे। वे उस सत्ता रथ पर बैठे-बैठे भी श्लथ भारतीय तन और उदास मन को देख सके थे। वे गाँवों की आँखों के आतुर सपनों की मूक भाषा पढ़-सुन सके थे। गाँव की उड़ती हुई धूल को गुलाल-सा अर्थ दे सके। चिलचिलाती धूप में पसीना बहाती बूढ़ी-कर्मनिष्ठ संस्कृति धारा-सी प्रवाहित जिन्दगियाँ देख सके थे। जीवन का सत्य कितना कठोर और संवेदना कितनी कोमल

होती है, इसका विकल्प ढूँढ सके थे। इसीलिए वे अपने सुशासन में दूधिया आकाशगंगाओं का प्राकट्य अपने राज्य में कर सके थे। वे सांस्कृतिक उजाले के आवाहन में अँधेरे के सन्नाटे को निरंतर तोड़ते रहे। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय की पंक्तियाँ याद आती हैं-‘ऋषियों की अस्थियों से भी। सुरगण केवल अस्त्र ही बना पाए। क्यों नहीं उनसे खाद बनी/जो अकाल अनावृष्टि में/रसा वसुन्धरा को फलवती बनाए जो लोक-जन के काम आए?’

सत्ता और संस्कृति दोनों का नीति सम्मत संरक्षण करने वाले भूपाल इतिहास में बिरले हैं। राजा भोज गुणी और गुणग्राहक दोनों थे। कवियों, शास्त्रज्ञों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, संतों और किसानों के आश्रयदाता तो थे ही, स्वयं राजवीर होते हुए कवि और अनेक विषयों के ज्ञाता थे। अनेक विषयों के ग्रंथों के रचयिता थे। आश्चर्य होता है हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और महोदधि से रत्नाकर सागर तक साम्राज्य का अधिपति राजा भोज कवि-धर्म और युद्ध-कौशल में एक साथ किस तरह प्रवीण थे। ज्ञातव्य है कि उनके 108 गीत प्रबन्ध और 85 विविध अनुशासनों पर लिखे ग्रंथ हैं। शब्द, अलंकार, दैवज्ञ, तर्कशास्त्र, चिकित्सा, राजसिद्धान्त, तरु, वास्तु, उदय, शकुन, अंक, अध्यात्म, स्वप्न, सामुदायिक, निमित्त, व्याख्यान, प्रश्नचूड़ामणि, निवृत्ति, अर्थशास्त्र, मेघमाला आदि का अध्यापन उनके समय की शिक्षा में होता था। ज्योतिष, आयुर्वेद, स्थापत्य, संगीत, मौसम विज्ञान आदि सब पर गहरा ज्ञान रखने वाले राजा भोज जनसेवक की तरह राज्य करते रहे। वे राज-धर्म करते रहे। भोज से भोजराज और भूपाल बनते चले गये।

कर्म जीवन का प्रमुख संस्कार है। सचेतन इच्छाशक्ति की गतिमानता जब जन-जन की सेवा का संस्कार धारण कर विराट राष्ट्रप्रतिमा की आराधना में स्वयं को समर्पित कर देती है, तो सुफल में राजा भोज जैसा संदल-जीवन महमह होता है। बिना वास्तविक ज्ञान-सत्य की प्राप्ति के संभव नहीं है। राजा भोज ने लोक-सेवा में ईश्वर-सेवा का अनुभव करते हुए कला-साहित्य, संस्कृति के उत्कर्ष में राष्ट्रधर्म की संप्रतीति की थी। इस भाव से किया गया प्रत्येक कर्म ज्ञान में ही संपुटित होता जाता है। गीता का कथन है-‘सर्व कर्माखिलं ज्ञाने परिसमाप्यते।’

## लोकसंस्कृति: वैश्विक परिदृश्य

धर्मेन्द्र पारे

विगत पचास-साठ वर्षों के हिन्दी साहित्य की बहुरंगी विधाओं और किस्म-किस्म की धाराओं के मूल्यांकन की जब बात आती है, तो प्रायः कोई सार्थक धरातल नजर नहीं आते। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम और उनमें पढ़ाई जा रही ज्यादातर विधाएँ देश की आजादी के समय तक या बहुत हुआ तो उसके बाद के दस-बारह सालों तक की सामग्री को अपने में समेटकर मंद-मंद होकर ठिठकने लगती हैं। हिन्दी साहित्य के ज्यादातर इतिहास यहीं आकर रुक से जाते हैं। राज्यों के प्रयास एक ही जगह कदमताल करते दिखते हैं। जबकि पचास वर्ष अर्थात् आधी सदी मूल्यांकन के लिए पर्याप्त होती है।

विगत पचास साल और उसमें भी खासकर पिछले पच्चीस-तीस सालों में देश-दुनिया में जितने- जैसे और जिस गति के परिवर्तन आये हैं, उसने पिछले सैकड़ों वर्षों के परिवर्तन और गति को बहुत पीछे छोड़ दिया है। ये परिवर्तन भौतिक सुख-सुविधा के मामले में जहाँ सुखद प्रतीत होते हैं, वहीं इन परिवर्तनों ने दुनिया को पूरी तरह पूंजी पर निर्भर दुनिया, मात्र अर्थ केन्द्रित दुनिया में बदल डाला है। इस समय विश्वभर में कुल छः अरब से अधिक मोबाईल उपभोक्ता हैं।<sup>1</sup> अकेले भारत में इसमें छियानवे करोड़ से अधिक उपभोक्ता हैं। भारत की कुल जनसंख्या में से लगभग अस्सी प्रतिशत मोबाईल धारी है इंटरनेट उपयोग के मामले में भारत का क्रम तीसरा है।<sup>2</sup> भारत मोटर व्हीकल उत्पाद के मामले में अपना स्थान पाँचवा रखता है। विश्व भर में ट्रेक्टर निर्माण में भारत कुल एक तिहाई का निर्माण अपने यहाँ करता है।<sup>3</sup> भारत में 2001 तक इससठ प्रतिशत जनता साक्षर हो चुकी थी। विश्वभर में अभी लगभग 6000 से 7000 के बीच भाषाएँ बोली जाती हैं। सन् 2100 तक इनमें से पचास से नब्बे प्रतिशत भाषाओं के विलुप्त होने का खतरा है। सर्वाधिक बीस भाषाओं को विश्व की 50 प्रतिशत आबादी बोलती है। जबकि शेष को बोलने वाले समुदायों की संख्या बहुत कम है। कई भाषाओं को बोलने वाले तो दस हजार से भी कम बचे हैं।<sup>4</sup> इन सब आकड़ों को दोहराने का कारण यह है कि दुनिया अब पहले की

तरह मंथर नहीं है। सारी चीजों की चूले हिल चुकी हैं। इन हिलती हुई चूलों के बीच ही हमें लोकसंस्कृति के पिछले पचास सालों का लेखा-जोखा करना है।

पहले के अध्येता मानते थे कि जनपदों में समाये गाँवों में लोक संस्कृति की परम्परा अटूट है। उदाहरण के लिए श्री वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा लगभग आधी सदी पूर्व में किया गया यह आकलन- 'भारत जनपदों का देश है। ग्रामों के समूह जनपद हैं। गाँवों और जनपदों का ताँता चारों ओर फैला हुआ है और इस भूमि के अधिकांश जन गाँवों और जनपदों में ही बसे हुए हैं। गाँव-बस्तियाँ हमारी संस्कृति की धात्री हैं। गाँव सच्चे अर्थों में पृथिवी के पुत्र हैं। गाँव के जीवन की जड़ें धरती का आश्रय पाकर पनपती हैं। गाँवों में जन के जीवन को टिकाऊ आधार मिलता है। शहरों का जीवन उखड़ा हुआ जान पड़ता है। जनपदों का जीवन हजारों वर्षों की अटूट परंपरा को लिए हुए है।<sup>5</sup> पिछले तीस सालों में देश-दुनिया में जिस तरह की तकनीकी और प्रौद्योगिकी क्रांति आयी है, जिस रफ्तार से गाँवों की जनता का शहरों की ओर पलायन हुआ है। समाज में पूँजी ने जिस तरह के पाँव पसारे हैं। उस रफ्तार में बहुत-सी पारंपरिक चीजें छूटी और टूटी हैं। प्रायः हिन्दी की संस्कृति की बात होती है! क्या सचमुच यह हिन्दी की अपनी कोई संस्कृति है या उसमें समाये लोक समाज और भाषा की यह अपनी संस्कृति है? दरअसल 'इस हिन्दी में बहुत सारी 'हिंदियाँ' रहती हैं। 'हिंदी' को एकवचन में इस्तेमाल करने से एक जैसी हिंदी का बोध होता है, जबकि हिंदी विविध रूपा और 'चालू' भाषा है। बेहद संग्रही, उदार, सक्रिय, विनीत और तो भी एकदम ग्लोबल। यह 'चलती का नाम हिंदी' है!<sup>6</sup> आज हम जिस हिन्दी में जी रहे हैं, उसका लोकभाषाओं से सम्बन्ध निरन्तर क्षीण होता जा रहा है। हमारी हिन्दी का जैसा आत्मीय सरोकार लोकभाषाओं से बनना था, वैसा बन नहीं पाया है। लोक भाषाओं और उसके साहित्य को हमने वैसा सम्मान नहीं दिया जैसा दिया जाना चाहिए था। 'किसी भी साहित्यिक भाषा का, उसकी लोक-भाषा और लोक-साहित्य से सम्बन्ध कायम रहना अत्यावश्यक है। किसी पाश्चात्य विद्वान ने कहा है कि अपनी लोक-भाषा से सम्बन्ध टूट जाने पर साहित्यिक भाषा अवरुद्ध जल वाली नदी की परित्यक्त धार-सी हो जाती है। हजारों मुहावरे और भाषा की सजीव शैली लोक-भाषा में उद्भूत होती है। हिन्दी, जो हमारी

किताबों में लिखी जाती है और जिसको भारत के आधे लोग अपनी भाषा कहते हैं, उसका अपनी लोकभाषाओं से सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक है।<sup>7</sup> अब प्रश्न है कि हमारी हिन्दी का लोकभाषाओं और उसके साहित्य से कितना और कैसा सम्बन्ध बरकरार रहा है? जब लोकभाषाओं की अस्मिता की बात आती है तो कुछ लोगों को यह बात विभाजनकारी प्रतीत होता है। 'उपभाषाओं और उनकी संस्कृतियों के ये नये अस्मितामूलक उभार, राष्ट्रभाषा और भारतीय संस्कृति के पैरोकारों को विभाजनकारी मालूम हुए। उन्हें खतरा लगने लगा कि अगर भारत इस दिशा में आगे बढ़ा तो हम विभाजन-दर-विभाजन टूटते-बिखरते हुए दोबारा तबाही के कगार पर जा खड़े होंगे। यह आशंका एक हद तक सही थी, परन्तु इस नजरिये की कमी यह थी कि यह सिक्के के उस ओर वाले पहलू को देख ही नहीं पा रही थी।'<sup>8</sup> सम्पूर्ण संसार में मनुष्य प्रतिदिन परंपराओं और प्रथाओं के प्रकाश में ही जीवन जीता है। संकट के समय में इन्हीं से उसका मार्ग प्रशस्त होता है। पर्व और उत्सव, शिल्प और कला नृत्य और नाट्य उसकी सृजनात्मकता और अभिव्यक्ति में नव संचार करते हैं। इन सबका आधार लोक संस्कृति है। आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता की स्पर्धा में मनुष्य जाति में विभेद बढ़ते जा रहे हैं। हमारी समृद्ध लोक संस्कृति और लोकभाषाओं की उपेक्षा के कारण हम नित अपार पारंपरिक ज्ञान, शिल्प, कला, कौशल, दर्शन आदि से रहित होते जा रहे हैं। प्रतिदिन धरती पर कई लोकभाषाएँ अंतिम सांस ले रही हैं। कुछ लोकभाषाओं के बोलने-समझने वाले तो दहाई के अंकों में ही शेष हैं। एक लोकभाषा का धरती से समाप्त होने का आशय है उस लोकभाषा की संस्कृति का मिट जाना। उस संस्कृति में निहित लोक ज्ञान, इतिहास और अनुभव का मिट जाना। भारतीय अकादमिक क्षेत्रों की यह विडम्बना है कि जब अमेरिका और यूरोप से किसी बात की पुष्टि हो जाती है, तब हमारा पराधीन मानस उसे स्वीकृति देता है।

भारतीय लोक संस्कृति के विषय में अध्ययन की शुरुआत पाश्चात्य विद्वानों, ईसाई मिशनरियों ने की। इसके पीछे उनके अपने मकसद थे। 'किन्तु लोक संस्कृति के ये देशी एवं विदेशी दोनों प्रकार के विद्वानों एवं कार्यकर्ताओं ने मात्र लोकप्रिय संस्कृति के संकलन का कार्य किया। विश्लेषण का कार्य नहीं किया। लोक संस्कृति की इन विभिन्न विधाओं के भीतर क्या है? शब्द

के बाद की दुनिया अदृश्य रह गयी। इस प्रकार लोक संस्कृति के प्रति इनकी रुचि रोमानी एवं बौद्धिकों की भावमयी राष्ट्रवादी अभिरुचि बनकर रह गयी। इनसे किसी बड़े ऐतिहासिक सत्य तक पहुँचने का इन्होंने प्रयास नहीं किया। लोक संस्कृति के विदेशी विद्वानों के बीच इनकी उपयोगी व्याख्या कर अपने नये क्रिश्चियन मूल्यों को आदिम मूल्यों से जोड़ने का प्रयास भी हुआ, किन्तु भारतीय विद्वानों के मध्य तो यह भी नहीं हुआ।<sup>9</sup> भारतीय राष्ट्रीय संदर्भों में झाँसी की रानी कविता का अक्सर उल्लेख किया जाता है- इस कविता के विषय में यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि यह कविता दरअसल लोकगायक हरबोले जिन्हें बसदेवा भी कहा जाता है के द्वारा गाई जाने वाली पारंपरिक गाथा का मात्र परिष्कार या पुनर्सृजन है। हरबोला एक ऐसी अर्ध भैक्षचर्या जीवी जाति है, जो केवल और केवल उन्हीं जननायकों की गाथा गाती है, जिन्होंने अंग्रेजों का विरोध किया। वह चाहे इंदौर के यशवंतराव होलकर हों, नागपुर के राजा रघुजी भोंसले हों, झाँसी की रानी हो या नरसिंगगढ़ के चैनसिंह हों, किन्तु इसे क्या कहेंगे कि औपनिवेशिक दस्तावेजों में दर्ज तथाकथित बातों के समक्ष इन लोक गायकों की कथाओं को इतिहास की स्रोत सामग्री के रूप में स्वीकृति नहीं मिली। 'भारत में इतिहास लेखन की यह सीमा रही है कि उसने जन इतिहास के निर्माण में जनता द्वारा निर्मित, जनता में निहित लोक संस्कृति के विभिन्न आयामों का उपयोग नहीं किया।... इसके लिए मुख्य रूप से दो कारण जिम्मेवार रहे हैं- एक तो इतिहासकारों का लोक संस्कृति से कटाव, दूसरा बौद्धिक-ज्ञान और जन-ज्ञान के बीच निरन्तर चौड़ी और गहरी होती खाई।' <sup>10</sup>

इस भूमिका के पश्चात् आइये हम देखें विश्वभर में लोक संस्कृति और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की क्या स्थिति है? विश्वभर में लोकसंस्कृति को लेकर दो तरह के काम हुए हैं- एक तो संग्रहालयों में इस तरह की चीजों को जमा किया गया। विविध 'फोकलोर सोसायटी' के गठन हुए। शोध और सर्वेक्षण और संरक्षण की दिशा में जागृति उत्पन्न हुई। दूसरा विश्वविद्यालयों में इसका अध्ययन-अध्यापन प्रारंभ हुआ।

### वैश्विक स्थिति

फोकलोर सोसायटी की स्थापना सर्वप्रथम लंदन में सन् 1878 में हुई।<sup>11</sup> इसके बाद विश्व के कई देशों में फोकलोर

सोसायटी की स्थापना होती रही है। संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वोत्तर में स्थित पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय में सन् 1962 से लोकसंस्कृति का स्नातक पाठ्यक्रम प्रोफेसर मेक एडवर्ड लीच के निर्देशन में अस्तित्व में आ चुका था। 1965 में केनिथ गोल्डस्टेन ने यहाँ से पहली पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त की और यहीं पर संकाय सदस्य के रूप में नियुक्त होने का गौरव प्राप्त किया। विगत तीस वर्षों में यहाँ से लोकसंस्कृति और लोकजीवन सम्बन्धी विविध विषयों पर 200 लोगों ने पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त की है। इस समय यहाँ पर लगभग चालीस विद्यार्थी अध्ययनरत हैं।<sup>12</sup> पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय के लोकसंस्कृति विभाग में प्रवेश लेने के लिए जिस तरह के उच्चस्तरीय मानक हैं, उस तरह की परिकल्पना भारत में अभी तक नजर नहीं आती। प्रवेश से लेकर अध्ययन-अध्यापन तक की एक सुव्यवस्थित और सिलसिलेवार जानकारी इनकी बेवसाईट पर उपलब्ध है।

लोकसंस्कृति को पढ़ाने वाला अमेरिका का ही दूसरा प्रसिद्ध विश्वविद्यालय है- इंडियाना यूनिवर्सिटी, ब्लूमिंगटन। इस विश्वविद्यालय में यह पाठ्यक्रम वर्तमान में Department of Folklore and Ethnomusicology के अंतर्गत पढ़ाया जाता है। विश्वविद्यालय के इस केन्द्र ने देशज कला और संस्कृति के अध्ययन के क्षेत्र में विश्वव्यापी प्रतिष्ठा अर्जित की है। इस विश्वविद्यालय में लोकसंस्कृति के अंतर्गत स्नातक, स्नातकोत्तर और पी-एच.डी के पाठ्यक्रम उपलब्ध हैं। स्नातक अध्ययन हेतु इस केन्द्र में निदेशक के रूप में अभी प्रवीणा शुक्ला कार्यरत हैं। लोकसंस्कृति को समर्पित इस केन्द्र ने शोध और अध्ययन के क्षेत्र में जिस तरह की उपलब्धियों के साथ सुव्यवस्था की है, उसे एक आदर्श की तरह ग्रहण किया जाना चाहिए।

अमेरिका में ही यूनिवर्सिटी ऑफ नार्थ केरोलिना में भी लोकसंस्कृति सम्बन्धी अध्ययन-अध्यापन होता है। इस विश्वविद्यालय में यह पाठ्यक्रम अमेरिकन स्टडीज के अंतर्गत उपविभाग की तरह संचालित होता है। इसके अलावा भी लगभग सोलह-सत्रह विश्वविद्यालयों में लोकसंस्कृति सम्बन्धी उच्च पाठ्यक्रम पढ़ाये जा रहे हैं।

### भारतीय स्थिति

भारत की प्राचीन सांस्कृतिक जड़ों को मजबूत कर समृद्ध

सांस्कृतिक वैभव को दर्शाने के लिए 1985 में भारत सरकार ने देश में सात सांस्कृतिक क्षेत्रों को मान्यता देते हुए केन्द्रों की स्थापना की घोषणा की। ये केन्द्र लगभग 1986-87 से अस्तित्व में आये और अपनी गतिविधियाँ प्रारंभ की।<sup>13</sup>(1) दक्षिण क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, तंजावुर तमिलनाडु (2) दक्षिण मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, नागपुर, महाराष्ट्र (3) उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, पटियाला, पंजाब (4) उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश (5) पूर्व क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, कोलकाता, पश्चिम बंगाल (6) उत्तर-पूर्व क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, दीमापुर, नागालैंड (7) पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, उदयपुर, राजस्थान। देशभर के इन सात सांस्कृतिक क्षेत्रीय कार्यालयों द्वारा किये जाने वाले उपक्रम के बहुत पहले से राजस्थान में भारतीय लोककला मंडल-उदयपुर, की स्थापना पद्मश्री श्री देवीलाल सामर ने 1952 में राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश के अंचलों की विलुप्त होती लोककला और संस्कृति को संरक्षित करने के उद्देश्य से की थी। प्रारंभिक दशकों में इस संस्था ने विश्वव्यापी कीर्ति अर्जित की। यहाँ के कलाकारों ने विलुप्त हो रही कठपुतली कला को बचाने में बड़ा योगदान दिया। यहाँ से लोकसंस्कृति पर एकाग्र एक बहुत महत्वपूर्ण पत्रिका - 'रंगायन' संभवतः पैंतीस-छत्तीस वर्षों तक प्रकाशित होती रही। विगत कई वर्षों से इसका कोई अंक नजर नहीं आया। इस केन्द्र से विगत सैंतालीस वर्षों में विविध विषयों पर लगभग बावन पुस्तकें प्रकाशित की हैं। लोककला मंडल द्वारा लोक और जनजातीय क्षेत्रों में शोध-सर्वेक्षण और दस्तावेजीकरण के महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं। इस संस्थान के पास अपना एक संग्रहालय और संदर्भ केन्द्र भी है। इस संस्था द्वारा प्रतिवर्ष देवीलाल सामर स्मृति लोकरंजन मेला भी फरवरी में आयोजित किया जाता है। यहाँ का 'गवरी' उत्सव भी चर्चित रहा है किन्तु विगत कुछ वर्षों से इस संस्था में वैसी उर्जा और ऊष्मा नजर नहीं आ रही है।<sup>14</sup>

अकादमिक संस्थानों में लोकसंस्कृति को लेकर की गई पहल के पूर्व हमें विश्वविद्यालयों के एक दूसरे ही तथ्य पर भी विचार कर लेना चाहिए। यह बहुत आश्चर्यजनक प्रतीत होगा कि पूरे भारत के केन्द्रीय सहित राज्य विश्वविद्यालयों में आधे से अधिक विश्वविद्यालयों में आजादी के साठ वर्षों बाद तक भी हिन्दी विभाग स्थापित नहीं हैं। देशभर में चालीस केन्द्रीय

विश्वविद्यालय हैं, जिनमें से दस विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग नहीं हैं। इसी तरह से देशभर में राज्य कानून के तहत बने चार सौ इक्कावन विश्वविद्यालय हैं। इन विश्वविद्यालयों में पूरे देशभर में दो सौ बत्तीस ऐसे विश्वविद्यालय हैं, जिनमें हिन्दी विभाग नहीं है। जब राष्ट्रभाषा हिन्दी की ही यह दुर्दशा है, तो लोकसंस्कृति बहुत पीछे की बात हो जाती है।<sup>15</sup>

फिर भी अन्यान्य कारणों के चलते विगत कुछ वर्षों से कतिपय भारतीय विश्वविद्यालयों ने भी इस दिशा में अपनी सजगता दिखाते हुए लोकसंस्कृति के पाठ्यक्रम प्रारंभ किये हैं। इस दिशा में गुवाहाटी विश्वविद्यालय, हैदराबाद विश्वविद्यालय, कल्याणी विश्वविद्यालय (पश्चिम बंगाल) आदि में लोकसंस्कृति के पूर्णकालिक स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रम प्रारंभ किये हैं। देश के कई विश्वविद्यालयों में एम.ए.हिन्दी में लोक संस्कृति/साहित्य को एक वैकल्पिक प्रश्नपत्र के रूप में स्थान दिया गया है। सबसे महत्वपूर्ण कदम उठाया यू.जी.सी. ने। यू.जी.सी. के द्वारा अब राष्ट्रीय पात्रता परीक्षा में लोक साहित्य को भी एक स्वतंत्र विषय मानते हुए स्थान दिया है। कई राज्यों में स्नातक स्तर पर आंचलिक भाषाओं का भी एक प्रश्नपत्र रखा जाने लगा है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय से लोकसंस्कृति में स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम प्रारंभ हुआ है। ऐसी ही पहल राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा भी की गई है।

मध्यप्रदेश के विभाजन के पश्चात् बना छत्तीसगढ़ राज्य जनजातीय और लोक सम्पदा की दृष्टि से सुसम्पन्न है। यहाँ के पंडवानी गायन ने वैश्विक कीर्ति अर्जित की है। लोककलाओं और कलाकारों की भरपूर उपलब्धता के बावजूद यहाँ अभी सांस्कृतिक गतिविधियाँ गति नहीं पकड़ सकी हैं। लोक संस्कृति पर एकाग्र कर पत्रिका का भी यहाँ जिक्र किया जाना चाहिए। यह पत्रिका छत्तीसगढ़ के बिलासपुर से डॉ.कालीचरण यादव, रावत नाच महोत्सव समिति की ओर से प्रकाशित करते हैं इसका नाम है 'मढ़ई'। पत्रिका ने उच्च गुणवत्ता पूर्ण आलेखों को प्रकाशित कर अपनी एक पहचान कायम की है।

लोकसंस्कृति पर केन्द्रित बेवसाईट और ब्लॉग लेखन में कम कार्य हुआ है। दो-तीन बेवसाईट और ब्लॉग का जिक्र अवश्य किया जा सकता है। लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी



विभाग में प्रोफेसर डॉ.पवन अग्रवाल ने अवधी और बुंदेली लोकसाहित्य पर बहुत अच्छी बेवसाईट तैयार की है।

## मध्यप्रदेश की स्थिति

लोकसंस्कृति के क्षेत्र में कार्य करने की जब बात आती है तो मध्यप्रदेश की स्थिति शेष हिन्दी भाषी भारत की तुलना में बहुत बेहतर रूप से उभरती है। सम्पूर्ण भारतीय संदर्भ में तुलनात्मक रूप से देखें तो मध्यप्रदेश अकेला ऐसा राज्य साबित होगा, जहाँ संस्कृति विभाग के तहत आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी द्वारा विगत 30-32 वर्षों में जितना कार्य किया वह अपने आपमें एक मिसाल है। इस अकादमी द्वारा सर्वेक्षण, दस्तावेजीकरण, आयोजन, शोध, लोकोत्सव, मानक प्रकाशन, संग्रहालय तथा दीर्घाओं के निर्माण जैसे कई उल्लेखनीय कार्य किये हैं। न केवल लोक बल्कि जनजातीय जीवन, घुमन्तू और अर्द्ध घुमन्तू जातियों की सांस्कृतिक सम्पदा को लेकर जैसा कार्य इस अकादमी द्वारा किया गया है, उसका मूल्यांकन होना अभी शेष है। इस अकादमी द्वारा लोक की वाचिक परम्परा, शिल्पकला, नृत्य परम्परा, चित्र शैलियों को लेकर व्यापक प्रकाशन, संरक्षण और संवर्धन का कार्य किया गया है। अकादमी द्वारा सतत् रूप से आदिम परम्पराओं के समयानुकूल परिष्कार का कार्य भी किया जाता है। लोक और जनजातीय कला परम्पराओं को सम्मान देने के लिए अकादमी द्वारा रूपंकर और प्रदर्शनकारी कलाओं पर

केन्द्रित समारोहों का आयोजन किया जाता है। अकादमी द्वारा अब तक एक सौ पचपन पुस्तकों, लोक और जनजातीय चित्रों पर 'सृष्टि' शीर्षक से 07 पोर्टफोलियो, लोकनृत्यों पर 04 वीडियो, लोकगाथाओं और लोकगीतों पर 09 ऑडियो संस्करण भी जारी किये जा चुके हैं। 'चौमासा' नामक पत्रिका का नियमित प्रकाशन जारी है। इस प्रतिष्ठित पत्रिका के अब तक छियानवे अंक प्रकाशित हो चुके हैं। यहाँ मध्यप्रदेश से ही निकलने वाली वार्षिक पत्रिका 'ईसुरी' का उल्लेख भी आवश्यक है। यह पत्रिका सागर विश्वविद्यालय की बुंदेली पीठ से वर्षों से प्रकाशित हो रही है। इसके वर्तमान संपादक डॉ. आनंद प्रकाश त्रिपाठी हैं। इस अकादमी के समतुल्य जब हम विश्वविद्यालयों की बात करें तो थोड़ी निराशा होती है। लोक सम्पदा से भरपूर इस राज्य के किसी भी विश्वविद्यालय में लोकसंस्कृति अध्ययन-अध्यापन का कोई भी पूर्णकालिक और स्वतंत्र पाठ्यक्रम नहीं है। लोक साहित्य को एम.ए.हिन्दी में एक वैकल्पिक प्रश्न पत्र के रूप में अवश्य स्थान दिया गया है। स्नातक स्तर पर भी तृतीय वर्ष (पंचम और षष्ठ सेमेस्टर)में आंचलिक बोलियों का एक प्रश्नपत्र रखा गया है। किन्तु इसे पर्याप्त कतई नहीं कहा जा सकता है। आशा की जानी चाहिए कि मध्यप्रदेश के विश्वविद्यालयों में भी लोकसंस्कृति और उससे जुड़े अनुशासनों को लेकर अन्तरअनुशासनिक कार्यों को बढ़ावा मिलेगा और प्रत्येक विश्वविद्यालय में लोक संस्कृति का स्वतंत्र विभाग और पाठ्यक्रम आकार लेगा।

## संदर्भ

1. [http://en.wikipedia.org/wiki/List\\_of\\_countries\\_by\\_number\\_of\\_mobile\\_phones\\_in\\_use](http://en.wikipedia.org/wiki/List_of_countries_by_number_of_mobile_phones_in_use)
2. [http://en.wikipedia.org/wiki/List\\_of\\_countries\\_by\\_number\\_of\\_internet\\_user](http://en.wikipedia.org/wiki/List_of_countries_by_number_of_internet_user)
3. <http://www.knowindia.net/auto.html>
4. [http://en.wikipedia.org/wiki/Endangered\\_language](http://en.wikipedia.org/wiki/Endangered_language)
5. पृथ्वी पुत्र - वासुदेवशरण अग्रवाल, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली सन् 2009 पृष्ठ 42
6. वाक् - संपादक- सुधीश पंचारी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, अंक 3 वर्ष 2007 संपादकीय पृष्ठ 6
7. राहुल सांकृत्यायन- राहुल निबंधावली, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ उ.प्र. पृष्ठ 74
8. ईसुरी- अंक 18, वर्ष 2010-11 बुंदेली पीठ, हिन्दी विभाग, सागर वि.वि. सागर। लेख -भाषा सांस्कृतिक अस्मितायें ... पृष्ठ 11
9. लोक संस्कृति और इतिहास- बद्रीनारायण, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृष्ठ 74
10. वही, पृष्ठ 9
11. [http://en.wikipedia.org/wiki/The\\_Folklore\\_Society](http://en.wikipedia.org/wiki/The_Folklore_Society)
12. <http://www.sas.upenn.edu/folklore/>
13. [http://en.wikipedia.org/wiki/Cultural\\_Zones\\_of\\_India](http://en.wikipedia.org/wiki/Cultural_Zones_of_India)
14. <http://kalamandal.org/>
15. दैनिक ट्रिब्यून चंडीगढ़, 6 दिसम्बर 2012 में सांसद डॉ. रामप्रकाश द्वारा राज्यसभा में की गई माँग का समाचार

## बुन्देली का लोक साहित्य

डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव

लेखक एवं कवियों को चिरकाल से ही सृजन की प्रेरणा प्रकृति से मिलती है। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में क्रोंच युगल की दया से द्रवित होकर आदिकवि के मुख से अनायास ही छन्द निकल पड़ा, तो वह ऐसे ही नहीं निकला, उसके पीछे पर्याप्त कारण निहित थे। प्रकृति एवं लोक-जीवन के अनुभव जब लेखक अपनी कलम से लेखबद्ध करता है तो उसके पीछे उसका अतीत का अनुभव विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि लोक-जीवन प्रकृति की गोद में फलता-फूलता है। लोकभाषा की इसी क्षमता के बल पर ही कबीर ने दर्शनशास्त्र के सरस तत्त्वों को हृदयग्राही तथा सहज-सरल रूप में प्रस्तुत किया। वहीं तुलसीदासजी ने नानापुराण निगमागम की गरिष्ठ सामग्री जनसामान्य के लिए सुलभ-सुपाच्य बना दी। इसी क्षमता के बल पर बुन्देली कवि भी बड़े तथ्यों को कितने सहज ढंग से अभिव्यक्त कर अमर हो गये और लोक-साहित्य के माध्यम से आज भी हमारे दिलों में बसते हैं।

बुन्देली काव्यधारा के प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय कवि जगनिक माने जाते हैं। आपको बुन्देली का आदिकवि माना जाता है। कवि जगनिक का जन्म आगरा जिले की खैरागढ़ तहसील में हुआ था। ऐसी मान्यता है कि जगनिक कवि महोबा के राज दरबार में राजकवि के रूप में रहते थे। जगनिक ने बुन्देली महाकाव्य कहे जाने वाले आल्हाखण्ड की रचना की। इस काव्य में आपने महोबा के दो प्रसिद्ध वीर भाइयों आल्हा-ऊदल की वीरता का वर्णन किया है। कवि जगनिक ने स्वयं युद्ध में बढ़-चढ़ कर भाग लिया था और इसी का वर्णन आल्हाखण्ड में मिलता है।

आल्हाखण्ड को सर्वप्रथम लिपिबद्ध करने का प्रयास सर चार्ल्स इलियट सन् 1865 ई. में किया गया, जिसमें मात्र तेइस युद्धों की स्थिति व्यंजित है। इसके बाद में आल्हाखण्ड में चौंसठ लड़ाइयाँ दिखाई गयी हैं। इसमें युद्ध वर्णन के साथ-साथ श्रृंगार के दोनों

रूपों संयोग-वियोग की भी व्यंजना है। साथ ही बुन्देलखण्डी मनोहारी प्रकृति की छटा भी दमकती है। आज भी बुन्देलखण्ड की ग्रामीण जनता के लिए आल्हाखण्ड धर्म-ग्रन्थ और नगर महोबा कुरुक्षेत्र के समान दिखता है। आल्हा वीररस में लिखित काव्य है। वीररस प्रधान इस काव्य में लोक-गाथाओं को लययुक्त और काव्याभिव्यक्ति के प्राचीन रूपों में व्यक्त किया गया है। आल्हा अन्याय के प्रति युद्ध द्वारा विजय प्राप्त करने के साथ-साथ मृत्यु के भय से विमुक्त वीरोचित घटनाओं के कलात्मक चित्र प्रतिबिम्बित करता है। आज से लगभग साढ़े सात सौ वर्ष पूर्व में लिखित आल्हाखण्ड वर्तमान समय में जनसामान्य में खूब प्रचलित है।

आल्हाखण्ड में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ-साथ युद्ध और श्रृंगार का वर्णन अधिक मिलता है। इसमें न केवल शूरवीर आल्हा-ऊदल की वीरता और उनके द्वारा लड़े गए युद्धों में उनके शौर्य, साहस और वीरता झलकती है, अपितु राजपूतों की वीरता और शौर्य के लिए प्रेरित करने का प्रयत्न भी है-

*बारह बरस लौ कूकर जिये, और तेरह जिये सियार।  
बीस बरस लौ छत्री जिये, आगे जीये तो धिक्कार।।*

प्रमाणिकता की दृष्टि से शोधकर्ताओं के समक्ष आज भी आल्हाखण्ड पर प्रश्न चिन्ह लग रहे हैं। कुछ भी हो परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि आल्हाखण्ड के अध्ययन से तत्कालीन सामंतों की आकांक्षाओं, उनकी भावनाओं तथा समकालीन ऐतिहासिक घटनाओं की जानकारी मिलती है। आल्हाखण्ड लोक-भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में सफल रहा है।

ईसुरी बुन्देली साहित्य के सर्वथा मौलिक कवि माने जाते हैं। आपकी विचारधारा को मानक हिन्दी काव्य की किसी भी धारा से बाँधना सम्भव नहीं है, न ही किसी शास्त्रीय विधान के अन्तर्गत इस पर रोक लगायी जा सकती है। श्रृंगार के इस कवि का जन्म मऊरानीपुर के निकट मेढ़की ग्राम में सन् 1881 ई. में हुआ। फाग कविता की नयी विधा को जन्म देने वाले ईसुरी विभिन्न विषयों पर काव्य का सृजन करते रहे। इनका काव्य चौकड़िया फाग के नाम से जाना जाता है। इस चौकड़िया छन्द में 28 मात्राएँ होती हैं और सोलह तथा बारह मात्रा पर यति होती है।

ईसुरी की भाषा बड़ी सरल, सजीव और प्रभावी है। ठेठ बुन्देली शब्दों की व्यंजना आपके काव्य को प्रभावी बनाती है। आपने अपने शब्दों में व्यंजना पिरो दी है। साथ ही उसमें उपमेय और उपमान का समायोजन अप्रतिम रूप में समाहित हो गया है। इसके साथ ही लोकोक्तियों से भावाभिव्यक्ति कर बुन्देली भाषा में सौन्दर्य की वृद्धि की गयी है। ईसुरी अपनी फागों में जहाँ एक ओर श्रृंगार और शांत रस का समावेश उपदेशात्मक एवं प्रकृति वर्णन में करते हैं, वही दूसरी ओर सांसारिक माया-मोह से विरक्ति का भाव दिखाते हुए भक्ति और आध्यात्मिकता की भावना भी व्यक्त करते हैं। ईसुरी ने इस सांसारिक देह (घर) को किरायेदार की भाँति अपनाने की बात बड़े ही बेबाक ढंग से कही है-

*बखरी रैयत है भारे की, दई पिया प्यारे की।  
कच्ची भीत उठी, माटी की, छई फूस चारे की।  
बेबन्देज बड़ी बेबाड़ा, जेई में दस हारे की।  
किबार किबरिया एकउ नैया, बिना कुची तारे की।  
ईसुर चाय निकारो जिदना, हमें कौन वारे की।।*

गंगाधर व्यास रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में बुन्देली धारा के प्रसिद्ध कवियों की श्रृंखला में आते हैं। आपका जन्म सन् 1920 में छतरपुर के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बुन्देलखण्ड के लोकसाहित्य के महान कवियों में आप प्रसिद्ध हैं। ईसुरी की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए आप छतरपुर, चरदवारी एवं पन्ना बिजावर के नरेशों के यहाँ दरबार में शोभायमान रहे। आपकी प्रमुख कृतियाँ गौ महात्म्य, विश्वनाथ पताका, व्यंग्य पचासा, भरथरी चरित, अठय्याम, नीतिमंजरी, द्वारिका विहार आदि हैं।

गंगाधर व्यास की भाषा सरल, सुबोध एवं सुमधुर है। आपकी कविता में उपमायें सटीक हैं। उपमेय-उपमान का सुन्दर सामंजस्य स्पष्ट देखने को मिलता है। बुन्देली मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भी यथा स्थान आपकी रचनाओं में देखने को मिलता है-

*मति मतंगनि की गति सों, गज गामिनि नाम मिलौ सुखदानी।  
त्योँ द्विज गंग तजो नहिं ताहि, मराल हंसी कर है मनमानी।।*

ईसुरी के समान संसार की असारता बताते हुए गंगाधर व्यास ने भक्तिपरक छन्द लिखकर ईश्वर भक्ति की भी अपनी



अभिव्यक्ति दी है। फाग छन्द एवं सैर की नई काव्य विधा को जन्म देने वाले गंगाधर व्यास का बुन्देली लोकसाहित्य में विशेष स्थान है।

रामचरण हयारण 'मित्र' बुन्देली साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर माने जाते हैं। ईसुरी के पश्चात् काव्य के क्षेत्र में ठेठ बुन्देली का जो पुनर्जागरण हुआ, उसमें रामचरण हयारण 'मित्र' का विशेष योगदान है। आपका जन्म झांसी में सन् 1905 ई. में हुआ। 'मित्र' जी का प्रारम्भिक काव्य लेखन मानक हिन्दी में देखने को मिलता है। आपकी बाद की रचनाओं में बुन्देली के फाग, कुण्डलिया, कवित्त के साथ नये-नये छन्दों का प्रयोग भी मिलता है, जिनमें लोक-विषयों के विभिन्न आयाम दृष्टिगोचर होते हैं।

रामचरण हयारण 'मित्र' की रचनाओं में श्रृंगार, वीर तथा शांत रस की प्रधानता होने के साथ ही माधुर्य गुण की प्रधानता भी परिलक्षित होती है। आपने अपनी स्वर लहरी और वाणी के द्वारा बुन्देली में नायिका भेद, प्रकृति चित्रण तथा राष्ट्रीय विचारों के बल पर बुन्देली को सर्वोच्च स्थान दिलाने की कोशिश की है। एक अच्छा लेखक एवं सफल शोधकर्ता होने के साथ-साथ आप बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य के अच्छे विवेचक एवं आलोचक भी रहे हैं।

बुन्देली जीवन का चित्रण आपकी रचनाओं में बड़ी ही सरलता से परिलक्षित होता है। आपके काव्य में बुन्देलखण्ड के कृषक, उनके पारिवारिक वातावरण, परिवार में होने वाले विविध दैनिक कार्य-कलापों का चित्रण बड़ी ही सहृदयता के साथ व्यंजित हुआ है। जहाँ एक ओर विरहदग्ध बाला का प्रणय मुखरित है तो कहीं उसके हाव-भावों के आह्लाद की अभिव्यक्ति भी देखने को मिलती है-

1. कसकै जूरौ मार कछौटा, टइया दैके टेरौ।
2. मठो भगत में भौजाई की वजन लगी करधौनी॥

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हयारण जी का कृतित्व बहुआयामी है। आप एक सफल कवि, उत्तम शोधक, साथ ही बुन्देली गायक के रूप में सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

शिवानन्द मिश्र बुन्देला नाम से चर्चित हैं। आपका जन्म ऐसे परिवार में हुआ जो साहित्य के अनुराग से परिपूर्ण था।

आपकी प्रथम कविता ग्यारह वर्ष की उम्र में ही प्रकाशित हो गयी थी। 'अपनौ देश बुन्देलन वालौ' नामक इस कविता के माध्यम से बुन्देला बुन्देलखण्ड के यशस्वी लेखकों में शामिल हो गये। अपनी इस वीर रस की रचनाधर्मिता के लिए आप हिन्दी के महान कवि रामधारी सिंह दिनकर के द्वारा सराहे गये।

'बुन्देला' जी की रचनाओं में समाज का यथार्थ प्रतिबिम्बित होता है। वास्तविकता भी है कि साहित्य-समाज से ही उद्भूत होता है जो उसे प्रेरित और प्रभावित भी करता है। जिस काव्य में जीवन का कोई आदर्श, कोई प्रेरणा नहीं, वह समाज को क्या देगा। यदि काव्य में जीवन मूल्यों की आस्था सुरक्षित है तो समाज का मंगल भी सुरक्षित है। यही भावना बुन्देला जी अपनी प्रसिद्ध कविता डुकरो कौ सोच में व्यक्त करते हैं-

बाबुल के घर कौ सपनो।  
लियो-पुतो आंगन अपनो॥  
पहिर पाँवा में पैजनियाँ,  
टुमुक-टुमुक नाची रनियाँ।  
दिनभर घर घूला बनाएं दिनभर फोरें।  
दिनभर बच्चा बकरे गइया व्यानी कौ॥

प्रायः यह माना जाता है कि आज भौतिक युग में हर व्यक्ति स्वार्थी एवं महत्वाकांक्षी हो गया है। भौतिक उन्नति के स्वर हावी होने के कारण मानव के नैतिक मूल्यों एवं संस्कारों का पतन हो रहा है। ऐसी स्थिति में सबसे बड़ी आवश्यकता सांस्कृतिक जागरण की है, जिसमें जीवन मूल्यों की रक्षा का प्रश्न सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

शिवानन्द मिश्र बुन्देला के काव्य में छन्द-योजना महत्वपूर्ण है जो ओज तथा प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। आपकी ओजपूर्ण कविता में लम्बे चरणों का प्रयोग हुआ है। भावों के अनुरूप छन्दों का प्रयोग आपकी कविताओं की प्रमुख विशेषता माना जाता जाता है। 'डुकरो कौ सोच' जैसी मर्मस्पर्सी रचना में छन्दों की केवल चौदह मात्राओं का प्रयोग कर देश के कर्णधार कहलाने वालों के चरित्र में जो खोखलापन आ गया है, उसे स्पष्ट करते बुन्देला जी लिखते हैं-

उड़ गई चाल मरोरा की, हँसी बतासा-फोरा की।

माहुर विषधर करिया है, मेहंदी बनी अंगरिया है।  
कचरा काटत है अब अखियन की कोरें।  
नाती देख हँस पुपलौं मौं नानी कौं।।

स्पष्ट है कि बुन्देला जी के काव्य में बुन्देली जीवन, संस्कृति तथा संस्कृति के जागरण के साथ-साथ नैतिक स्थान का प्रसंग हर जगह देखने को मिल जाता है। बुन्देला जी के बुन्देली जीवन के सृजन को बुन्देली समाज कभी भुला नहीं पायेगा।

दुर्गेश दीक्षित बुन्देली काव्य में मूलतः वीर एवं करुण रसों की रचना के स्पष्ट हास्य व्यंग्य की रचना करने वाले कवि माने जाते हैं। आपकी प्रमुख रचनाओं में गमइयन के गाँधी, ब्रजेन्द्र विछोह, अध्यापक जागो, बुन्देल का ठाठ, ज्ञान के गुरिया, लकी-तकराई गैल, ऋतु संहारम का बुन्देली पद्यानुवाद, बलिदान (वीरांगना अवन्तीबाई की शौर्यगाथा पर रचित खण्डकाव्य) आदि हैं।

किसी भी लेखक या कवि की वास्तविकता उसकी अभिव्यक्ति में निहित होती है, क्योंकि कविता तथा स्वर्ण की परीक्षा करते समय मुख्य रूप से दो बातें ही देखने को मिलती हैं—पहली उसकी वास्तविकता क्या है? इसके साथ-साथ उसमें मुख्यतः वर्ण्य विषय कितना है? वास्तव में देखा जाये तो आनन्द अभिव्यक्ति में ही निहित होता है और जीवन की प्रेरणा उसकी प्रगति में। कवि दुर्गेश दीक्षित की रचनाओं में भारतीय काव्यशास्त्र के रसों का (दस रसों) सम्मिश्रण देखने को मिलता है। वीर रस का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

धत्र भूम भई मन केड़ी की, जितै अवतरी रानी।  
जुगन-जुगन नौ जाहर हो गई उनकी अमर कहानी।  
बड़े प्रेम से चबा चुकी ती देश-प्रेम का वीरा,  
जियत-जियत नौ ई धरनी की, दूर करत रइ पीरा।

स्पष्ट है कि यों तो दुर्गेश जी ने सभी रसों को अपनी रचनाओं में अपनाया है। पर वीर एवं करुण रस की प्रभावी योजना पर आपने सर्वाधिक ध्यान दिया है। आपका हास्य-व्यंग्य पर भी पर्याप्त अधिकार था, जिसमें लीला चली मायके रचना विशेष महत्त्व रखती है।

रतिभानु तिवारी कंज प्रगतिवादी धारा के कवि हैं। समाज में बढ़ती विषमता के प्रति आप चिंतित हैं और इस विषमता को

समाप्त करने के लिए आप पूंजीपतियों को दोषी ठहराते हैं। आपका जन्म अगहन शुक्ल वि.सं. 2007 को टीकमगढ़ जिले के नैनुआ ग्राम में हुआ था। आप पेशे से शिक्षक हैं। आपकी प्रमुख कृतियाँ—ओरछा वैभव, बुन्देलखण्ड की परम्परायें, वीर हरदौल प्रमुख हैं। आपने 'बेतवा एवं 'चेतना' नामक पत्रिकाओं का भी सम्पादन किया है। बुन्देली साहित्य में लेखन के लिए आपको उ.प्र. के हिन्दी संस्थान लखनऊ द्वारा बुन्देली भाषा की सेवा पर मैथिलीशरण गुप्त पुरस्कार से सम्मानित किया गया। बुन्देली भाषी साहित्य परिषद् पृथ्वीपुर द्वारा बुन्देल भारती साहित्य पुरस्कार से भी आपको सम्मानित किया गया है।

सामाजिक विषमता एवं लोकसंस्कृति के बीच तालमेल को कवि रतिभानु जी बड़े बेबाक ढंग से कहते हैं। कवि समाज के यथार्थ को रेखांकित करता हुआ लिखता है कि आज जहाँ गरीब के घर में खाने को एक टुकड़ा भी नसीब नहीं है, वहीं अमीरों के कुत्ते दूध पी रहे हैं।

वे तौ हलुआ रबड़ी सूटे, दूध धरे कुत्ता नौरा खौं।  
अह पेटों सोवें हम रोतऊँ, तरस रए कौरा खौं।

गाँव का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

गाँव हमाए सुरग लोक से  
ओजू साँसी मानी  
बिरछन तरें हरी कादी, परतन लगे सुहानो।

कवि रतिभानु तिवारी भारत की एकता और अखण्डता पर गर्व करते हैं। सर्वधर्म सद्भाव भारत में सदैव से रहा है। यहाँ की मानवता एवं भाईचारे की भावना विश्व के लिए आज भी वंदनीय एवं पूजनीय मानी जाती है। कंज के काव्य में इन बातों का पूरा ध्यान रखा गया है। बुन्देली समाज को आपके इस सृजन पर नाज एवं गर्व है।

जगदीश सहाय खरे साहित्य सेवा में छात्र जीवन से ही रूचि रखने वाले बुन्देली मंच के जनप्रिय कवि हैं। आपने काव्य के अतिरिक्त गद्य में नाटक एवं कहानियों के क्षेत्र में भी कलम चलाई है। खरे साहब के काव्य में सामाजिक, राजनीतिक एवं सामंतवाद तथा प्रजातंत्र, साम्राज्यवाद की स्पष्ट छाप मिलती है। इनके साथ-साथ आपकी रचनाओं में आर्थिक विषमता की बातें

भी देखने को मिलती हैं। इस प्रकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में युग-चेतना का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। समाज की ज्वलंत समस्या नशा पर टिप्पणी करते हुए 'जलज' लिखते हैं-

नाश हो जावै ऐसो नसा, करत जो लाखन की दुरदसा।  
बना दो बिगड़ी फिर से राम, नसा को कबऊँ न लैहें नाम॥

जगदीश सहाय खरे सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति सदैव सजग रहे हैं। आपकी प्रथम बुन्देली रचना 'राम धई खाई लेत महँगाई' बहुत ही लोकप्रिय हुई-

रामधई, खाए लेत महँगाई।  
उतै लगत अब एक रूपइया, जितै लगत को पाई,  
काकी होरी काकी होरा, कलजुग कौ सबई पै तोरा॥  
चिथरा गई तुमाई धुतिया, हम तो कहत लपैडौ बोरा,  
चुटिया फीता छोड़ के रंग लो, करिया राम बाँस कौ जोरा।  
दार उधार मुहल्ला भरकी, ऊ बनरे नई चुकाई,  
कासै मैं आवै तिरकाई।

बुन्देली साहित्य के संतोष सिंह बुन्देला हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री भवानी प्रसाद मिश्र से प्रेरणा पाकर साहित्य के क्षेत्र में आये। आपने बुन्देली में चौकड़िया फागों, सवैया तथा कवित्त का भी सृजन किया। गीत विधा को अपनी रचनाओं में आधार बनाकर आपने विशिष्ट छन्द-योजना का निर्माण किया, जिसे बुन्देल छंद के नाम से जाना जाता है। इस छन्द के द्वारा बुन्देला जी ने अपनी लोकसाहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट पहचान बना ली।

चाहे प्रकृति वर्णन का नजारा हो या मनुष्य के वास्तविक जीवन का वर्णन या विरही व्यक्ति के मनोभावों का चित्रण या वर्षाकाल में चलने वाली ठंडी मदमाती हवा जो तन-मन को एक विशेष प्रकार की अनुभूति प्रदान करती है। इसी स्थितियों का वर्णन करने में बुन्देला जी को सिद्धहस्तता प्राप्त है। एक दीनहीन व्यक्ति का वर्णन इस प्रकार है-

हम हैं दुखिया-दीन गमइयाँ, जिनको कोऊ जगत में नइयाँ।  
फिर ऊसई चटकाउट पनइयाँ, कहावै अपढा देहाती॥  
दो रोटिन के ताने मारें रात-दिन छाती, तोऊ न मिलपावा  
न सुख सैं खा पावैं॥

सन्तोष सिंह बुन्देला की रचनाओं में जहाँ एक ओर बितियाँ में बेटी के जीवन का मार्मिक वर्णन मिलता है। वहीं 'लमटेरा की तान' में लोक-जीवन की उमंग सजीव-सी दिखती है। बुन्देला जी के काव्य की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें लोक एवं मानव जीवन के गूढ़ अनुभव छिपे हुए हैं, जो पाठकों को पढ़ते ही एक अलग तरह के रस की अनुभूति कराते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तोष सिंह बुन्देला का काव्य सृजन सफल एवं लोकोपयोगी है।

'अवधेश' उपनाम से चर्चित बुन्देली काव्य के हरफन मौला अवधेश किशोर श्रीवास्तव ने हिन्दी, उर्दू, ब्रज तथा बुन्देली में पर्याप्त रचनाएँ सृजित की। आपकी लगभग दो दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें श्रमणा महाकाव्य विशेष महत्त्व रखता है। रामकाव्य परम्परा से अलग हटकर श्रमणा के चरित्र को अवधेश जी विशिष्ट ढंग से चित्रित करते हैं-

हरिचरण से निःसृत है जब, हरि प्रिया पयपूत।  
हरिचरण से निःसृत है फिर, क्यों छूत-अछूत॥

गद्य और पद्य में समान रूप से सृजन करने वाले अवधेश जी की बुन्देल भारती में बुन्देली रचनाएँ संकलित हैं। बुन्देली रचनाओं के साथ उर्दू और ब्रजभाषा में रचनाओं का संकलन 'अवधेश जी का रचना संसार' में देखने को मिलता है। आपकी रचनाओं में ओज, माधुर्य तथा प्रसाद गुण के साथ-साथ अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों का समाहार भी देखने को मिलता है। आपने बुन्देली पंचतंत्र में बुन्देली कहानियाँ, नाटिका वाटिका में बुन्देली नाटक गीता और बाइबिल का अनुवाद भी किया है। कवि का मानना है कि बुन्देली और ब्रज अलग-अलग नहीं है, बुन्देली का ही नाम ब्रज है-

ब्रज और बुन्देली जो दो कहि है,  
हम तो कहि है वो अजान बड़ो है।  
जड़ मूल सवैई बुन्देली की है  
ब्रजवारिन ने ब्रज नाम गढ़ौ है॥  
कवि केशव की कविताई ही  
सौं जा बुन्देली के पानी पै पानी चढ़ो है॥

शब्दों के चमत्कार के माध्यम से कवि अवधेश ने बुन्देली

पानी और वाणी के प्रभाव को अपने एक छन्द में इस प्रकार व्यक्त किया है-

*बुन्देली की सुनो कहानी, बुन्देली की बानी में।  
पानीदार यहाँ का पानी, आग यहाँ के पानी में॥*

अवधेश किशोर श्रीवास्तव ने सभी विषयों पर अपनी रचनाएँ लिखी हैं। वंदना राष्ट्रीय गीत, प्रकृति चित्रण, झाँसी की रानी विषयक छन्द पर्वोत्सव, उलटवासियाँ एवं भक्तिपरक कविताएँ आपकी लेखनी से निकली हैं। इस तरह कवि 'अवधेश' ने समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए साहित्य का सृजन कर बुन्देली एवं अन्य साहित्य के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है।

स्पष्ट है कि बुन्देली धरा वीरों से खाली नहीं है और समय-समय पर इसमें महान साहित्य सृजन कर्मियों ने अपनी रचनाओं से यहाँ के जनमानस में न मिटने वाली छाप छोड़ी है। बुन्देली साहित्य के इन सशक्त हस्ताक्षरों के अलावा बुन्देलखण्ड की माटी में और भी बहुत से लेखक एवं कवि सृजनरत हैं। साहित्य जगत में ऐसी महान विभूतियाँ सामने नहीं आ पायी हैं अर्थात् बुन्देलखण्ड के इतिहास के गर्भ में और भी अनेक ऐसी प्रतिभाएँ पड़ी हैं, जिन्हें अपनी रचनाधर्मिता का प्रतिफल नहीं मिल पाया है। आज जरूरत है समाज के बुद्धि-जीवियों एवं साहित्य-प्रेमियों को इन प्रतिभाओं के बारे में शिद्दत के साथ चिंतन करने की, जो इतिहास के अंधेरे में पड़े हैं उन्हें प्रकाश में लाने की।

## लोक देवता हरदौल जू

डॉ. सुधा तैलंग

बुन्देली संस्कृति में लोक देवी-देवताओं के पूजन की परम्परा आज भी ग्रामीण अंचलों में प्रचलित है। लोक देवी-देवता मानवीय अन्तर्भावों, श्रद्धा, आस्था को समेटे हुए बुन्देली अंचलों में प्रत्येक तीज-त्योहार, मंगल अवसरों पर पूजे जाते हैं। कोई भी शुभ कार्य बिना लोक देवी-देवता के पूजन, मनन के सम्पन्न नहीं होते हैं। एकता में अनेकता, सर्वधर्मभाव को अपने में समेटे हुए बुन्देली संस्कृति में जीवन के आदर्श, विश्वास, संस्कार, रीति-रिवाज के साथ अटूट आस्था व मान्यतायें भी शामिल हैं। बुन्देली संस्कृति से जुड़े संस्कारों में लोक देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा की गई है।

बुन्देली देवताओं में शक्ति पूजा की परम्परा सदियों से प्रचलित है। षष्ठी देवी (छठ माता) महाबुलिया माता, महालक्ष्मी, तुलसी मैया, गौ माता, गंगा मैया, धरती माता, सुहागनें, दुरदरैया, नवरात्रि व देवी पूजन का प्रचलन हर घर में है। वहीं बुन्देलखण्ड अंचल में ठाकुर बाबा या बुन्देला बाबा की छोटी मूर्तियाँ चबूतरों में देखी जाती हैं। खेड़ापति या खैरा देवी, पीर बाबा, बरम, बाबा, बर देव, गौड़ बाबा, मसान बाबा, नागदेवता, झूला देवा, कारस देव की पूजा भी लोक देवता के रूप में की जाती है। वहीं बीजासन देवी के साथ, आल्हा हरदौल को भी बुन्देली संस्कृति में देवी-देवताओं के रूप में स्थापित कर स्मरण किया जाता है।

बुन्देलखंड में हरदौल जू को सर्वाधिक लोकप्रिय लोक-देवता के रूप में पहचान मिली है। समूचे बुन्देलखंड के सभी क्षेत्रों में जाति-धर्म से परे हरदौल बाबा के प्रति अपार श्रद्धा व आस्था देखी जा सकती है। सभी ग्रामीण-शहरी अंचलों में गली-गली में हरदौल जू के चबूतरे देखे जा सकते हैं। बुन्देली संस्कृति स्थानीय लोकगीतों में कूट-कूट कर भरी है। लोकगीतों में हरदौल जू का आराध्य देव के रूप में स्मरण किया जाता है।

हरदौल, ओरछा नरेश राजा जुझार सिंह के भाई थे। बुन्देली संस्कृति में हरदौल की मान्यता दूल्हादेव के रूप में है। हरदौल को आराध्य देव मानकर लोकगीतों द्वारा भाभी-देवर के अमर और पवित्र प्रेम का बखान घर-घर में शादी-विवाह के शुभ-अवसर पर किया जाता है-

*नजरियों के सामने तुम, हरदम लाला रहियो।  
तुमने करी भौजी से प्रीत, जैसी सब दुनिया की रीति।  
तुमने वहीं करी अनरीत, जैसे नांय निभा के ल्याये।  
तैसी सदा निभैयो।*

लाला हरदौल ओरछा राज्य के राजकुमार थे। बड़े भाई जुझार सिंह अपने भाई से बेहद प्यार करते थे। आपसी प्यार और एकता राज्य के कुछ लोगों से सहन नहीं हुई। राजा की अनुपस्थिति में हरदौल ही राज-काज सँभालते। वीरता, व्यवहार-कुशलता के कारण पूरे राज्य में हरदौल की लोकप्रियता बढ़ती देख किसी दरबारी ने जुझार सिंह की रानी पार्वती व हरदौल के प्रेम सम्बन्धों को लेकर मन गढ़न्त बातें जुझार सिंह तक पहुँचा दी। फिर क्या था जुझार सिंह के मन में सन्देह का बीज अंकुरित होने लगा। लाला हरदौल अपनी भाभी को माता के समान आदर का दर्जा देते थे। भाभी भी उन्हें पुत्रवत् स्नेह करती थी।

जुझारसिंह के मन में सन्देह बढ़ता ही गया और हरदौल व रानी के पवित्र प्रेम को उन्होंने चरित्र-हीनता समझकर रानी के समक्ष शर्त रखी कि यदि वो निष्कलंक हैं तो हरदौल को विष देकर अपनी पवित्रता का प्रमाण प्रस्तुत कर दें। हरदौल को ये बात पता चल गई। मजबूरन रानी को अपने पति के सन्देह को दूर करने हेतु पुत्र समान देवर को विष मिला भोजन दे दिया। अपनी भाभी के चरित्र को पवित्र सिद्ध करने के लिए लाला हरदौल ने हँसते-हँसते विषाक्त भोजन खाकर अपना बलिदान दे दिया। हरदौल के इस आत्म-बलिदान ने उन्हें अमर कर दिया। तभी से हरदौल को समूचे बुन्देलखण्ड के साथ पूरे देश में लोक-देवता के रूप में पूजा जाने लगा।

हरदौल की बहिन कुंजावती की शादी दतिया नरेश राजा रणजीत सिंह से हुई थी। कुंजावती अपनी बेटी रतन कुँआरी की शादी का आमंत्रण देने जब ओरछा पहुँची, तब उसे पता चला कि उसके प्यारे भाई हरदौल को तो जुझार सिंह ने विष देकर मरवा डाला है तो वो भी आत्म हत्या करने को तैयार हो गई।

*खान पान आदिक सकल तजने का कर मौल।  
लगी टेर के देखे, हाय लला हरदौल।*

तब हरदौल ने बहिन को दर्शन देकर शादी में भात (मावदा) भरने की बात कही। कुंजावती की पुत्री के विवाह के समय हरदौल प्रकट हुये और भात भरने की परम्परा का निर्वाह भी किया।

किंवदंती है कि भात परोसते समय हरदौल का केवल एक ही हाथ दिखाई दे रहा था। दूल्हे ने उस हाथ को पकड़ना चाहा तो हरदौल तुरन्त अन्तर्ध्यान हो गए। तब से उनका नाम दूल्हादेव हो गया। अपनी भानेज को उन्होंने पाँच गाँव भी दान किये। ये किंवदंती समूचे बुन्देलखण्ड में प्रचलित है। बुन्देलखण्ड में लोक-देवता हरदौल जू के बिना कोई भी शुभ-मांगलिक कार्य पूरे नहीं होते हैं। विवाह के पहले औरतें हरदौल या दूल्हादेव के चबूतरे पर जाकर पूजन करती हैं। शादी के बाद भी वर-वधू को आशीर्वाद लेने हरदौल जी के चबूतरे पर ले जाकर उनके हथेलियों से छापे भी लगवाये जाते हैं। हरदौल जू के आशीर्वाद बिना कोई भी शुभ-कार्य की शुरुआत नहीं होती है।

हरदौल जू की वीरता, उत्सर्ग, पवित्र प्रेम व बलिदान को लोकगीतों की मधुर सुर लहरियों में आज भी सुना जा सकता है-

*महाशोर भयौ, मरें हरदौल भात दयौ।  
महाशोर भयौ।  
लाला की करनी, कछु बरनी न जात।  
मण्डप के नीचे, सामान न समात।  
दान दायजो सुहात, सुवर्ण चाँदी जवाहरात।  
सब नयौ नयौ।*

## रिश्तों को बाँधती है ठिठोली

डॉ. अर्पणा बादल

भारतीय समाज विचित्रताओं से भरा तो है ही, एक विचित्रता और विरोधाभास बुन्देली समाज में पृथक से दिखता है। बुन्देलखण्डी ब्याह के अवसर पर जहाँ बारात में आये हुये बारातियों का भव्य स्वागत होता है, वहीं उनको भोजन कराते समय खूब गालियाँ सुनाई जाती हैं। खासतौर पर लड़के के पिता को केन्द्र में रखकर कहा जाता है।

विवाह के दूसरे दिन उनका प्रेम और सम्मानपूर्वक जेवनार ( भोजन कराना) होता है। छप्पन व्यंजन बनाये जाते हैं। कन्या पक्ष के लोग अपना सारा अपनापन और स्वागत का हुनर प्रदर्शित कर देते हैं। बड़े प्रेम से आसन पर बिठाते हैं। समधी के साथ उनके साथ के पुरुष और रिश्तेदार भी बैठाये जाते हैं। थाली में भोजन का एक-एक पदार्थ परोसा जाता है। अन्दर से महिलाओं की मंडली गा उठती है।

मैंने हरष करी न ररियाँ  
जनकपुर की सखियाँ  
हरि को आतर परसी सो पातर परसी  
सो परस दई दुनियाँ  
जनकपुर की सखियाँ  
हरि को आलू परसे रतालू परसे  
सो परस दई घुइयाँ



जनकपुर की सखियाँ  
हरि को लड्डू परसे सो बरफी पसरी  
सो परस दई गुझियाँ  
जनकपुर की सखियाँ  
हरि को निबुआ परसे करोंदा परसे  
सो परस दई अमियाँ  
जनकपुर की सखियाँ  
मैंने हरस करी न ररियाँ,  
जनकपुर की सखियाँ

इस गीत में थाली में परोसे जाने वाले विविध व्यंजनों के नाम गिनाये गये हैं, आलू, रतालू, घुइयां, लड्डू, बरफी, गुझिया, अचारों में निबुआ, करोंदा व अमियाँ का अचार व इन्हें जनकपुर की सखियों द्वारा खुशी-खुशी परोसा जा रहा है। पर जैसे ही मधुर भोजन का स्वाद बारातियों द्वारा लिया जाता है। महिलाओं द्वारा गालियों का क्रम शुरू होता है। भोजन का स्वाद और भी बढ़ जाता है। ये गालियाँ समधी और बारातियों को मनभावन लगनी हैं। कभी-कभी तो गालियों के नहीं सुनाए जाने पर समधी नाराज हो जाते हैं। भोजन का स्वाद बेस्वाद हो जाता है।

मधुवन के बीच श्याम सखा रसवादी के भौरा रे  
हमरे ससुरजी के तीन बिटियाँ रसवादी के भौरा रे  
एक गोरी एक कारी, एक फैशनदार रसवादी के भौरा रे  
हमरे ससुरजी के तीन बहुएँ  
रसवादी के भौरा.....  
एक इन्टर एक बी.ए., एम.ए. पास  
रसवादी के भौरा रे  
हमरे ससुरजी के तीन लड़का रसवादी के भौरा रे  
एक डिप्टी एक कलेक्टर एक थानेदार  
रसवादी के भौरा रे

पंगत के सुअवसर पर महिलायें समधी को सम्बोधित करते हुये गारी गाती हैं। इससे भोजन का स्वाद चौगुना हो जाता है-

कुत्ता पाल लेयो हो मेरे नये समधी कुत्ता पाल लेयो  
कुत्ता की खुरी जैसे मैदा की पूरी दो और लेयो,  
दो ओर लेयो रे मोरे नये समधी दो और लेयो,

कुत्ता के कान जैसे महोबे के पान बीड़ा चाब लेयो  
हो बीड़ा चाब लेयो रे मोरे नये समधी बीड़ा चाब लेयो  
कुत्ता की पूंछ जैसे समधी की मूँछ  
हत्था फेरे लेयो हत्था फेर लेयो रे मोरे नये समधी हत्था फेर लेयो  
कुत्ता की पीठ जैसी आगरे की छींट कुरता पहर लेयो  
कुरता पहर लेयो रे मोरे नये समधी कुरता पहर लेयो।

जेवनार के समय समधी जी से मनुहार की जाती है कि जैसे कुत्ता की खरी कोमल होती है, वैसे ही मैदा की पूरी बहुत ही नरम है, दो और लीजिये। मेरे नये समधी जी जैसे कुत्ता के कान होते हैं वैसे महोबे के पान मँगवाये गये हैं, पान चख लो। जैसे कुत्ता की पूंछ होती है वैसे ही हमारे नये समधी जी की मूँछ है, उस पर हाथ फेर लीजिये। जैसे धब्बेदार कुत्ते पीठ होती है। वैसे ही आगरे की छींट वाला कुर्ता है आप पहन लीजिये। कैसा विराधाभास है? एक ओर तो भोजन परोसने वाले नौजवान मनुहार कर करके एक-एक व्यंजन थाली में डालते हैं। दूसरी ओर महिलायें कहती हैं-

महोबा से आये समधी जेवन बैठे  
पातर दौना काये न लाये।  
जा दार बगर गई दौना काए न लाए।  
जा कढ़ी बगर गई दौना काए न लाए।  
जो सीरा बगर गओ दौना काए न लाए।  
जो रायतो बगर गओ दौना काए न लाये।

इस गीत में महिलायें परोसने वाले को शिक्षा देती हैं कि भोजन सावधानी से परसो। ऐसे हिदायत देती हुई कहती हैं-

धीरे-धीरे परसो बेटा बुंदेलन कें  
धोती ने मैली होय तुम्हारी।  
धोती तो मैया फिर धुल जैहे,  
ऐसे सजन हम फिर कहाँ पेंहे।  
धीरे-धीरे परसो बेटा छत्रसाल कें,  
धोती न मैली होय हमारी।  
छत्रसाल की साख रखन दें  
धोती तो मैया बजरिया में मिल दें  
ऐसे सजन हम फिर कहाँ पाहें।



इसी प्रकार जिस स्थान पर बारात रुकती है, उस जगह को जनवासा कहते हैं। वैवाहिक रस्में पूर्ण होने के बाद बारात को विदा करने के पहिले मान-सम्मान देने के लिये वधू पक्ष की महिलायें बाजे-शहनाई के साथ गारी गाती हुई जनवासा पहुँचती है। वहाँ बारात वाले अगवानी करते हैं। रंग-गुलाल महिलाओं पर छिटकी जाती है। समधी-समधन के बीच हँसी-मजाक होता है।

इसे रहस बधाव कहते हैं, वहाँ महिलायें गीत गाती हैं-

समधी के भाग में वदी न लुगाई मैं कैसे करों भाई  
दौड़े-दौड़े गये ते वे हलवाई के गए ते,  
शकर की जोरू बना दइयो भाई। मैं कैसे.....  
लेके लुगाई बागन में सो गये।  
आ गओं पानी बा धुर गई लुगाई। मैं कैसे.....  
दौड़े-दौड़े गये ते वे पंसारी के गए तो  
गुड़ की जोरू बना दइयो भाई। मैं कैसे.....  
लेके लुगाई बा, कोठा में पर गए।  
लग गये चींटा वे ले गए लुगाई। मैं कैसे.....  
दौड़े-दौड़े गए ते, वे बढई के गए  
तै लकड़ी की जोरू बना दइयो भाई। मैं कैसे.....  
लेके लुगाई वा बक्सा में धर दई लग गई दीमक,  
बा घुन गई लुगाई। मैं कैसे.....  
दौड़े-दौड़े गए ते वे सुनरा के गए  
ते सोने की जोरू बना दइयो भाई। मैं कैसे....  
लेके लुगाई बे छतिया पै सो गए।  
आ गए डाकू बे ले गए लुगाई। मैं कैसे.....  
समधी (फलाने) के भाग में वदी न लुगाई।  
मैं कैसे करों भाई।

इस तरह नाम ले लेकर गाया जाता है। हास्य रस का संचार करने वाले उपरोक्त बुन्देली गीत में लोक की अपनी कल्पना में किसी विधुर के लिये अनेक पत्नियों का निर्माण किया, परन्तु उसकी समस्त पत्नियाँ किसी न किसी कारण से अलग हो गई। बेचारे गरीब को शायद कोई अपनी कन्या नहीं देना चाहता। तभी यह परिस्थिति आई कि उसे शकर, गुड़, लकड़ी, सोने की पत्नी बनानी पड़ी। किन्तु दुर्भाग्य यहाँ भी उसे न छोड़ सका। उसकी पत्नियाँ क्रमशः पानी, चींटे, दीमक व डाकू द्वारा अलग कर दी गयीं।

एक गीत में सारे व्यंजनों के नाम आते हैं-

राजा जनक ने रचाई ज्यौनार तों  
जेंवे श्री राम जू लाला जेंवे.....  
बटरस चटनी कैथा वारी  
आम पुदीना की अनियारी  
इमली मजेदार गुर डारी  
कढ़ी रैहन की खट्टी और, हींग को बघार हो जेंवे  
चाउर दिल बकसा गुनकारी  
गंगा जमुनी दार नियारी  
आलू कटहर की तिरकारी  
गरम मसालेदार अनोखी, बनी है टेसदार हो। जेंवे.....  
सच सच चन्दा बरा बनाये।  
लौंगन न्यारे नाँव बढ़ाये  
पापर धवा गोंठ बढ़वाये.....  
फूल कढ़ाये भांत भांत के निवज बनी मजेदार हो। जेंवे.....

राजा जनक ने ज्यौनार रचाई है, वे जिसमें श्रीराम दूल्हा खा रहे हैं। उन्हें तरह-तरह के व्यंजन चटनी कैथा वाली, आम, पुदीने की अनियारी, इमली-गुड़ वाली कढ़ी, चावल, दाल, आलू-कटहल की सब्जी, बरा, पापर आदि परोसे गये हैं। इसी तरह यहाँ सालियाँ अपने जीजाजी को परेशान करती हैं। उनका मखौल उड़ती है। उनके सफर की परेशानी इस तरह से कहती हैं-

हम ने खबर ना पाई  
हो लाला कब के आये।  
बासी लुचई तिबासे लडुआ  
कुटकट-कुटकट आये।  
हो लाला कबके आये  
परों चलेते काल बसेते  
आज हमारे आये  
हो लाला कब के आये  
डाग डंगीली उस उरझीली  
उरझत-उरझत आये  
हो लाला कब के आये।  
नदियां लांधी नरवा पैरे।  
उभरत डूबत आये।  
हो लाला कबके आये।

सफर की थकान और भूख-प्यास की उदासी से भरा जीजा का चेहरा सालियों से मिलते और गीत सुनते ही गुलाब-सा खिल जाता है। जो काम तेल-फुलेल ने नहीं किया और ताजा भोजन भी वह प्रभाव न कर पाता, वो इस गीत ने किया। यह हास्य रस का प्रभाव है, हँसने के लिये एक नहीं हजार बहाने हैं। समधी जो हुक्का पी रहे हैं, उनकी मूँछे लम्बी और भूरी थी। चिलम की आग का कोई कण उन पर जा गिरा। बूढ़े समधी उचकते फिरे फर्श पर। यद्यपि बात बहुत बुरी हुई, आदमी उनकी नाराजगी के लिए परेशान थे। कोई हुक्का धरने वाले को डाँट रहा था, कोई हँसने वालों को, परन्तु गाने वाली स्त्रियों को परिहास का मौका मिल गया। सुनिये-

गुडुर-गुडुर साजन हुक्का पियें  
रस बारी के भौरा रे।  
हुक्का के ऊपर चिलम धरें  
चिलम के भीतर ककरा धरें,  
रस बारी के भौरा रे  
ककरा ऊपर धरी गुराखू,  
बाके ऊपर आगी धरें  
रस बारी के भौरा रे।  
बैठे फरस पै हुक्का पियें,  
मटुर मुटुर बड़ी बातें कैरें।  
रस बारी के भौरा रे।  
सजन ने लम्बौ संरूठा भरौ  
तिलगा उचटा के ओली गिरौ,  
रस बारी के भौरा रे।  
एक मुहर के उन्ना बरे,  
फरस पै उचकत सजन फिरें,  
रस बारी के भौरा रे।

अक्सर यह देखा जाता है कि लड़के वाले लोग लड़की वालों पर रौब दिखाना चाहते हैं। यह आम रिवाज देखा जाता है कि बराती इधर-उधर का तमाम सामान लाकर रौब दिखाते हैं। एक-दो घोड़े पर हो सकते हैं, परन्तु 50 घोड़े, चार हाथी ले जाने का अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि यह सब वस्तुएँ मंगनी की हैं। स्त्रियाँ इस बाह्याडम्बर की खूब खिल्ली उड़ती है-

भरी सभा में बैठे समधी  
बड़े-बड़े झल्ले मारे रे।  
हाँ-हाँ वे हूँ-हूँ वे  
समधिन छिनरौ लरका पाले,  
समधी मसनद झारे रे।  
हाँ-हाँ वे हूँ-हूँ वे।  
समधिन छिनरौ लरका पाले,  
समधी मसनद झारे रे।  
हाँ-हाँ वे हूँ-हूँ वे।  
समधिन कै भाई नौं-नौं बिटिया  
समधी सोच विचारे रे।  
हाँ-हाँ वे हूँ-हूँ वे  
काय भाई की के जे हाथी,  
कांसे न्याये घुरवा रे  
हाँ-हाँ वे हूँ-हूँ वे।  
मंगनी कर ले आये हाथी,  
भारे के घुरवा रे  
हाँ-हाँ वे हूँ-हूँ वे  
गुंज गोप मांगे की पैरें,  
लर भारे की डारें रे।  
हाँ-हाँ वे हूँ-हूँ वे।

वास्तव में बारातों के बाहरी आडम्बरों की हास्य रस में बड़े सुन्दर ढंग से आलोचना हो जाती है, किन्तु यह अधिकार केवल स्त्रियों को ही प्राप्त है। श्री कन्हैयालाल शर्मा 'कलश' ने हास्य सम्बन्धी एक लेख में कहा है-

लोगों का कहना है हँसना आदमी की प्राकृतिक प्रवृत्ति है। हँसने से स्वास्थ्य ठीक रहता है। जब मन में हँसी आती है तो वह रोकी नहीं जा सकती। जहाँ से आदमी इकट्ठे हों, चाहे मेला हो, चाहे बारात हो, चाहे दावत का डौल हो, हमें हँसने का मौका मिलता है। अजीब-अजीब शकल सूरतें, बातचीत और नहीं तो खाने-पीने के ढंगों पर ही हमें हँसी आ जाती है। हमारे बुन्देलखण्ड में यह रिवाज है कि विवाह के अवसर पर, विशेषकर दावतों में हास-परिहास का अच्छा मौका मिलता है। इसके लिये विशेष गीत भी होते हैं। जिनको 'ररियां या गारियां' कहते हैं। ररी-

मसखरी का अर्थ गाली-गलौच नहीं है। चाहे बूढ़े हों, चाहे छोटे बच्चे, परन्तु ये हास्य-गीत बेतकुल्लफी से गाये जाते हैं। छोटे-बड़े सब सुनते हैं और हँसते रहते हैं, बिलकुल बुरा नहीं मानते।

विवाह तो कन्या व वर का होता है, परन्तु इस अवसर पर महिलायें सभी व्यक्तियों के नाम ले-लेकर भरपूर मनोरंजन करती हैं। कई बार महिलायें स्वयं ही महिलाओं को गालियाँ देती हैं। कोई बुरा भी नहीं मानता क्योंकि भाव जो निर्मल होते हैं। इनसे रिश्ते बिगड़ते नहीं रिश्तों में मधुरता आती है।

आज का युग मशीनी युग है जहाँ चारों ओर परिश्रम सभ्यता से लोग प्रभावित हैं। ग्लोबल युग में सारी दूरियाँ समाप्त हो गई हैं। गाँव भी पश्चिमी सभ्यता में रंगे रहते हैं। ऐसी अवस्था में लोकगीत प्रायः लुप्त होते जा रहे हैं। आजकल की युवा पीढ़ी इन लोकगीतों को गाना असभ्यता का सूचक मानती है। इन गीतों को सहेजने की आवश्यकता है, क्योंकि ये लोकगीत हमारी अमूल्य धरोहर है।

---

#### संदर्भ

1. छत्तीसगढ़ एवं बुन्देली लोक गीतों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. दुर्गा पाठक, संस्करण 1994 पृष्ठ 153, 451
2. लोकायतन, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना आलेख लोक गीतों में प्रतिबिम्बित भारतीय जीवन, अर्पिता बनर्जी, पृष्ठ 70
3. चौमासा अंक 36, बुन्देली मंगल गीत, मिथलेश तिवारी, पृष्ठ 47-45
4. बुन्देलखण्ड की संस्कृति गीत, डॉ. प्रेमलता नीलम, संस्करण 2009 पृष्ठ 87
5. बुन्देली साहित्य का इतिहास, डॉ. आरती दुबे, संस्करण 2011, पृष्ठ 481

## बुन्देलखण्ड के लोकनृत्य

डॉ. गायत्री बाजपेयी

मनुष्य अपनी आत्मीय आनन्दानुभूतियों के प्रकटीकरण हेतु जिन माध्यमों को अपनाता है, उनमें नृत्य का अपना विशिष्ट महत्त्व है। संगीत की तीन विधाओं गायन, वादन एवं नृत्य में नृत्य लोकरंग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। देवाधिदेव शिव का ताण्डव नृत्य, भगवान कृष्ण का रास नृत्य व देवराज इन्द्र के दरबार की अप्सराओं का नृत्य प्रसिद्ध है। नृत्य सृष्टि के प्रारंभ से ही भाव-प्रदर्शन का साधन रहे हैं। जीवन के उत्साह, उल्लास एवं आनंद को प्रकट करते ये नृत्य संस्कृति के अभिन्न अंग हैं, जिनके अभाव में हमारे उत्सव एवं पर्व पूर्णता को प्राप्त नहीं होते। इसका संकेत करते हुये डॉ. सत्येन्द्र ने लिखा है- 'लोकनाट्य का जन्म तीन वासनाओं की प्रक्रिया है। आकर्षण के उपलक्ष्य करने की चेष्टा से, अनाकर्षण से बचने की चेष्टा से तथा इन चेष्टाओं के लिए होने के रूप में प्रत्येक नृत्य में किसी न किसी प्रकार से टोने संकेत से मेघ बरसा के लिए नृत्य किये जाते हैं। अति वर्षा हो तो उसे रोकने के लिए नृत्य किये जाते हैं। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नृत्य किये जाते हैं। देवता का शरीर में आवाहन करने के लिए नृत्य होते हैं। फसल अच्छी हो इसलिए नृत्य होते हैं... विवाह के अवसर पर भी अनुष्ठानिक नृत्य का विधान रहता है। लोकनृत्यों का विषय जीवनचक्र भी होता है। मौन संकेत, कृषि तथा संतति वृद्धि, भूत-प्रेत निवारण, जादू-टोना, ऋतु आवाहन, विवाह, जन्म-मृत्यु ये सभी किसी न किसी रूप में संकेत मुद्राओं अथवा प्रतीक अभिप्रयाओं से नृत्यों के द्वारा प्रकट होते रहते हैं।

शौर्य सृजन धर्म एवं आस्था की पावन धरा बुन्देलखण्ड में अनेक भावों से प्रेरित विविध नृत्य विधायें प्रचलित हैं। लोकरंजक आडंबरहीन ये लोकनृत्य लय-ताल के बंधने से कुछ सीमाओं तक स्वतंत्र होते हैं। इनमें पुरुषों और महिलाओं दोनों की सहभागिता होती है। यद्यपि कुछ नृत्य केवल पुरुषों और कुछ महिलाओं से ही विशेष रूप से सम्बन्धित होते हैं। पुरुषों से सम्बन्धित नृत्यों में दीवाली नृत्य, बरेदी नृत्य, बसदेवा नृत्य, शैला नृत्य, कानड़ा नृत्य, ढिमरयाई नृत्य, धोबिया नृत्य, जवारा नृत्य तथा रावला आदि नृत्य

प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कुछ महिलाओं द्वारा नृत्य भी किए जाते हैं। जिसमें प्रसिद्ध राई, कलश नृत्य, थाली नृत्य, बधावा नृत्य, कछवाई नृत्य, चीकट नृत्य, लाकौर नृत्य, बहू उतरने का नृत्य, देवी-देवता पूजन नृत्य आदि हैं। इसके अतिरिक्त बुन्देलखण्ड में कुछ और भी नृत्य प्रचलित हैं, जिनमें पुरुष और महिलायें दोनों ही भाग लेते हैं। बुन्देली लोक में प्रचलित इन नृत्यों का परिचय अग्रांकित है-

### दीवाली नृत्य

इसे चाचर या मौनिया नृत्य भी कहा जाता है। बुन्देलखण्ड में प्रचलित यह नृत्य दीपावली के अवसर पर गोवर्धन पूजा के समय होता है। इसे मुख्य रूप से ग्वाल, दउआ, अहीर आदि करते हैं। नृत्यकार दीवाली के दूसरे दिन मौन व्रतधारण करते हैं और बारह गाँवों में फेरी लगाते हैं, जिसके पीछे लोकविश्वास है कि बारह गाँव की फेरी लगाने पर एक गाय के दान करने का पुण्य प्राप्त होता है। बुन्देलखण्ड में इस नृत्य के तीन रूप प्रचलन में हैं, जिसका उल्लेख करते हुये डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने लिखा है- हाथों में केवल मोरपंखों के मूठे लेकर मोनिया गोल घेरे में वाद्य ध्वनि के साथ नृत्य करते हैं। शुरू में गति मंद होती है और अंग संचालन मंथर, लेकिन तीव्र गति होने पर कला का उत्कर्ष दिखाई पड़ने लगता है। हाथों और जंघाओं की नस-नस थिरक उठती है और कौड़ियों की खनक तथा फुंदनों की हलन से संयुक्त होकर इतनी ऊर्जस्वित हो जाती है कि ओजस्वी पौरुष झलकने लगता है। फिर ध्वनि धीमी पड़ जाती है और नृत्य रुक जाता है।

इस नृत्य में मुख्य रूप से कमर में घुँघरू तथा वस्त्राभूषणों में सलूका, घुटनों तक परदनी, आँखों में काजल, माथे पर डिठूला, कमर में झोला, हाथ में लकड़ी का डंडा या मोर पंख प्रमुख हैं। वाद्य-यंत्रों में ढोलक, मंजीरा, कसावटी, रमतूला, झींका आदि प्रमुख हैं। चाचर या दीवाली नृत्य में एक नर्तक होता है, लेकिन उसके सहयोग करने वाले संगीतकार सात-आठ होते हैं। दीवारी नृत्य कृष्ण एवं उनके सखाओं का रूपक प्रस्तुत करता है। इस नृत्य में गाये जाने वाले गीत ओज से परिपूर्ण होते हैं-

*अरे ढोल के ओ बजवैया तोरे न आयी ओठन रेख रे  
एक बजौरी ऐसी बजा दे मोरी नग-नग फरकै देह रे।*

### डंडा नृत्य

नृत्य का वह रूप जो चाँचर या गरबा होता है, मौनिया द्वारा सम्पादित होता है। हर नर्तक नृत्य करते हुए अपने दोनों डंडों से अगल-बगल, सामने-पीछे के साथियों को अपने कौशल का प्रदर्शन करते हुए उत्तर देता है। कभी बैठकर और कभी लेटकर जब वह विविध मुद्राओं को व्यक्त करता है, तब उसकी कला देखने योग्य होती है।

### लाठी नृत्य

गाँवों में अधिक प्रचलित है, जो दाँव-पेंच की कुशलता के साथ-साथ व्यायाम की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। आक्रमण करने या आक्रमण से रक्षा करने के दृश्य इस नृत्य के अंग हैं।

### शैला नृत्य

बुन्देलखण्ड में प्रचलित शैला नृत्य में पुरुष विशेष रूप से भाग लेते हैं। इस नृत्य में आदिकालीन आखेट युगीन संस्कृति मुखरित होती है। इस नृत्य में पुरुष अपने हाथों में सूखी लकड़ी के डण्डों को तेल में भिगोकर लेते हैं। नृत्य करने वाले घेरा बनाकर आसपास आते-जाते हुये नृत्य करते हैं। गीत गाते हैं-

*अरे भइया औ ओ.....*

*चित्रकूट के घाट पै भइया सन्तन की भीर रे।*

*सो तुलसीदास चन्दन घिसै सौ तिलक देत रघुवीर*

शैला नृत्य के कई भेद हैं, जैसे- हरौता शैला, झुलनिया शैला, बैठक शैला, शिकार और अटारी शैला।

### कांडरा नृत्य

बुन्देलखण्ड में प्रचलित कांडरा नृत्य धोबी जाति का पुरुष प्रधान नृत्य है। यह नृत्य जैसे तीज-त्योहारों एवं शादी-विवाह के अवसर पर किया जाता है। यह गीत पर आधारित नृत्य है, इसकी प्रस्तुति सुमरिनी से की जाती है।

वस्त्राभूषणों की दृष्टि से इस नृत्य में सफेद चुन्नटदार बागा, सिर पर साफा जिसमें मोरपंख खोंसे जाते हैं। कमर में रंगीन गमछा बांधा जाता है। घुटनों तक धोती पहनी जाती है। पैर में घुँघरू बांधे जाते हैं। नर्तक के सहायकों के हाथों में मृदंग, कसावरी, लोटा और टिमकी आदि प्रमुख वाद्य होते हैं।

नर्तक घेरा बनाकर नाचते हैं, जिसे कोड़ा कहते हैं। घेरे में नाचने के कारण ही इस नृत्य का नाम कांडरा पड़ा है। नृत्य करते समय बिरहा या बीरा गीत गाया जाता है-

सोनो होय तौ पैरियो, नातर भाग भले दोई कान।  
छीता हौवे तो ब्याइयौ, नातर कांवरै श्री भगवान।  
रानीपुर में मृदंगी बजौ रे, और मउ में बजी मौचंग।  
नाचत आवत पुरानी मउ को, बरेन ऊके सांसऊ गौर अंग।  
अरे भाले की अनी से टोडारौ, पलेरा भाले की अनी रे।  
घर नैया रइया राव जू, धरे नइयां किशोरी महाराज  
धरै तो नइयां रन दूला कौ आड़ी करत तरवार। भाले.....।

### ढिंमरयाई नृत्य

यह नृत्य ढीमर जाति के लोगों में शादी-विवाह के अवसर पर विशेष रूप से होता है। यह स्त्री वेषधारी पुरुष प्रधान नृत्य होता है। इस नृत्य में नर्तक भजन एवं लोकगीतों को गाते हुये नाचता है-

कहां बिलमा लई ती राजा दुफरिया  
फांस ल्याव राजा जो सोने की मछरिया

वस्त्राभूषणों में प्रमुख रूप से घुटने तक परदनी, सलूका, साफा, पैरों में घुँघरू आँखों में काजल आदि लगाते हैं। वाद्य-यंत्रों में कसावरी, मंजीरा, ढोलक, झींका, हारमोनियम, लोटा, सारंगी आदि लिये जाते हैं। तीज-त्योहारों पर यह नृत्य विशेष रूप से किया जाता है। नर्तक मण्डली अपने मालिकों के घर जाती है तथा नृत्य कर बख्शीश प्राप्त करती है। ढीमर लोग नृत्य के बाद बच्चों को मछली पकड़ने वाले जाल में झुलाते हैं। ऐसा लोक विश्वास है कि ऐसा करने से मालिक की आधियों-व्याधियों से रक्षा होती है। शादी-ब्याह में भी ये लोग नृत्य करते हैं।

### रावला नृत्य

रावला नृत्य की मंडली में छः-सात पुरुष रहते हैं। नृत्य करते समय संत कवि रैदास के भजन गाते हैं तथा श्लील व अश्लील स्वांग भी करते हैं। इस नृत्य में मृदंग, झींका, कसावरी, रमतूला, मंजीरा, हारमोनियम आदि का प्रयोग करते हैं। बुन्देलखण्ड में ग्रामीण जन रावला नृत्य की मनौती मानते हैं तथा मनौती पूर्ण होते ही रावला नृत्य करवाते हैं।

### सैरा नृत्य

सैरा नृत्य सैरा गीतों के साथ किया जाता है। सैरा गीत भुजरियों के अवसर पर गाये जाते हैं। नर्तक मण्डली में से एक नर्तक सैरा गाता है, फिर उसी को अन्य नर्तक दुहराते हुये विविध मुद्राओं में नृत्य प्रस्तुत करते हैं। इसमें नर्तक एक गोला बनाते हैं, बीच में ढोलक और मंजीरा बजाने वाला खड़ा होता है। गीत की टेक के साथ ही सम्पूर्ण घेरा घूमता है हाथों में लिये डंडों पर आघात करता है। डंडों के परस्पर आघात से जो ध्वनि निकलती है, वह संगीत के साथ-साथ चलती है। नर्तक व्यक्ति कभी जमीन पर झुकते-झूमते, लेटते-बैठते, घूमते तथा निहुरते हुये आड़े-तिरछे होकर समान रूप से डण्डों पर प्रहार करते हैं।

सैरा नृत्य में कम से कम आठ और अधिक से अधिक बीस व्यक्ति भाग लेते हैं। वस्त्र सज्जा इस नृत्य में सामान्य होती है। गीत के बोल पर नर्तक थिरक उठता है-

कंजरा के कांटे वागें बेंदी सौत की कोर।  
आरों के नेहा लगे मोय साले आधी रात।

### जवारा नृत्य

जवारा नृत्य दक्षिण भारत के कथकली नृत्य की भाँति पुरुष प्रधान नृत्य है। यह अनुष्ठानिक नृत्य है। यह नृत्य आदि शक्ति देवी दुर्गा-काली की स्तुति के अभिप्राय से चैत्र एवं क्वार मास की नवरात्रि के अवसर पर किया जाता है। नवरात्रि के प्रारंभ होते ही प्रथम दिन दिवाला बनाया जाता है। मिट्टी के बर्तन में जवारे बोये जाते हैं। इन जवारों के सामने नौ दिन तक निरन्तर दीपक प्रज्वलित किये जाते हैं। नौ दिन तक देवी स्तुति के गीत गाये जाते हैं, जो नर्तकों के मन में उमंग एवं उत्साह का संचार करते हैं-

मोरी मैया पत राखियो जानकी  
मैया के मढ़ में चम्पा घनेरी, बांस भई पुलवन की।  
मैया के मढ़ में पौद चनैरी, पौद भई बछड़न की।  
मैया के मढ़ के बहुएँ घनेरो, पौद भई लरकन की।

जवारा नृत्य में गीत गाने वालों की टोलियाँ होती हैं जैसे भजने गाने वाली टोली, भाव खेलने वाले तथा ढाल-निशान



लेकर चलने वाली टोली। वाद्य-यंत्रों में ढोल मंजीरें, ढोलक आदि का उपयोग किया जाता है। इस नृत्य में गुनिया ही प्रमुख पात्र होते हैं, जो लोहे के नुकीले भाले से अपने गालों एवं जीभ को भेधते हैं, जिसे 'बाना' नडुवाना कहा जाता है। गुनिया लोग इसी अवस्था में नृत्य करते हैं, तो दर्शक के मन में अमित छाप छोड़ते हैं।

इस नृत्य को शेर नृत्य भी कहा जाता है, क्योंकि इस नृत्य में नर्तक जाँघिया पहनकर सम्पूर्ण शरीर में रंगों के माध्यम से शेर समान काली-पीली धारियाँ बनाते हैं तथा एक लम्बी पूँछ बनाई जाती है। यह नृत्य अत्यधिक रोचक होता है।

### खप्पर नृत्य

पुरुष वर्ग द्वारा किया जाने वाला यह नृत्य नवरात्रि के अवसर पर किया जाता है। नवरात्रि में बोये गये जवारे नौ दिनों बाद जब विसर्जन हेतु ले जाए जाते हैं तब एक व्यक्ति हाथ में खप्पर लेकर आगे-आगे चलता है। खप्पर वाले हाथ को अर्धचन्द्राकार घुमाते हुये आगे बढ़ता है। बीच-बीच में वह घूमते एवं झुकते हुये विभिन्न मुद्राओं को प्रदर्शन करता है। साथ में जाने वाले अन्य व्यक्तियों द्वारा खप्पर में होम लगाया जाता है। इस नृत्य में नर्तक केवल घुटनों तक धोती पहनता है, बाकी बदन निर्वस्त्र रहता है। लोक मंगल की कामना से किया जाने वाला यह एक अनुष्ठानिक नृत्य है।

### झंगड़ नृत्य

झंगड़ नृत्य भी अनुष्ठानिक पुरुष प्रधान नृत्य है। यह नृत्य देवउठवनी एकादशी, नवरात्रि एवं भूत-प्रेत लगने के अवसर पर किया जाता है। इस नृत्य में एक व्यक्ति घुल्ला बनकर स्थान विशेष पर होम लगाता है तथा वहीं आसन लगाता है। उसके निकट कुछ अन्य व्यक्ति भी बैठते हैं। इस नृत्य में एक व्यक्ति द्वारा बड़े मुँह के मटके पर कांसे की उल्टी थाली रखी जाती है। जिस पर जोर से पटका हाथ जाता है तथा लोहे के चूरे से आघात किया जाता है, घुल्ला बना व्यक्ति इस आवाज को सुनकर अंग प्रदर्शन करता है। इस नृत्य में गीत भी गाये जाते हैं। नर्तक घुटनों तक धोती पहनता है तथा पूरा शरीर खुला रहता है। सिर की शिखा की गाँठ खुली रहती है। नृत्य समाप्ति के बाद शिखार की गाँठ बांध दी जाती है।

### बरेदी नृत्य

बरेदी नृत्य पशु चराने वाले अहीरों द्वारा किया जाता है। पशुओं को चराने वाले को बरेदी कहा जाता है। जंगल में पशुओं को चराने के लिए जाने वाले बरेदी जब पाँच-छः की संख्या में हो जाते हैं तब वे गीत गाते हुये नृत्य करते हैं। तीज-त्योहार पर बरेदी लोग अपने मालिकों के घर जाकर नृत्य करते हैं तथा बख्शीश प्राप्त करते हैं। इस नृत्य की वेशभूषा साधारण होती है। कमर के नीचे घुटनों तक परदनी के ही आधे टुकड़े से तन ढँका जाता है। श्रृंगार हेतु ये नर्तक वृक्षों की शाखाओं को शरीर में बांधते हैं।

वाद्य-यंत्रों के रूप में दो लड़कियों लाठी का उपयोग करते हैं। लाठी के ऊपर दोनों लड़कियों से प्रहार करके मधुर ध्वनि निकालते हैं। नगड़िया, ढोलक, मंजीरा का भी प्रयोग इस नृत्य में किया जाता है। पद संचालन एवं विभिन्न शारीरिक मुद्राओं द्वारा यह नृत्य प्रदर्शन होता है।

### गड़ियाउ नृत्य

यह नृत्य गड़िया जाति के लोगों द्वारा किया जाता है। पुरुष प्रधान यह नृत्य विशेष रूप से पर्वों एवं त्योहारों पर किया जाता है। इस नृत्य में सभी पुरुष गोला बनाकर बैठ जाते हैं। गोले के भीतर एक पुरुष गीत के बोलों पर नृत्य करता है। वाद्य के रूप में सूपा बजाया जाता है।

### कहरवा नृत्य

कहार जाति में प्रचलित यह नृत्य कहराई भी कहलाता है। त्योहार एवं विवाह आदि अवसरों पर गीत के साथ यह नृत्य किया जाता है। नर्तक नृत्य करते समय हुड़क नामक वाद्य को बजाते हैं। गीत के रूप में कहरवा एवं दादरा गाये जाते हैं।

*बेला नदी नावरे में डाल आई ककना*

*काहे कै बाजूबंद काहे कै ककना*

*रूपे के बाजूबंद सोने के ककना।*

*रेशम की चोली कसे दोई जुबना*

*चंदावरण वर मिल गये सूरज से मिली गये जेठ*

*बिजली सी चमकत ननदी मिली बेला चमकत चारऊं देश।*

## खड़ताल नृत्य

पुरुष प्रधान यह नृत्य ग्रामीण क्षेत्रों में रात्रि के समय रामधुन को गाते हुये होता है। वाद्य यंत्रों में ढोलक, तारें, झूला एवं खड़ताल विशेष रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं। खड़ताल अंगूठे एवं उंगलियों में फंसाकर बजाई जाती है। लकड़ी के इन वाद्य यंत्रों में ऊपर घुँघरू तथा किनारों पर पीतल की फलियाँ तार द्वारा कसी जाती हैं। खड़ताल वादक घुटने के बल बैठकर या खड़े होकर विभिन्न मुद्राओं द्वारा नृत्य करता है।

## खंजड़ी नृत्य

खंजड़ी नृत्य त्योहार एवं विवाहादि अवसरों पर किया जाता है। खंजड़ी नामक वाद्य के साथ ही यह नृत्य किया जाता है, इसलिये इसे खंजड़ी नृत्य कहते हैं। नर्तक की वेशभूषा मुख्य रूप से पायजामा या घुटनों तक परदनी, मिरजई और पगड़ी होती है। गले में दुपट्टा होता है। सहयोगी वाद्ययंत्रों में केंकड़ी और लोटा भी बजाते हैं।

## बसदेवा नृत्य

बुन्देलखण्ड में प्रचलित बसदेवा नृत्य विशेष रूप से ठंड एवं गर्मी के मौसम में होता है। यह नृत्य सुबह पाँच बजे तक ही होता है। नृत्य के साथ गीत भी गाये जाते हैं, जो सरमन व भरभरी से सम्बन्धित होते हैं। नृत्यकर्ता एक भी होता है और एक से अधिक भी होते हैं। पोशाक में घुटनों तक परदनी तथा पूरी बांह की मिरजई एवं सिर पर साफा जिसमें छोटी-सी पीतल की घंटी तथा मोरपंख बंधे होते हैं। पैरों में घुँघरू पहने जाते हैं। नर्तक घुटने मोड़कर एवं कमर पर बल देकर गर्दन तथा हाथ से विभिन्न मुद्राएँ बनाकर नृत्य प्रदर्शन करता है।

## राई

राई बुन्देलखण्ड का सुप्रसिद्ध नृत्य है, जिसका प्रदर्शन विदेशों में भी अत्यधिक सम्मान के साथ किया जाता है। राई मानव मन की उमंगों को उद्घाटित करने वाला नृत्य है, जो बारह महीने नाचा जाता है। इसमें कई बेड़नियाँ एकत्रित होकर नृत्य करती हैं। नर्तकों के साथ में मृदंग वाला भी नृत्य करता है। बेड़नी के मुख पर प्रकाश डालने के लिये नाई तेल का जलता हुआ

पलीता बेड़नी के मुख के समीप लिये रहता है। बेड़नी की प्रमुख पोशाक चूड़ीदार पाजामा के ऊपर घाघरा, कंचुक, ब्लाउज और ऊपर से ओढ़नी होती है तथा पैरों में घुँघरू बांधे जाते हैं। नृत्य के साथ फागें भी गाई जाती हैं-

राते परदेशी संग सोई छोड़ गयौ निरमोई।  
अंसुआ ढड़क परे गालन पै जुबन भीग गये दोई  
गोरे तन की चोली भींजी दो-दो बेर निचोई  
ईसुर परी सेज के ऊपर हिलक-हिलक के रोई।

## कलश नृत्य

बुन्देलखण्ड में संस्कार विशेष पर किया जाने वाला यह नृत्य अत्यधिक चमत्कारिक है। इसमें महिलायें अपने अद्भुत कौशल का परिचय देते हुये प्रज्वलित दीपक रखे कलश को सिर पर रखकर नृत्य करती हैं। नृत्य की विविध मुद्राओं को प्रस्तुत करते समय स्त्रियाँ सिर पर रखे कलश को हाथ भी नहीं लगाती हैं। हाथों से विविध मुद्राओं का प्रदर्शन करते हुये ये महिलायें कभी पंजों पर चलती हैं, तो कभी कमर को लचकाती-बलखाती अनेक मुद्रायें दिखाती हैं।

## लाकौर नृत्य

विवाह के अवसर पर कन्या पक्ष की महिलायें जनवासे में वर पक्ष के यहाँ लाकौर लेकर जाती हैं, बारातियों पर अबीर-गुलाल एवं रंगों की बौछार की जाती है गुलाल के रंगों से सराबोर सौभाग्यशाली स्त्रियाँ मृदंग, ढपला या बैण्ड बाजा की ध्वनि के साथ लम्बा सा घूँघट निकालकर हाथों से विभिन्न मुद्राओं को प्रदर्शित करते हुये नृत्य करती हैं। लाकौर नृत्य की परम्परा धीरे-धीरे विलुप्त होती जा रही है। यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों में इसका प्रचलन अभी बरकरार है।

## चीकट नृत्य

चीकट नृत्य विवाह संस्कार के अवसर पर ही किया जाता है। बुन्देलखण्ड में विवाह के अवसर पर वर या कन्या के मामा द्वारा भात चढ़ाने की प्रथा है। अतः भाई द्वारा लाई गई चीकट को बहन-बहनोई खड़े होकर उतारते हैं। इस अवसर पर ढपला की ध्वनि पर महिलाओं द्वारा नृत्य किया जाता है।



## बहू उतारने का नृत्य

बुन्देलखण्ड में नई बहू के आगमन पर प्रथम बार गृह-प्रवेश से पूर्व सास बहू को गोद में लेकर नाचती है। इसी अवसर पर महिलायें वर-वधू को देवी मंदिर ले जाती हैं, जहाँ हाथें लगाये जाते हैं। महिलाओं द्वारा नृत्य किया जाता है।

## जुगिया नृत्य

इसे बाबा-बाई नृत्य भी कहा जाता है। बुन्देलखण्ड में जब बारात कन्या पक्ष के यहाँ चली जाती है, तो रात्रि के समय सभी महिलायें एकत्रित होकर बहलाल का खेल खेलती हैं। जिसमें बाबा-बाई का नृत्य किया जाता है। इस नृत्य में एक स्त्री-पुरुष वेश धारण करती है तथा दूसरी स्त्री उसकी साथी होती है। दोनों मिलकर विभिन्न मुद्राओं को प्रस्तुत करते हुये नृत्य करते हैं। इस नृत्य में जो बाबा-बाई बनते हैं उनका काल्पनिक विवाह किया जाता है। इस तरह महिलायें रात्रि जागरण करते हुये विविध मनोभावों को प्रकट करती हैं। इस नृत्य में ढोलक, चिमटा, लोटा, कनस्तर आदि घरेलू वाद्य-यंत्रों को बजाया जाता है। इस नृत्य को केवल महिलायें ही देखती है। पुरुषों का प्रवेश निषेध होता है।

## राछ बधाव नृत्य

बुन्देलखण्ड में वर-वधू जब विवाह संस्कार सम्पन्न हो जाने के उपरांत जनवासे में जाते हैं, तब कन्या पक्ष की महिलायें जनवासे तक उन्हें पहुँचाने जाती है। जनवासे पहुँचकर महिलाओं द्वारा नृत्य किया जाता है, जिसे राछ बधाव नृत्य कहा जाता है। इस नृत्य में वाद्ययंत्र के रूप में बैण्ड- बाजे ही बजाये जाते हैं। लाकौर नृत्य की भाँति इस नृत्य का प्रचलन भी दिनोंदिन घटता जा रहा है।

## बधावा नृत्य

पुत्र के जन्म के अवसर पर महिलाओं द्वारा यह नृत्य किया जाता है। भतीजे के जन्म की सूचना प्राप्त होते ही बुआ बधावा लेकर आती है। भाई के घर अपनी खुशी का इजहार करते हुये बुलौआ करवाती है, तब यह नृत्य सम्पन्न होता है। नृत्य में कभी एक महिला तो कभी एक से अधिक महिलायें भाग लेती हैं। वाद्ययंत्रों में ढपला या बैण्ड बाजे ही प्रयुक्त होते हैं।

## चंगेज नृत्य

चंगेज नृत्य भी पुत्र जन्मोत्सव के अवसर पर किया जाता है। बुआ द्वारा बाँस की बनी हुयी चंगेज जो दौरिया के आकार की होती है- लाई जाती है, उसके साथ कपड़े और गहने भी लाये जाते हैं। इसी चंगेज में बुआ द्वारा लाये कपड़े एवं गहने पहनाकर शिशु को लिटाया जाता है। बुआ द्वारा चंगेज को अत्यधिक आकर्षक ढंग से सजाकर लाया जाता है। भाई के दरवाजे पर वह इसे सिर पर रखकर नृत्य करते हुये लाते है। आजकल चंगेज के स्थान पर पालना का प्रचलन हो गया है।

## राई दामोदर नृत्य

महिलाओं द्वारा किया जाने वाला यह राई दामोदर नृत्य आनुष्ठानिक है। यह नृत्य कार्तिक मास में स्नान करने वाली महिलाओं द्वारा किया जाता है। राधा-कृष्ण की पूजा-अर्चना करने वाली महिलायें अत्यधिक भक्ति भाव से राधा-कृष्ण की लीलाओं का प्रस्तुतीकरण करते हुये यह नृत्य करती हैं। इस नृत्य के साथ गीत भी गाये जाते हैं-

आ जैहों बड़े भोर दही रे लेके आ जैहों बड़े भोर  
बइयाँ गहो जिन नन्द के लाला,  
मैं तो बड़ी कमजोर, आ जैहों.....  
नई मानो तो धर ले मटकी  
लिखे पपइरा मोर, आ जैहों.....  
हट ने करो अब नंद के लाला  
मोई खो रखो बरजोर, आ जैहों.....  
चन्द्रसखी बस हो गई राधा  
छलिया जुगल किशोर, आ जैहों.....

## बधाई नृत्य

बधाई नृत्य बुन्देलखण्ड में देवी-देवताओं के मंदिर में किया जाता है। माता निकलने (चेचक) के पश्चात् पूजन के समय अथवा कोई मनौती पूर्ण होने पर महिलाओं द्वारा यह नृत्य किया जाता है। वाद्य-यंत्र के रूप में बैण्ड-बाजा या ढपला ही प्रयुक्त होता है।

## दोजनियां

दोजनियां नृत्य भिक्षाटन करने वाली स्त्रियों द्वारा किया जाता है। इसमें दो महिलायें या कन्यायें रहती हैं, जो गीत की धुन पर नृत्य करती हैं। इनकी पोशाक घाघरा, चोली, दुपट्टा होती है तथा पैरों में घुँघरू होते हैं। वाद्य यंत्रों का प्रयोग इनमें नहीं होता। केवल गीत के साथ नृत्य किया जाता है-

काये कहीं ती दोजनियाँ  
बब्बा काये करीं ती दोजनियाँ  
पैली ले गई परदनियाँ  
काय करीं ती दोजनियाँ

## अन्य नृत्य

स्त्री-पुरुषों के इन नृत्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य सामूहिक नृत्य भी होते हैं। जैसे-

## नौटंकी नृत्य

बुन्देलखण्ड के ग्रामीण अंचलों में प्रचलित नौटंकी नृत्य में एक विदूषक होता है, एक नृत्यकार। नर्तक महिला या पुरुष दोनों हो सकते हैं। वाद्य-यंत्रों में ढोलक, नगाड़ा, नगड़िया, हारमोनियम, मंजीरा आदि प्रमुख होते हैं। गीत गाते हुये नृत्य किया जाता है-

माई तोरे मड़नो अदरा पुकारे  
देव लुगाई, घरै जांव हो।  
माई तोरी लागी किवरिया।

## ढोला नृत्य

ढोला नृत्य का प्रचलन ग्रामीण अंचलों में मिलता है। इस नृत्य में राजा नल एवं दमयन्ती की कथा पर आधारित गीत गाये जाते हैं। ढोलक, मंजीरा, हारमोनियम आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया जाता है। यह नौटंकी नृत्य की भांति मनोरंजक है, जिसमें विदूषक प्रमुख आकर्षण का केन्द्र होता है।

## शिखण्डी नृत्य

बुन्देलखण्ड अंचल में प्रचलित शिखण्डी नृत्य को हिजड़ा

नृत्य भी कहा जाता है। यह नृत्य मांगलिक अवसरों पर खसुवा लोगों द्वारा किया जाता है। जिसमें खसुवा लोग आकर नृत्य करते हैं और पुरस्कार आदि प्राप्त कर आशीर्वाद दे चले जाते हैं।

## दल-दल घोड़ी नृत्य

बुन्देलखण्ड में होने वाला यह नृत्य एक व्यवसायिक नृत्य है, जो विवाह के अवसर पर वर-यात्रा के समय किया जाता है। इस नृत्य में नर्तक घोड़ा-घोड़ी के मुखौटों को लगाकर नृत्य करते हैं। घोड़ा-घोड़ी की आकृतियाँ बाँस की बनाई जाती हैं, जिसे पहनकर नर्तक श्रृंगार करते हैं, पैरों में घुँघरू बाँधते हैं तथा बैण्ड बाजों के साथ नृत्य करते हैं।

## कठपुतली नृत्य

बुन्देलखण्ड में कठपुतली नृत्य मनोरंजन का एक प्रमुख साधन है। यह एक व्यवसायिक नृत्य है, जो जीविकोपार्जन हेतु गाँव-गाँव जाकर किया जाता है। इस नृत्य में सूत्र की मदद से अनेक उपदेशात्मक प्रसंग सूत्रधार कठपुतली के माध्यम से प्रस्तुत करता है। पर्दे के पीछे से सूत्रधार द्वारा विविध कथायें प्रस्तुत कर नृत्य को आकर्षक बनाया जाता है।

## भालू बंदर नृत्य

बुन्देलखण्ड में घुमक्कड़ जातियों द्वारा जीविकोपार्जन हेतु यह नृत्य दिखाया जाता है। इस नृत्य में बंदर- बंदरिया एवं भालू मदारी के इशारे पर तरह-तरह की मुद्रायें प्रस्तुत करते हैं। कभी बंदर-भालू दोनों पैरों पर खड़े होकर आगे के पैर से राम-राम करते हैं। कहीं लाठी घुमाते ससुराल जाते हैं। ये लोग बंदर-भालू को कपड़े भी पहनाते हैं। वाद्ययंत्र के रूप में डमरू को बजाया जाता है। गली मुहल्लों में इनके नृत्य आज भी देखे जा सकते हैं।

## घोड़ा नृत्य

बुन्देलखण्ड में विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर घोड़ा नृत्य होता है। यह भी व्यवसायिक नृत्य है। इस नृत्य में घोड़े का श्रृंगार किया जाता है। उसे घुँघरू, पैजनियाँ, झाड़ें आदि पहनाये जाते हैं। ये घोड़े पूर्व प्रशिक्षित होते हैं। घोड़ा नृत्य आकर्षण एवं मनोरंजन से परिपूर्ण होता है।

## कर्मा नृत्य

बुन्देलखण्ड अंचल में आदिवासी गोण्ड, बैगा, रावतों आदि जातियों में यह नृत्य प्रचलित है। इस नृत्य में पुरुष व महिलायें दोनों ही भाग लेते हैं। कर्मा नृत्य के कई रूप प्रचलित हैं, जैसे लहरी कर्मा, थापी कर्मा, झूमर कर्मा, खलहा कर्मा। इस नृत्य में मांदर वाद्य-यंत्र का प्रयोग किया जाता है। यह कर्म-प्रधान नृत्य है, जो आदिवासियों में आज भी लोकप्रिय है।

## होली नृत्य

फागुन मास के विशेष पर्व होली पर यह नृत्य किया जाता है। इस नृत्य में महिलायें एवं पुरुष दोनों भाग लेते हैं। पुरुष-महिलायें अलग-अलग टोलियाँ बनाकर गाते हुये नृत्य करते हैं। वाद्य-यंत्रों में ढोलक, मंजीरा आदि का प्रयोग किया जाता है।

होली नृत्य में गाये जाने वाले गीत आनन्द और उमंग के भावों को मुखरित करते हैं। गीत को लय के साथ गाते नर्तक के अंग स्वयं थिरक उठते हैं।

*तुम श्याम सलाने छैल हमारी लाल चुनरी मत बोरियो।  
अरे हां हो श्यामलिया जो चूनर रंग डारि हो।  
तोरा पगिया करो सराबोर  
अरे हाँ हो पियरवा रामप्रिया सांची कहौ  
मैं देहों रंगीली गार।*

बुन्देलखण्ड अंचल में प्रचलित ये लोकनृत्य आज पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण, मीडिया के प्रभाव एवं आधुनिकता की तड़क-भड़क में विलुप्त से होते जा रहे हैं। ऐसी संक्रमण कालीन स्थिति में लोक-संस्कृति के संवाहक इन लोक नृत्यों के संरक्षण की महती आवश्यकता है।

## सजनई गीत

बाबूलाल दाहिया

ग्रामीण जनों के लोकरंजन में लोकगीतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्राचीन समय में जब आज-कल जैसे मनोरंजन के साधन नहीं थे, तो दिनभर काम करने के पश्चात् रात्रि में चौपालों में बैठक या गम्मत लगाकर अपना मनोरंजन करते थे।

बघेलखण्ड में कई तरह के गीत गाये जाने की परम्परा थी, जिन्हें संस्कार गीत, पर्वगीत और जातीय गीतों में विभाजित किया जा सकता है। यहाँ की अनेक मेहनतकश जातियों के काफी समृद्ध लोकगीत थे, इनमें तेली, कुम्हार, धोबी, अहीर, गड़रियों में जहाँ रिरहा गीत गाने की परम्परा थी, वहीं गोंडों में करमा, कहारों में ढिंमरहाई एवं कोल, बारी और कोटवार जाति में दादर नामक गीत गाया जाता था।

कोटवारों में दादर के अलावा एक और गीत गाने की परम्परा थी, जिसे सजनई गीत कहा जाता था, जो अब विलुप्तता के कगार पर है। इस जाति के लोग अपने समधी को साजन या साजा कहकर सम्बोधित करते थे। इसलिए साजा या साजन के सम्मान में गाये जाने वाले गीत को सजनई की संज्ञा दी गई होगी।

कोटवार एक आयुध जीवी लड़ाकू जाति है, जो अपनी उत्स भूमि वर्तमान टीकमगढ़ और झाँसी जिले के क्षेत्र को मानती है। 13 वीं सदी के आसपास जब बुन्देला सेनापति ने गढ़कुंडार के खंगार वंश के शासक को शराब पिला धोखा देकर मौत के घाट उतार दिया और खुद शासक बन बैठा, तब कोटवार लोग वहाँ से पालायन कर वर्तमान सतना-रीवा जिले में आकर बस गये। इनके पूर्वज उस समय किसी दाहत नामक क्षेत्र से आये थे। इसलिए अपने साथ दहायत या दाहिया जोड़ते थे, जो खंगार राज्य वंश की एक शाखा थी। बारहवीं-तेरहवीं शदी का कालखण्ड युद्ध और मारकाट का कालखण्ड था। आयुध जीवी जाति होने के कारण इनमें अन्य कोई व्यवसाय या कृषि

कार्य विकसित नहीं था। इसलिए इन दहायत जाति के लोगों ने पन्ना-सतना वाले इस जंगली भू-भाग में मारकाट-राहजनी और गुरिल्ला युद्ध को अपनी आजीविका का साधन बनाया तथा तत्कालीन शासकों के नाक में दम कर दिया। अन्त में राजाओं ने इनसे परेशान होकर समझौता करते हुए हर एक गाँव में एक ग्राम सतर्कता अधिकारी का पद सृजित किया, जो गाँव के आस-पास घटित घटनाओं और राज्य के खिलाफ होने वाले षडयंत्र की गोपनीय सूचना राजा तक पहुँचाए।

मुस्लिम शासन का प्रभाव दूर-दूर तक फैल जाने के कारण फारसी में इस ग्राम सतर्कता अधिकारी के पद को चौकसीदार कहा जाता था जो कालांतर में बदलकर चौकीदार हो गया और अँग्रेजी सत्ता आने और इस पद को कोर्ट-कचेहरी से जोड़ देने के कारण कोटवार भी कहा जाने लगा। कालांतर में खंगार वंशी इस दहायत जाति का नाम ही कोटवार हो गया। इस तरह इनके जातीय गीत की पहचान भी कोटवारहाई दादर या कोटवाहाई सजनई गीत से हुई।

इस जाति के सजनई गीत बड़े ही धार्मिक भावना- प्रधान और हृदय स्पर्शी होते हैं, जिसमें गाने वाला हमेशा अपनी गरीबी बेबसी और लाचारी का वर्णन करता है। किन्तु अपने समधी की प्रशंसा के पुल बाँधता रहता है। इस तरह कन्यापक्ष का समधी वर पक्ष के समधी की और वर पक्ष का समधी कन्या पक्ष के समधी की प्रशंसा करता है। कुछ सजनई गीतों की बानगी यहाँ प्रस्तुत है-

कन्या पक्ष का समधी-

प्रेम कै पानी न म्याजा साजा मिलै गे, हैं दिन बीत।  
या दुनिया कै रीत है आइसा मुँह देखे कै प्रीत।।

समधी साहब सिर्फ राजी-खुशी का समाचार लिखा कर पत्र मत भेजिए। मेरी आप से मुद्दतों से भेंट नहीं हुई। मैं आपके दर्शन करना चाहता हूँ। क्योंकि मुँह देखने की प्रीति ही अलग होती है।

वर पक्ष का समधी-

मैं पर्वत पहार का पक्षी, तेंदू चार अहार।  
हाड़ मास कतहूँ रहै साजा, प्रान तोहारेन पास।।

समधी जी मैं तो इस पर्वत-पहाड़ के एक पक्षी की तरह हूँ, जिसका तेंदू चार आदि का रूखा-सूखा भोजन है। यह हाड़ माँस का शरीर कहीं भी रहे, पर मन तो हमेशा आपके आस-पास ही घूमता रहता है।

कन्या पक्ष का समधी-

पाँव बिना पंगुल भयो साजा पंख बिना हैं हीन।  
उड़ा चहौ गिर-गिर परौं मरौं बिसूर-बिसूर।।

मैं आपसे खुद आकर मिल लेता, पर चलने-फिरने मे पंगु हूँ। इसलिए बिना पंख के पक्षी की तरह हूँ, जो उड़कर आसमान को तो छूना चाहता है, पर बार-बार जमीन पर आ जाता है। ऐसी स्थिति में सिर्फ आपकी याद करके विचलित हो जाता हूँ।

वर पक्ष का समधी-

दिना चार कै खेती साजा ओही लेब समेट।  
महू दरस पामें का आतुर मरौं बिसूर-बिसूर।।

समधी सजन मेरी दो-चार दिन की खेती-किसानी है। मुझे भी आपका स्मरण बार-बार होता है। मैं किसानों का कार्य पूरा कर आपके दर्शनार्थ अवश्य आऊँगा।

कन्या पक्ष का समधी-

साजन केर अबंती सुन के कुड़ा फुलायब दार।  
यतनेव मा मोर आये न साजा कुड़ा उमस गै दार।।

मैंने समधी सजन की अवाई का संदेश पाकर कुंडा में दाल फुलवा दिया है। दाल तो फूल कर बड़े बनाने लायक हो गई, पर मेरे समधी नहीं आये।

वर पक्ष का समधी-

प्रेम न बारी उपजै साजा, प्रेम न हाट बिकाय।  
प्रेम त उपजै दोउ अँखियन मा जब दिल मा दिलै समाय।।

प्रेम किसी बाड़ी में नहीं उगाया जा सकता और न ही किसी हाट- बाजार में बिकने आता है। वह तो दोनों नेत्रों से प्रकट होता है, जब भेंट करने वालों के दिल एक हो जाते हैं।

कन्या पक्ष का समधी-

*नदिया के पार मोर साजा ठाढ़ हे, हेर न पायें घाट।  
पिठिया दसाय मैं घटबा बनाय देव, मोर साजा उतर आमैं पार।।*

ओफ! मैं साजन का इंतजार कर रहा था, पर मेरे साजन कब से नदी के उस पार उतरने के लिए घाट तलाश रहे हैं। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि मैं अपनी पीठ ही नदी में बिछाकर घाट बना दूँ, जिसमें चढ़कर मेरे समधी इस पार आ जाय।

वर पक्ष का समधी

*नेरे भली सगाई साजा, दूरी मरें को जाय।  
घर के जानै मजा करैं हेन अपने रकत नहाय।।*

नजदीक का सम्बन्ध बहुत अच्छा होता है और दूर के सम्बन्ध में परेशानी ही परेशानी होती है। घर के लोग तो समझते हैं कि समधी सजन के यहाँ मैं आनंद मनाने गया हूँ, पर रास्ते में मुसीबत ही मुसीबत है।

कन्या पक्ष का समधी-

*जेहि लगि घायब कोस दस, सगले काम बिसार।  
उंय साजा मोर घरै बिराजै, जिउ लहक-लहक रहि जाय।।*

जिनके लिए घर के सारे काम-काज छोड़कर मैं दसों कोस तक दौड़ता जाया करता था, वही मेरे समधी सजन आज मेरे घर में पधार चुके हैं। मेरा मन बार-बार आनंद-विभोर हो रहा है।

वर पक्ष का समधी-

*बड़ी बड़ाई ना करा साजा, कोऊ कहे बड़ा नहि होय।  
धोये से गदहा बनै न कपिला, चाहै नौ मन साबन होय।।*

हे समधी! मेरी इतनी प्रशंसा मत करो। कोई कह देने भर से बड़ा नहीं हो जाता। क्योंकि गधा नौ मन साबुन से स्नान करने के बाद भी कपिला गाय नहीं बन जाता।

कन्या पक्ष का समधी-

*सभा सजन का बड़ठका, कोउ आबै कोऊ जाय।  
अपने सभा मा मोहूँ का मिलाय ल्या मोर काया सुफल होइ जाय।।*

मेरे समधी जी बीच सभा में विराजमान हैं। उनके मिलने के लिए लोग आ-जा रहे हैं। हे समधीजी! मुझे भी अपनी सभा में बैठने की इजाजत दे दीजिए, ताकि मेरा जीना भी सफल हो जाये।

वर पक्ष का समधी-

*आँमा खाये मुँह खट्टा लगै, पान खाये मुँह लाल।  
खैर चून की रंगी बत्तीस, मोर साजा बिराजै आय।।*

आम खाने से मुँह खट्टा हो जाता है और पान खाने से लाल। पर मेरे समधी सजन के दाँत खैर चून खाते-खाते यूँ ही लाल हो गये हैं। साजन आये और विराज कर इस सभा को सुशोभित करें।

कन्या पक्ष का समधी-

*टुटही मोर मड़इया साजा, फुटहा मोर द्वार।  
का देख के रीझ्या मैं तो हैसियत का बनहार।।*

हे समधी सजन जी! मैं बहुत ही गरीब हूँ। मेरी एक टूटी-सी झोपड़ी और फूटा हुआ द्वार है। पता नहीं आपने मेरे ऊपर रीझकर ऐसी कृपा क्यों की। मेरे यहाँ सम्बन्ध हो गया। मैं तो हंसिया से कटाई-बिनाई करने वाला मजदूर हूँ।

वर पक्ष का समधी-

*अपना बड़े सरदार हन साजा, जानित हन सब रीत।  
अपने बीच मा मोहूँ का मिलाय लेई, जेमा घटे न मोह परीत।।*

नहीं समधी जी, आप बड़े महान हैं और सारी रीति-नीति के ज्ञाता हैं। अपनी सभा में मुझे भी शामिल करके रखें, जिससे मेरी प्रीति बनी रहे।

कन्या पक्ष का समधी-

*अन्न म उज्जर ज्वन्हरी लगै, धन म धउरी गाय।  
सभा बीच मोर साजा बिराजे, छिटिक रहा उँजियार।।*

अनाज में सबसे सफेद ज्वार होती है और पशु धन में कपिला गाय मानी जाती है। किन्तु सभा के मध्य में मेरे समधी सबसे सुन्दर लग रहे हैं, जिनकी आभा सारी सभा में प्रकाशमान हो रही है।



समधी आये और कई दिनों तक मेहमानी करते रहे। समधी के यहाँ लम्बे समय तक मेहमानी तो की नहीं जा सकती थी। क्योंकि घर में भी खेती-किसानी का कार्य था। वे खाट में बैठे कुछ सोच रहे थे कि कब विदा ली जाय।

कन्या पक्ष का समधी-

*मन कै पाटी चित्त क परूआ शासन बिना बिनाव।  
व पंलगा मोर साजा बिराजे मोर हिरदैं बहुत जुड़ाव।।*

इस खाट की पाटी मन की तरह है और चारों पायें चित्त की तरह, जिसकी बुनावट सांस की तरह है और उसी पलंग में मेरे समधी विराजमान हैं। मेरा हृदय गदगद हो रहा है।

वर पक्ष का समधी-

*जाय कै चहौं इजाजत साजा घर बढ़ी अउसेर।  
मइरे क उजरी कठिया गोहूँ छुटै बढ़वा तर गाय।।*

हे समधी सजन जी! आपके यहाँ कई दिन मेहमानी कर ली। अब घर जाना चाहता हूँ क्योंकि घर गृहस्थी का काम बिगड़ रहा होगा। मेरे मैर वाले खेत का कठिया गेहूँ उजड़ रहा होगा और बछड़ा तर गाय मेरे न रहने से दूध देना बन्द कर देगी।

कन्या पक्ष का समधी-

*कहा लिखाय घर पतिया भ्याजौं, कहा त भ्याजौं संदेश।  
दिना चार अउर रूकजा साजा जेमा टूटै न मोर सनेह।।*

समधी साहब! अभी आप दो-चार दिन और मेहमानी करें। कहिये तो मैं आपके घर में पत्र लिखवाकर राजी-खुशी का समाचार भिजवा दूँ या किसी सन्देश वाहक को भेज दूँ। अभी जाने की जल्दी क्या है?

वर पक्ष का समधी-

*जाय दया अब मोरे साजा, घर बाढ़ी अउसेर।  
लड़िका देहर कुशाली होइहैं गिरै काम गिरस्ती केर।।*

नहीं समधी जी अब जाने की इजाजत दीजिए, क्योंकि कि घर-गृहस्थी का कार्य प्रभावित हो रहा होगा। लड़के-बच्चे भी बीमार पड़ सकते हैं।

कन्या पक्ष का समधी-

*आबा साजा मचिया म बइठा, टोरलाऊँ बगिया से पान।  
मोर लगाई बिरिया खाय लया, जेमा रचैं बतीसौ दाँत।।*

अरे समधी जी! घर की चिन्ता छोड़िए आइये, इस मचिये में विराज जाइए। मैं बाग से पान के पत्ते तोड़ कर लाता हूँ। आप मेरा लगाया हुआ बीड़ा खा लीजिए, जिससे बत्तीसों दाँत रच जाय।

वर पक्ष का समधी-

*पकी सुपारी खैर है दुधिया, गढ़ महुबे का पान।  
व बीरा मोही साजा खवाइन, मोर रचे बतीसौ दाँत।।*

यह पकी हुई सुपाड़ी और दुधिया खैर से लगा बीड़ा बड़ा ही जायकेदार है। मेरे समधी ने मुझे ऐसा अच्छा पान का बीड़ा खिलवाया कि मेरे बत्तीसों दाँत रच गये।

कन्या पक्ष का समधी कलारी में जाकर-

*कलारिन भउजी-कलारिन भउजी सुनले बात हमार।  
दुइ करई भर दारू पियाय दे मोर साजन मिलन होइ जाय।।*

कलारिन भाभी तुम दो पैग दारू भिजवा दो, ताकि मैं अपने समधी सजन के साथ पीकर खुशी मना सकूँ।

कलारी में बैठा एक व्यक्ति-

*कउयै मार खौथइल नशा भीज कोटवार।  
जउन दारू दर-दर भटकाइस ओही छोड़े तरु न गमार।।*

लोगों का कथन है कि कौए को तब तक मारा जा सकता है, जब तक उसके पंख नहीं जमते और वह घोसले में ही बैठा रहता है। इसी प्रकार कोटवार को तभी तक मारा जा सकता है, जब तक वह नशे में रहता है। गवार कहीं के जिस दारू के कारण तुम्हारे पूर्वजों से बुन्देलों ने राज-पाठ तक छीन लिया, उसे अभी भी नहीं छोड़ना चाहते।

कन्या पक्ष का समधी-

*गोहूँ रहै त सुवना लाइगे ठाढ़ नेई फहराज।  
बिटिया रही त साजा लइगे, अँगने म ढोल बजाय।।*

खेत में गेहूँ लगा था। उसकी बालियाँ तोड़-तोड़कर तोता खा गये, अब वहाँ सिर्फ डंठल दिख रहे हैं। इसी तरह घर में बेटी थी, जिसे मेरे समधी ढोल बजवाते हुए बारात लेकर आये और विवाह करके ले गये।

वर पक्ष का समधी-

कीन्हया विदा दुपहरी साजा, मोसे रेंग न जाय।  
डेरा डार बगाइचा, हुयें बीन टिकोरी खाब।।

हे समधी जी! आपने इस तरह प्रेमपाश में बाँधकर रखा है कि विदा होते-होते दोपहर का समय आ गया। इस भरी दोपहरी में चलना मुश्किल हो रहा है। अब जाकर किसी आम के बगीचे में दुपहरी व्यतीत करूँगा और वही आम कि गिरी हुई अमिया को खाऊँगा।

कन्या पक्ष का समधी-

जाँय क होय त खिचरी रधाऊँ रहै क होय त खीर।  
सोमै क होय त पलंगा दसाय देव,  
साजा सोय ल्या भर नींद।।

समधी जी! हमने विदा कर दिया। अगर आप जाना ही चाहते हैं तो खिचड़ी का हल्का भोजन बनवाये देता हूँ। पर अगर नहीं जाना चाहते तो खीर बनवा दूँगा। आप दोपहरी पलंग में लेटिये और भर नींद सो लीजिए।

वर पक्ष का समधी-

जाय दया अब मोरे साजा घर बढ़ी अउसेर।  
घर दुवार बेबन्द परे है, हेदौ आवत हबैं असाढ़।।

नहीं समधी जी! मुझे जाने दीजिए। घर में बहुत बड़ी अव्यवस्था होगी। अभी घर की छवाई भी बाकी है और आषाढ़ सिर पर है।

कन्या पक्ष का समधी-

अइसन प्रीत फँसाया साजा, मोसे छांड न जाय।  
कहाँ-कहाँ न अइसा बिसूरै कि महुँ चलों पछिआय।।

हे समधी जी! आपने इस प्रकार मुझे प्रेम में फँसाकर रखा है कि मुझसे छोड़ा ही नहीं जाता। ऐसा लगता है कि मैं भी आपके पीछे-पीछे चल दूँ।

वर पक्ष का समधी-

साजन केर सजनइया सुन-सुन मन भा यंतर बिभोर।  
आँगू कइती तो पाँव बढ़ाऊ पुन मुड़ौ बिसूर-बिसूर।।

हे साजन! आपकी सजनई सुन-सुनकर मेरा मन भी विभोर हो रहा है। मैं पैर आगे की ओर बढ़ाता हूँ, पर आपका स्मरण आते ही पुनः मुड़कर देखने लगता हूँ।

इस तरह दोनों पक्ष के समधी घण्टों-घण्टों तक इन सजनई गीतों को गाते रहते थे। जब इस गीत को ताल और लय के साथ गाया जाता था, तो खंजड़ी के आकार का एक छोटा-सा डफ होता था, जिसे बजाकर गाते थे। पर मनोरंजन के नये-नये साधन आ जाने के कारण यह गीत आज विलुप्तता के स्थिति में पहुँच गये हैं, क्योंकि पुरानी पीढ़ी दिन-प्रति-दिन छीजती जा रही है और नई पीढ़ी इससे किनारा करती जा रही है। मैं धौरहरा गाँव के श्री राम निहोर दहायत को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिनने लड़कपन में सुने कुछ सजनई गीतों को अपने हृदय पटल पर संजोये रखा और लिखने में मेरी मदद की।

## बघेली फागें

संतोष कुमार तिवारी

### दहका

होरी खेलें रघुवीरा अवध मा  
होरी खेलें रघुवीरा ॥  
केखे हाथ मा ढोलक सोहै  
केखे हाथ मजीरा  
केखे हाथ कनक पिचकारी  
को आय खेलें अबीरा  
अवध मा होरी खेलें रघुवीरा ॥  
रामा के हाथ मा ढोलक सोहै  
लक्ष्मन हाथ मजीरा  
भरत के हाथ कनक पिचकारी  
शत्रुघन के हाथ अबीरा  
अवध मा होरी खेलें रघुवीरा ॥

रघुवीर (श्रीराम) अयोध्या में होली खेल रहे हैं। राम के हाथों में ढोलक है, वे ढोलक बजा रहे हैं, लक्ष्मण के हाथों में मंजीरे हैं। भरत के हाथों में सोने की पिचकारी है तथा शत्रुघ्न के हाथों में अबीर-गुलाल है। सब मिलकर होली का आनन्द ले रहे हैं।

काहे मचाय आये सोर पपिहवा  
 काहे मचाय आय सोर ॥  
 मोर पिया परदेस पपिहवा  
 काहे मचाय आय सोर ॥  
 नदी किनारे सारस बोलें  
 बन मा नाचें मोर पपिहवा  
 काहे मचाय आय सोर ॥  
 आधी रात पपीहा बोलें  
 मैं जानों पिया मोर  
 पपिहवा काहे मचाय आय सोर ॥

हे पपीहे! तूने शोर क्यों मचाया? मेरे पिया परदेश गये हैं,  
 तूने शोर क्यों मचाया? नदी के किनारे सारस बोलें, जंगल में मोर  
 नृत्य कर रहा है, आधी रात तूने बोला तो मुझे लगा जैसे मेरे पिया  
 आ गये हों। हे पपीहा! तूने क्यों शोर मचाया?

केसर का उड़त फुहारा कदम तर  
 भींजत साँवलि सूरति ॥  
 कै मन केसर बोई बिरज मा  
 कै मन उड़त फुहारा।  
 कदम तर भींजत साँवलि सूरति ॥  
 नौ मन केसर बोई बिरज मा  
 दस मन उड़त फुहारा।  
 कदम तर भींजत साँवलि सूरति ॥

कदम के पेड़ के नीचे केसर रंग का फव्वारा उड़ रहा है,  
 जिसमें साँवली सूरत वाले कृष्ण जी भीग रहे हैं नौ मन केसर बृज  
 में बोई गयी और दस मन का फव्वारा कदम वृक्ष के नीचे चल  
 रहा है।

मारन गये काली कोयली पिया मारन गये काली कोयली ॥  
 अरे लिहे धनुष अउर बान पिया मारन गये काली कोयली ॥  
 कारी कोयल मत मारिये बाग सून होई जाय  
 मारें का चाही हरियर सुअना, जे कतरें गादर आम ॥  
 हरिअर सुअना ना मारा पिया जे कतरें गादर आम  
 मारें का चाही व करिया कउआ, जे कांव-कांव चिल्लाये ॥  
 करिया कउवा ना मारा पिया, वा सन्देशा लड़ जाय  
 मारें का चाही छैल चिकनिया, जे ताकें पराई नार ॥  
 छैल चिकनिया ना मारा पिया, नहि गाँव सून होई जाय  
 मारें का चाही गाँव के रंडुआ, लई भागें पराई नार ॥

पिया आखेट करने गये हैं। धनुष-बाण लेकर वो काली  
 कोयल का शिकार खेलने गये हैं। हे प्रीतम! काली कोयल को  
 मत मारो, पूरा उपवन सूना हो जायेगा। बल्कि उन हरे तोतों को  
 मारो जो आम कुतर डालते हैं। हरे तोते को भी नहीं मारना, बल्कि  
 उन काले कउवे (कौआ) को मारो, जो काँव-काँव कर शोर  
 मचाते हैं। काले कौआ को मत मारिये, वे सन्देश ले जाते हैं। उन  
 मजनुओं को मारो जो पराई स्त्रियों को ताकते रहते हैं। मजनुओं  
 को मत मारो, पूरा गाँव सूना हो जायेगा। उन चरित्रहीनों को मारो  
 जो दूसरों की नारियाँ (स्त्रियाँ) लेकर भाग जाते हैं।

### डग्गा

हे का करिके आया हो बालम  
 मऊ से का करिके आया हो बालम  
 फरबाय हनू हंकार मऊ से  
 का करि क आया हो बालम ॥  
 पहिलै मुरचा चढ़े करचुली  
 तेंदुन केर बघेल  
 लाडिका सहित परिहार चलेंगे  
 दिखित गोरइया केर  
 मऊ से का करिके आया हो बालम

एक बार महाराजा व्यंकट रमण ने मऊ शहर पर आक्रमण  
 किया था, जिसमें उनकी प्रिय तोप हनु हंकार क्षत-विपक्ष हो गयी  
 थी। इसी को लेकर लोगों ने उलाहने देते हुये गाया कि हे बालम!  
 मऊ में तुम क्या करके आये? हनु हंकार को फाड़ के आये हो,  
 सबसे पहले करचुली ने मोर्चा संभाला। साथ में तेंदुन गाँव के  
 बघेल थे, उसके साथ परिहार भी अपने पुत्रों सहित गये और  
 गोरइया गाँव के दीक्षित भी साथ थे। हे बालम (पिया)! तुम मऊ  
 से क्या करके लौटे हो?

लछिमन अउर रामा खेलें होरी जनकपुर  
 लछिमन रामा खेलें ॥  
 एक ता खेलें रामा अउर लछिमन  
 दूजे जनक दुलारी  
 तीजें खेलें भरत शत्रुघन  
 भरे रंगन मा बोरी  
 लछिमन अऊ रामा खेलें... ॥  
 हरे बाँस का हरा पताका  
 रेशम लागी डोरी

धाय-धाय पिचकारी चलायें  
सीता रंगन मा बोरी  
लछिमन अऊ रामा खेलें... ॥

जनक की नगरी में राम और लक्ष्मण होली खेल रहे हैं, उनके साथ भरत-शत्रुघ्न और जनक दुलारी (सीता, उर्मिला, श्रुतिकीर्ति, माण्डवी) सभी होली खेल रहे हैं। सभी रंगों में डूबे हुये हैं। हरे बाँस की हरी पताका चढ़ी हुयी है, जो रेशम की डोरी से बंधी हुयी है। सब भाई पिचकारी चला रहे हैं और सीता जी रंगों में डूबी हुयी हैं।

### दादरा

जल भरें हिंडोल-हिंडोल रेशम की डोरी  
रेशम डोरी कब नीक लागै  
जब सोन घड़लना होय, रेशम की डोरी ॥  
सोने घड़लना कब नीक लागै  
जब रूपै गोनरिया होय, रेशम की डोरी ॥  
रूपै गोनरिया कब नीक लागै  
जब सुन्दर धनियाँ होय, रेशम की डोरी ॥

अति सुन्दर स्त्री डोरी लेकर कुएँ से जल भर रही है। रेशम की डोरी तभी अच्छी लगती है, जब सोने का घड़ा हो। सोने का घड़ा तब और अच्छा लगता है, जब गोनर चाँदी की बनी हो और चाँदी की गोनर तब और अच्छी लगती है, जब स्त्री सुन्दर हो।

लछिमन अऊ रामा ए हो  
संग सखा लये, जानकी जी होरी खेलें ॥  
केखर ओलिया, केखर चोलिया ए हो  
केखे हाथ अबीरा, संग सखा लये  
जानकी जी होरी खेलें ॥  
रामा के ओलिया, सीता के चोलिया  
लछिमन हाथ अबीरा हो ॥ संग सखा लये  
जानकी जी होरी खेलें ॥

लक्ष्मण और राम तथा सखियों और सखाओं के साथ मिलकर जानकी जी होली खेल रही हैं। राम की ओली (काँधे पर रखा जाने वाला 'वस्त्रअंग वस्त्र') तथा सीता जी की चोली भीग रही है। लक्ष्मण जी हाथ में गुलाल लिये हुये हैं। इस प्रकार राम-सीता, लक्ष्मण तथा अन्य सखा व सखी होली खेल रहे हैं।

### झूमर

सोने केर गोड़रिया हो, ओहिन पर दोहनिया  
सोने केर गोड़रिया हो ॥  
कहना कि तुम ग्वालिन गुजरिया  
कहना दधि बेचन जाय हो  
ओहिन पर दोहनिया ॥  
बरसाने की ग्वालिन गुजरिया  
मथुरा दधि बेचन जाय हो  
सोने केर गोड़रिया ॥

सोने की गोनर सिर पर है, जिस पर दोहनी (मटकी) रखी हुयी है। हे स्त्री! (सखी) तुम कहाँ की ग्वालन हो और कहाँ तुम दही बेचने जा रही हो? स्त्री जवाब देती है, मैं बरसाने की ग्वालन हूँ और मथुरा में दही बेचने जा रही हूँ।

### लेजम

रतनारे है नैना जाके सखी रतनारे हैं नैना जाके  
मुनि संग दो बालक काके सखी, रतनारे हैं नैना जाके ॥  
रवि शशि कोटि बदन की शोभा, श्याम गोर तन धारे  
राम-लखन कौसिल्या के सुत हैं, दशरथ नाम पिता के ॥  
सखी रतनारे हैं नैना जाके सखी रतनारे हैं नैना जाके ॥

राम और लक्ष्मण मुनि विश्वामित्र के साथ जनक द्वारा रचे गये स्वयंवर में पहुँचते हैं। उनकी सुन्दरता देखकर स्त्रियाँ मोहित हो जाती हैं और एक दूसरे से संवाद करती हैं कि हे सखी! ये रत्नों जैसे नेत्र वाले दोनों बालक कौन हैं? ऐसा लगता है कि इनका शरीर असंख्य सूर्य और चन्द्रमा के समान शोभायमान है। एक का रंग श्याम और एक गौर वर्ण का हैं। तब दूसरी सखी बताती है कि ये राम और लक्ष्मण हैं, जिनकी माता कौशिल्या और पिता अयोध्या के राजा दशरथ हैं।

श्याम बिना ब्रज सूना हो सखियाँ  
श्याम बिना ब्रज सूना ॥  
लाल पलंग पर लाल बिछउना  
लालै सूत का बीना  
धीरे पाँव धरा पलंगा पर  
सोवत लाल नगीना ॥ सखियाँ  
राधा प्यारी बैठी पलंगा पर  
टप-टप चुअत पसीना

चोली की बन्धन तड़-तड़ टूटै  
पोंछत श्याम पसीना ॥ हो सखियाँ  
श्याम बिना ब्रज सूना.....

नायिका (राधा) अपनी सखियों से कहती हैं कि हे सखी !  
श्याम के बिना ब्रज सूना-सूना लगता है । हमें ऐसा प्रतीत होता है  
कि लाल रंग का पलंग जो लाल रंग के सूत से बुना गया है, उस  
पर श्याम सो रहे हैं । इसलिए इस पलंग पर धीरे से पैर रखकर ही  
चढ़ा । कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे हम पलंग पर बैठी हैं और  
हमें श्याम के सामीप्य की वजह से पसीना आ रहा है । हमारी  
चोली इतनी कस गयी है कि उसके बन्धन टूट रहे हैं और हमारी  
दशा श्याम से छुपी नहीं रह पाती, वे हमारा पसीना पोंछ रहे हैं ।

यमुना तट कान्हा ए हो  
संगै सखा लये गोपिन, होरी खेलै  
भर पिचकारी मोरे सनमुख मारी  
चोलिया देव भिंजाई  
अँगिया रंग गयी ए हो । संगै सखा  
लाल गुलाल मल्लें मुख ऊपर करत ठिठोली ए हो  
चोली भिंजाई लहँगा भिंजाई, बहियाँ पकरी ए हो ॥  
ढोलक बाजै मजीरा बाजै, मुरली बाजै ए हो ॥  
संगै सखा लए गोपिन होरी खेलै ॥ ॥

यमुना नदी के किनारे अपने सखा और ग्वालिनों के साथ  
श्याम होली खेल रहे है । श्याम ने भरकर पिचकारी मेरे सामने  
मार दी, जिससे मेरी चोली भीग गयी तथा अँगिया भी रंग गयी है ।  
मुख पर लाल गुलाल मल रहे हैं, ठिठोली कर रहे हैं । चोली  
भिगोई, लहँगा भिगोया, हमारी बाँह पकड़कर हमें विचलित किया ।  
ढोलक बज रही है, मंजीरा बज रहे है और बाँसुरी बज रही है ।

अरी ए बाजनी पैजनियाँ  
सइयाँ मोरी है बाजनी पैजनियाँ ॥  
छमकति रंगै पनियाँ  
सइयाँ मोरी बाजनी पैजनियाँ ॥  
सोने सलाई काजर पारै  
छुपि-छुपि मोरे नजरिया हो  
मोरी है बाजनी पैजनियाँ ॥

हे प्रीतम ! हमारी पायल बजने वाली है । ये बजती रहती  
है । हम जब भी चलते हैं, यह बहुत छमछम कर बजती रहती है ।

हे स्त्री ! तुमने सोने की सींक से नैनों में काजल लगाया और तुम  
छुप-छुप के नजर भर के हमें देखते हो ।

सिर बाँधे मुकुट खेलें होरी  
सिर बाँधे मुकुट खेलें होरी ॥  
पहिली होरी बनारस मा खेलें  
गौरा और शंकर की है जोड़ी  
सिर बाँधे मुकुट खेलें होरी ॥  
दूसरी होरी अयोध्या मा खेलें  
सीता और रामा की है जोड़ी  
सिर बाँधे मुकुट खेलें होरी ॥  
तिसरी होरी वृन्दावन मा खेलें  
राधा कन्हैया की है जोड़ी  
सिर बाँधे मुकुट खेलें होरी ॥

सिर में मुकुट बाँध कर ईश्वर होली खेल रहे हैं । पहली  
होली शंकर और पार्वती ने बनारस में खेली । दूसरी होली राम  
और सीता ने अयोध्या में खेली । तीसरी होली कृष्ण और राधा ने  
वृन्दावन में खेली ।

हम पर रंगा ना डारा संवरिया  
आयौ पिया की चोरी संवरिया  
हम पर रंगा ना डारा ॥  
भर पिचकारी मोरे मुख पर मारी  
भींग गयी तन सारी पिया  
हम पर रंगा ना डारा ॥  
जो सुन पड़हैं बलमा हमारे  
आयें न देहैं बरूरिया पिया  
हम पर रंगा न डारा संवरिया  
हम पर रंगा न डारा ॥

ओ साँवरे ! हम पर रंग मत डालो । मैं अपने पति से छुप  
कर तुम्हारे पास आयी हूँ । तुमने पिचकारी भर के पूरा तन और  
मेरी साड़ी भिगो दी, अगर हमारे पति जान गये तो वो मुझे घर में  
घुसने नहीं देंगे । इसलिए हे सलोलने साँवरे ! हमें रंग से मत भिगाओ ।

जी भर के रंगा डारो सजन पै  
जी भर के रंगा डारो ॥  
चूनर सर केसरिया रंग की  
घातक घुँघटा भारी ॥ जी भर के.. ॥



सीना कस अंगिया रेशम की  
लहंगा अस्सी कली का सिया री ॥ जी भर के.. ॥  
माथे बेंदी कानन झुमका  
अंखियन कजरा मतवारी ॥ जी भर के.. ॥

आज साजन पर जी भर कर रंग डालो। साजन को केसर रंग की चूनर पहनाओ और खूब बड़ा घूँघट बनाओ। सीने पर रेशम की अंगिया कसकर बाँधो और अस्सी कली का लहंगा पहनाओ। साजन के माथे पर बेंदी, कानों में झुमका और आँखों में काजल लगाकर सजाओ।

श्याम तोरी मुरली अइसे बजी  
राधा ठाढ़ी ठगी रे ठगी। श्याम तोरी..  
घन अमरइया लहर जमुना जल  
छेड़ै कन्हैया गली रे गली  
फागुन मास गगन रस बरसै  
भीजै चुनरिया नयी रे नयी ॥  
अंखियन रंग गुलाल भरे हैं  
सुधि न संवरिया रही रे रही  
उड़त अबीर लाल भई धरती  
माथे के बिंदिया झरी रे झरी ॥  
श्याम तोरी मुरली ऐसी बजी ॥

हे श्याम! जब तुम्हारी मुरली बजती है तो राधा ठगी-सी खड़ी रह जाती है। अमरइयाँ की घनी छाँव में, जमुना जल हिलोरें मार रहा है और श्याम को गली-गली छेड़ रहे हैं। फागुन का महीना आकाश से रस बरसा रहा है, जिसमें राधा की नयी चूनर भीज रही है। आँखों में गुलाबी रंग के डोरे तैर रहे हैं, और राधा ने अपनी सुधबुध खो दी है। गुलाल उड़ रहा है, पूरी धरती लाल हो चली है और माथे की बिंदिया टूट कर गिर गयी है।

चारिऊ भइया करै कलेवा आये ॥  
लखवी घोड़ा लखन लाल का  
बाँके चतुर चलाको  
उड़ि-उड़ि जाय वायु मण्डल मा पाँव धरत नहि ताको।  
चारिऊ भइया करै कलेवा आये ॥  
नाच नचावत है थिरकावत  
करत अनेक तमासे  
मृदु मुस्कान बतात परस्पर  
पहुँच गये जनमासे ॥  
चारिऊ भइया करन कलेवा आये ॥

चारों भाई (राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न) खेलकर थक-हार कर कलेवा (नाशता) करने घर आये हैं। लक्ष्मण का लखवी घोड़ा है, जो चतुर और चालाक है। वह धरती पर पैर नहीं रखता और बार-बार वायुमण्डल में उड़-उड़ जाता है, जिसे लक्ष्मण नचाते, कुदाते, थिरकाते और अनेक तमाशे करते-करते जनमासे (जनवासा) में पहुँच गये हैं।

हरिए जटायु रथ का निरखत जात  
रे जग जननी करत विलाप  
जटायु रथ का निरखत जात ॥  
भिक्षा लेने गा निसाचर, देखि जानकी माई  
लै भिक्षा निकरी अब सीता  
लीन्हे रथ मा चढ़ाई  
जटायु रथ का निरखत जात।  
करत विलाप जात जानकी, सरन-सरन गोहराई  
है केऊ अइसन रामादल का, हमका लेत छोड़ाई  
जटायु रथ का निरखत जात ॥

सीता को रावण ने जबरदस्ती उठाकर रथ में बैठा लिया है। जटायु से रावण का युद्ध होता है। जिसमें जटायु निःशस्त्र होने के कारण घायल हो जाता है। अब वह शक्तिहीन होकर जमीन पर पड़ा है और रावण को सीता के साथ रथ पर जाते देख रहा है।

रावण ने भिक्षा के बहाने सीता को रथ पर जबरन चढ़ा लिया था। जानकी विलाप कर रही हैं और पुकार कर रही हैं कि कोई हमारी बात राम के दल तक भेज दो, जो हमको इस पापी से छुड़ा ले।

कइसे आऊँ किसन तोरी बृजनगरी  
कइसे आऊँ रे किसन तोरी बृजनगरी  
इत मैं खड़ी उत गोकुल नगरी  
बीच बहैं जमुना गहरी ॥ कइसे आऊँ री.. ॥  
पाँव धरौं तो मोरी पैजनि बाजै  
कूद परौं त बहि जाऊँ गहरी ॥ कइसे.. ॥  
घर मा सास ननद दे पहरा  
इत से निकरौं देखै सारी नगरी ॥ कइसे ॥

हे कृष्ण! मैं तुम्हारे पास ब्रजनगरी तक कैसे आऊँ? मैं यहाँ खड़ी हूँ, उधर गोकुल नगरी है और बीच में गहरी जमुना बह रही है। मैं चलती हूँ तो मेरी पायल बजती है और अगर मैं नदी में कूदती हूँ तो गहरी जमुना में बह जाऊँगी। घर में मेरे ऊपर सास

और ननद का पहरा है और इधर-उधर से बचकर निकलूँ तो पूरी नगरी देख लेगी।

अब छोड़ा चुनरिया जाऊँ रसिया  
मोरे ब्रज की है गइल सँकरी ॥  
आज अकेली जिया घबराये  
अँचरा मोरा उड़ि-उड़ि जाये  
बाजूबंद खुल-खुल जाय रसिया ॥  
आबा बोर सान सँवरिया  
रखियो सेज सेजरिया  
कहीं घूँघट ओढ़ें न खुल जाय रिसिया ॥

हे बाँके रसिया! मेरी चूनर छोड़ो, मुझे घर जाने दो। मेरे ब्रज की गलियाँ सकरी हैं। आज मैं अकेली और इतनी देर हो गयी कि मेरा जी घबरा रहा है और आँचल उड़-उड़ जा रहा है। बाजूबंद खुल-खुल जा रहे हैं। मेरा घूँघट बार-बार खुलने को बेताब है। आओ, कभी तुम हमारे घर आओ, तुम्हारे लिए सेज सजाकर रखूँगी।

हठीला देवरा नही मानै ना  
देवरा कहै भऊजी पानी भरजो  
सइयाँ कहैँ भीज जाबे धना ॥  
देवरा कहैँ भऊजी जेमना परोसो  
सइयाँ कहैँ जरि जाबे धना ॥  
देवरा कहैँ भऊजी सेजा बिछा दो  
सइयाँ कहैँ सोय जाबे धना ॥  
देवरा कहैँ भऊजी वीरा लगा दो  
सइयाँ कहैँ रचि लेवे धना ॥

जिद्दी देवर हमारी बात नहीं मान रहा है। देवर कहता है कि पानी भरो। पति कहते हैं कि भीग जाओगी। देवर कहता है कि खाना परोसो (बनाओ)। पति कहते हैं कि जल जाओगी। देवर कहता है बिस्तर लगा दो। पति कहते हैं कि तुम उस पर सो जाओगी। देवर कहे कि भाभी पान लगाकर दो। पति कहते हैं कि तुम पान खा लोगी।

फागुन बीता जाय सोनरबा  
तैं मोरी पायल कब लइहे ॥  
वा पायल मोरी सासू पहिरै  
हमहूँ सुनब झनकार सोनरबा  
तैं मोरी पायल कब लइहे ॥

वा पायल मोरी जेठी पहिरै  
हमहूँ करब छनकार सोनरबा ॥  
तैं मोरी पायल कब लइहे  
वा पायल मोरी ननदी पहिरै  
जियरा जरै हमार सोनरबा  
तैं मोर पायल कब लइहे ॥

ओ रे सोनार! फागुन बीता जा रहा है। तू मेरी पायल कब बनाकर लायेगा। मेरी सास ऐसी पायल पहनती है कि हमें उसकी झंकार सुनायी देती है। मेरी भी पायल ऐसे ही छनकनी चाहिए। मेरी ननद भी ऐसी ही पायल पहनती है, जिसकी छमछम सुनकर हमारा जी जलता है।

**बैसवारा**

नाही पटै गिरधारी हमारी तोरी  
नाही पटै गिरधारी ॥  
तुम तो आहै नन्द दुलारे  
हम ब्रजभान लोलारी  
तुम ता पहिरा पीत पीताम्बर  
हम पहिरी रंग सारी  
नाही पटै गिरधारी ॥  
लड़के चीर कदम चढ़ि बइठे  
सखियाँ दहदे उधारी  
चीर हमारी दइदे मुरारी  
नहि हम देवें तुहिं गारी ॥  
चीर तुम्हार तब देवें राधा  
जल से हो तूँ न्यारी  
पुरइन पाव पहिर राधा निकरी  
कृष्ण हसैं दई तारी  
नाही पटै गिरा धारी ॥

राधा जी कृष्ण जी से कह रही हैं कि हे गिरधारी! हमारी और तुम्हारी नहीं बन पायेगी। तुम नन्द के पुत्र हो, हम वृषभानु पुत्री हैं। तुम पीला पीताम्बर धारण करते हो, हम रंगीन वस्त्र साड़ी पहनते हैं। तुम नहाती हुयी सखियों के वस्त्र चुराकर कदम्ब के पेड़ पर जा बैठते हो। सभी सखियाँ नग्न अवस्था में तुमसे विनती करती हैं, हम तुम्हें गाली नहीं देंगे, हमारे वस्त्र दे दो। तुम उन्हें वस्त्र नहीं लौटाते, तुम शर्त रखते हो कि वस्त्र तभी दोगे, जब हम पानी से बाहर आयेंगी, हमें कमल के पत्ते पहनकर बाहर आना

पड़ा और तुम हमारी दशा देखकर ताली बजाते हुये खुश होते हो।

हरो तनय की पीरा पवनसुत  
हरो तनय की पीरा ॥  
रामचन्द्र के मुंदरी लइके, सीता धरें मन धीरा  
लइके मुंदरी चले पवनसुत, उतरे सागर नीरा  
पवनसुत हरो तनय की पीरा ॥  
शक्ति बान लग्यो लछिमन के विकल भरो रघुवीरा  
मूल संजीवन लइके आये, हनुमान अस बीरा ॥  
पवनसुत हरो तनय की पीरा ॥

हे पवनसुत हनुमान! अपने पुत्रों (भक्तों) की पीड़ा को खत्म कर दो। तुमने राम की अंगूठी सागर के पार लंका तक पहुँचा कर सीता के शोक का नाश किया। लक्ष्मण को जब शक्ति बाण लगा- अचेत हो गये, राम विलाप करने लगे, वे विकल हो गये। ऐसे में तुमने संजीवनी लाकर लक्ष्मण के प्राणों की रक्षा की।

हरि ए लखन के लागे हैं शक्ति बान  
नहीं आये वीर हनुमान  
लखन के लागे हैं शक्ति बान।  
कहाँ धवला कहाँ मूल संजीवन  
अरे जाय पवनसुत बूटी लाबा  
होय लखन सुख चैना ॥ लखन के लागे..।  
गिर धवला मा मूल संजीवन  
लंका वैद सुखेना  
गये पवनसुत बूटी न जाँँ  
पर्वत लाये उठाये ॥ लखन के लागे.. ॥

राम और रावण के युद्ध के दौरान एक दिन लक्ष्मण व मेघनाथ में युद्ध हुआ, जिसमें मेघनाथ ने शक्ति बाण के प्रहार से लक्ष्मण को अचेत कर दिया था। राम विलाप कर रहे हैं कि हनुमान संजीवनी मूल लेकर अभी तक नहीं आये, जिससे की लक्ष्मण के प्राणों की रक्षा होनी है। दूसरा दृश्य है कि हनुमान जी धवला पर्वत पर पहुँचते तो हैं, किन्तु उन्हें संजीवनी पहचानने में कठिनाई होती है, अतः वह पूरा पर्वत ही उठाकर लंका तक ले जाते हैं।

हरि ए बधइयाँ बाजी, हाँ-हाँ बधइयाँ बाजी  
बधइयाँ बाजी अयोध्या बधइयाँ बाजी  
कोसल्या के जनमें है राम

बधइयाँ बाजी अयोध्या बाजी ॥  
राम लखन अरू भरत शत्रुघन  
रूप अनूप सोहइयाँ  
टुमुक टुमुक नृप आँगन खेलत  
सब सखि लेन बलइयाँ ॥  
बधइयाँ बाजी, अयोध्या बधइयाँ बाजी  
दसरथ के चारिऊ ललनमा  
अँगना मा खेलत चगन मनगवाँ  
खेलत चगन मनगवाँ ॥ बधइयाँ बाजी ॥

राम का अवतार हुआ, राम का जनम हुआ है। इसी खुशी में आज अयोध्या में बधाई के स्वर गूँज रहे हैं। राम ने कौशल्या की कोख से आज जनम लिया है। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का स्वरूप बहुत सुहावना है। ये सभी राजा दशरथ के आँगन में टुमुक-टुकुम कर खेल रहे हैं सभी सखियाँ उनकी बलइयाँ ले रही हैं। राजा दशरथ के चारों पुत्र आँगन में घूम-घूम कर खेल रहे हैं।

### तीन ताल

मुरली के बजावन हार  
फाग रंग बोरे बिना न छोड़बै  
मुरली के बजावन हार..... ॥  
एक सखी लै दोना खड़ी है  
दूजी खबाबय पान  
तीजी सखी रंग घोरे खड़ी है  
आज न बचिहा श्याम  
फाग रंग बोरे बिना न छोड़बै ॥

ओ मुरली (बंशी या बाँसुरी) को बजाने वाले! आज हम तुम्हें फागुन में रंगों में डुबोये बिना नहीं मानेंगे। एक सखी दोने में गुलाल लेकर खड़ी है, दूसरी सखी पान खिला रही है, तीसरी सखी रंग घोलकर तैयार खड़ी है। हे श्याम! आज तुम हमसे नहीं बचोगे, हम आज तुम्हें रंगों से भिगोकर ही मानेंगे।

होरी खेलव आज जुगल जोड़ी।  
होरी खेलव आज जुगल जोड़ी ॥  
उड़व गुलाल चहूँ दिसि छाये।  
समझ परै ना कोई कोरी  
होरी खेलत आज जुगल जोड़ी ॥

झाँझ मजीरा पखवज बाजै  
गावत गीत हैं राधा गोरी  
होरी खेलत आज जुगल जोड़ी ॥  
बाल गोपाल लाल सब हर्षित  
डारत रंग कुमकुम रोरी  
होरी खेलत आज जुगल जोड़ी ॥  
लपटत गिरत उठत मुँह चूमत  
करत परस्पर झकझोरी  
होरी खेलत आज जुगल जोड़ी ॥

जुगल जोड़ी यानी श्याम और राधा जी आज होली खेल रहे हैं। चारों दिशाओं में गुलाल उड़ रहा है। कोई भी साफ सुथरी नजर नहीं आ रही है। झाँझ, मंजीरा और पखावज बज रहे हैं। राधा जी गीत गा रही है। ग्वाल, गोपियाँ, बच्चे, युवा सब खुश हैं और रंग कुमकुम व रोली एक दूसरे पर डाल रहे हैं। एक दूसरे से लिपट रहे हैं- गिर रहे हैं। गिरकर उठते हैं एक दूसरे से जोर जबरदस्ती कर रहे हैं, आज होली की धूम है।

या फगुआ के बहार  
चला सखी खेलें होरी ॥  
अपने-अपने मंदिर से निकरी  
कोऊ स्यामल कोऊ गोरी  
हिलमिल फाग परस्पर खेलें  
करती सब झकझोरी ॥  
या फगुआ के बहार  
चला सखी खेलें होरी ॥

चलो सखी देखें चलकर, आज होली की बहार है। गोरी और साँवली अपने-अपने घरों से निकली सब हिलमिल कर परस्पर होली खेल रही हैं। सब आपस में मस्त हैं, जोर-जबरदस्ती कर रही हैं। आज होली की बहार है चलो सभी सखियाँ चलें चलकर इस बहार का आनन्द लें।

ऊधौ श्याम बनें मधुबनियाँ  
वा दिन की सुधि भूल गयी  
हरि जी को खिलायौ कनियाँ  
गुहि-गुहि देत नन्द बाबा जी  
हरे काँच की मनियाँ ॥ ऊधौ श्याम भये ॥  
जबसे जाय बसे मधुबन में

बिसर गयीं नन्द रनियाँ  
अब गोकुल काहे का आवत  
पावत नव जोबनियाँ ॥ ऊधौ श्याम भये ॥

हे ऊधौ! श्याम अब मधुबन में जाकर बस गये हैं। श्याम वे दिन भूल गये, जब हम उन्हें गोद में खिलाते थे। नन्द बाबा उन्हें हरे काँच की माला बना-बना कर देते थे। श्याम जबसे मधुबन में बस गये हैं, उन्हें नन्दगाँव की स्त्रियाँ याद नहीं आती, अब वे गोकुल क्यों आयेंगे, उन्हें तो वहीं पर नव यौवन की प्राप्ति हो रही है।

श्याम बजाय के बीना  
हमें बस कीना ॥  
अन्न बिना जइसे प्राण दुखित भये  
जल बिन जइसे मीना ॥  
पुरुष बिना जइये नारी दुखित भयी  
दिन-दिन होत मलीना ॥  
श्याम बजाय के बीना हमें वश कीना ।  
अटपट ताल देत बंसिन मा  
मधुरी शबद सुनामै  
पलंग सेजरिया नींद ना आवै  
घर अँगना ना सोहावै ॥  
हमें वश कीना, श्याम बजाय के बीना ॥

श्याम ने बाँसुरी बजा कर हमें सम्मोहित कर अपने वश में कर लिया है। अन्न बिन शरीर एवं प्राणों को तकलीफ होती है। जल के बिना मछली तड़पती हैं, बिना पुरुष के जैसे नारी दिन-प्रतिदिन अपना सौन्दर्य खोती जाती है। वैसे ही हम श्याम के बिना नहीं रह सकते। श्याम बाँसुरी बजाकर हमें मधुर संगीत सुनाते हैं। जिसके बिना हमें पलंग और सेज पर भी नींद नहीं आती, हमें हमारा घर-आँगन भी अच्छा नहीं लगता।

अरी ए कमर के पातर  
गोरी हो कमर के पातर  
धीरे-धीरे उचामें पाँव  
कमर के पातर ॥ गोरी हो कमर के पातर ॥  
एक ता गोरी खुदै है पातर  
दूजे बहे हो पवनमा  
तीजै गोरी झपट के रँगै

अँचर उड़ि-उड़ि जाय ॥ कमर के पातर ॥  
अरी ए कमर के पातर  
गोरी हो कमर के पातर ॥

स्त्री जिसकी कमर पतली है- धीरे-धीरे पाँव उठाकर चलती है। एक तो स्वयं पतली है ऊपर से हवा जोर से चल रही है। तीसरे स्त्री झपट कर चल रही है, जिससे उसका आँचल उड़-उड़ जाता है तथा उसकी सुन्दरता के दर्शन होते हैं।

बन निकरे जाँय राम लखन दोऊ भाई ॥  
भीतर रोमैं माता कौशिल्या, बहिरे भरत भाई  
राजा दशरथ प्रान तजत हैं, कैकेई पछताई ॥  
आगे-आगे राम चलत हैं पीछे लछिमन भाई  
उनके बीच मा चलैं जानकी सोभा बरनि न जाई ॥  
रिमझिम-रिमझिम पानी बरसै, पवन बहै पुरवाई  
कउनैं पेंड तरि भीजत होइहैं, सिया सहित दोऊ भाई ॥

राम वनगमन का दृश्य है, राम को वनवास हुआ है। वे वन की ओर लक्ष्मण और सीता के साथ गमन कर रहे हैं। महल के अन्दर रानी कौशिल्या विलाप कर रही हैं। महल के बाहर भरत रो रहे हैं। राजा दशरथ के प्राण छूटने वाले हैं तथा रानी कैकेई भी इस दृश्य को देखकर पछतावा कर रही हैं। सबसे आगे राम बीच में सीता तथा पीछे लक्ष्मण चल रहे हैं। रिमझिम पानी की फुहारें पड़ रही हैं, पता नहीं किस वृक्ष के नीचे राम-सीता और लक्ष्मण भीग रहे होंगे।

## नादरी

होरी खेलै मतवाला, जोगी डमरूवाला  
डूड़ा बैल शेष लपटाये, गले मुण्डन की माला ॥  
अक्षत चारू बेल के पाती  
रीझत गाल बजाये या डमरूवाला ॥  
शशि ललाट सुन्दर सिर गंगा  
अंग भभूती रमाये या डमरूवाला ॥  
नयन तीन सुग्रीव (गला) भुजंगा (काला)

शेषनाग लपटाये या डमरूवाला ॥  
होरी खेलै मतवाला सदाशिव होरी खेलै मतवाला

भगवान शंकर जी होली खेल रहे हैं। डमरूधारी जोगी होली खेल रहे हैं। नन्दी बैल वाले, गले में सर्प लपेटे तथा मुण्डों की माला धारण किये हुये शंकर जी होली खेल रहे हैं। अक्षत, पुष्प, बेलपत्र व गाल बजाने से रीझने वाले शंकर जी जिनके ललाट पर चन्द्रमा, सिर पर गंगा, अंग में भस्म लगी है, तीन नेत्रों वाले, सुन्दर गला काले (नीले) वर्ण वाले शंकर जी गले में सर्प लपेटे हुये होली खेल रहे हैं।

अचरज भा मोरे अँगना बोलत कागा  
मोरे पिया से मिलन का ॥  
उड़ कागा मैं तोरे पड़्याँ लागूँ  
जो पिया आमै मोर  
दूध दही मैं तोहि खबइहों  
जो पिया घर आमै मोर  
अचरज मा मोरे अँगना बोलत कागा  
मोरे पिया से मिलन का ॥

मुझे आज आश्चर्य हुआ कि हमारे आँगन में कौआ बोल रहा है। आज मेरा मिलन पिया से होगा। ओ कौए! उड़ जा, मैं तेरे पैर पड़ती हूँ, मैं तुझे दूध और दही खिलाऊँगी, अगर मेरे पिया घर आयेंगे।

या वृज कुन्जन जाऊँ  
मनाय लाओ नन्द को लाला ॥  
कोऊ सखी पग नेबर बाँधे  
कोऊ लिहे करतार  
कोऊ सखी मुँह से नहीं बोलै  
ओढ़े लाल दुशाला ॥  
मनाय लाओ नन्द को लाला ॥

आज कुन्ज वन जाकर नन्दलाल श्याम को मनाकर लाना है, वे संभवतया रूठ गये हैं। हे सखियों! चलो उन्हें मनाकर लाते हैं। कोई सखी पैरों में नेवर (पैरों का आभूषण) पहने हैं, कोई हाथों में करतार लिए जा रही हैं। कोई सखी लाल दुशाला ओढ़े है और बोल नहीं पा रही है। चलो सब श्याम को मना लाते हैं।

## लोक कथाओं का महत्त्व

डॉ. अर्जुनदास केसरी

लोक-साहित्य जीवन से मरण तक का ही नहीं, उसके बाद भी जीवन को जीने के लिए प्रेरणा का स्रोत हुआ करता है। उससे अनादि काल से ऊर्जा, मानसिक ओजस्विता मिलती रही है। आज भी जीवन से बहुत सारी चीजें दूर हो गयी, जीवन की मान्यताएँ बदल गयी, पर कथाएँ-वार्ताएँ वर्तमान हैं। कोई तीज-त्योहार हो, संस्कार हो, व्रत-उत्सव हो, खाली समय का सदुपयोग करना हो जुटान हो, सत्यनारायण भगवान की कथा ही क्यों न हो, पास-पड़ोस को मालूम हुआ नहीं कि लोग उसका आनंद लेने एकत्र हो जाते हैं।

जब छापेखाने नहीं थे, पुस्तकें नहीं थी तब भी गाँव की कहानियाँ हमें बहुत सिखाती थी। संस्कृत का अधिकांश साहित्य कथात्मक है। 'कथा सरित्सागर, वृहत्कथा, हितोपदेश, पंचतंत्र, कादम्बरी की कथाएँ ही नहीं, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत महापुराण सहित अन्य पौराणिक कहानियाँ हमें स्नेह, दया, करुणा, मानव सेवा, सत्य-अहिंसा, प्रेम, परोपकार, जीव-दया का पाठ पढ़ाती हैं। संस्कृत के अलावा, उर्दू, बंगला, राजस्थानी, पंजाबी, भोजपुरी, अवधी आदि का साहित्य भी कथाओं से भरा पड़ा है। अजन्ता-एलोरा से भी पूर्व प्रागैतिहासिक कालीन गुफाओं में अहेर, गोचारण, जीव-दया, ईश्वर-आस्था, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि ग्रंथों की पूजा और तो और पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं, वृक्षों, नदी-नालों, झरनों, मंत्र-तंत्र, टोना-टोटका, जादू टोना से सम्बन्धित अगणित कहानियाँ, लोक-कथाएँ हमारे जीवन में रची-बसी हैं और जीवन को सतत् सत्कर्मों की प्रेरणा प्रदान करती रही हैं।

आज समाज में, सम्पूर्ण विश्व में मानवीय मूल्यों का अभाव देखा जा रहा है। आतंकवाद, जातिवाद, धर्म, साम्प्रदायिकता, उग्रवाद आदि के चलते सारा विश्व विध्वंश के कगार पर है। विश्वयुद्ध की भयानकता के कारण, उसके भयानक परिणामों की कल्पना



करके आदमी भीतर से कांप उठा है। इस शताब्दी के अंत तक इतनी आबादी बढ़ जायेगी कि पेयजल तक आदमी को नहीं मिल पायेगा। युद्ध की विभीषिका में साठ प्रतिशत जन-समाज, जीव-जन्तुओं के मृत होने की भविष्यवाणी ज्योतिषियों ने की है। यह सब क्यों? अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, शोषण, असमानता, जातिवाद आदि ही इसके कारण हो सकते हैं। लोक-कथाएँ हमें इनसे सदा बचाती रही हैं। आज इस भौतिकवादी व्यवस्था में भी नाना-नानी, दादा-दादी की कहानियाँ विपत्तियों से आगाह करती रहती हैं।

दुःखद आश्चर्य तो तब होता है, जब विदेशों में भारतीय कथाओं, गाथाओं, लोकगीतों, लोकवार्ताओं पर तमाम शोध कार्य हो रहे हैं, और अपने देश की शिक्षा-पद्धति में कथा-कहानियों को जितना जैसा स्थान मिलना चाहिए, नहीं मिल पा रहा है। मंदिरों के कथा-रूपों, मण्डपों, चौपालों में तरह-तरह की कहानियाँ सुनाकर ही लोगों को ज्ञान दिया जाता था और बड़े चाव से लोग उसे सुनते ही नहीं थे, अपितु अपने आचरण, व्यवहार और जीवन में उतारते भी थे। उनसे ही वास्तविक, सार्वभौमिक, सर्वग्राह्य, मानवतावादी धर्म, नीति, वर्ग, कर्तव्याकर्तव्य, समाजगत आवश्यकताओं, विशेषताओं से परिचित कराया जाता था।

दूर के ढोल सोहावने होते हैं, मैं इसकी बात नहीं करता, पर इतना दावे के साथ कहना चाहता हूँ कि निरक्षरों, अशिक्षितों, अन्त्यजों, उपेक्षितों के बीच से उपजी कथाएँ आज भी उनके लिए सर्वस्व हैं। आज भी आदिवासियों, वनवासियों का जीवन, निर्मल, निश्छल-निर्विवाद, निष्कपट-निरहंकार, सादा-सीधा, सरल-सहज, छल-कपट प्रपंच-रहित क्यों हैं? इसका एक मात्र जवाब होगा-उनकी अपनी जीवन-शैली, उनका अपना खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, तौर-तरीका, मान्यताएँ, परम्पराएँ लोक-कथाएँ और लोक-वार्ताएँ हैं। वे ईमानदार होते हैं। बड़ों की बात मानते हैं, वचन के पकड़े होते हैं, सब पर विश्वास कर लेते हैं, किसी को ठगते नहीं, न हानि पहुँचाते हैं। सारा जीवन उच्च विचारों के पोषक होते हैं। शिक्षालयों में न जाकर भी सुरम्य हैं। क्यों? उन लोक-कथाओं की बदौलत। इस देश की आधे से अधिक जनता अशिक्षित, अनपढ़ और निरक्षर है। उसे हमें बड़े-बड़े लेखकों-कवियों की पढ़े-लिखे लोगों के भी समझ में न आने वाली रचनाओं को पढ़ने के लिए विवश करते हैं। उनसे

उनका तनिक भी फायदा नहीं होता। किन्तु यदि हम स्थानीय लोक-कथाओं, गाथाओं, लोकवार्ताओं के माध्यम से उन्हें शिक्षित करें तो ज्यादा फायदा होगा। परिवार नियोजन, पर्यावरण, प्रौढ़ शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, बाल-श्रमिकों का उद्धार, कृषि-व्यापार, स्थानीय समस्याएँ, मुकदमे से हानियाँ, कर्तव्य के प्रति जागरूकता, कुटीर-लघु उद्योग, स्थानीय, शिल्प-कला, शिष्टाचार, सदा चरन, चोरीत करना, मद्य-पान-धूम्रपान का त्याग, रूढ़िवादिता से मुक्ति की शिक्षा उन्हीं की कथा-वार्ताओं के माध्यम से दें तो आशातीत सफलता मिलेगी। ऐसा मेरा अटूट विश्वास ही नहीं, जीवन में उनेक सहवास से उपजा व्यावहारिक अनुभव भी है।

जहाँ तक सोनभद्र का सवाल है, जनजातीय बाहुल्य क्षेत्र होने के कारण यहाँ इतनी लोककथाएँ कही-सुनी जाती हैं कि उनकी गणना करना, संग्रह करना भी कठिन है। आश्चर्य है कि यहाँ की लोककथाओं पर नगण्य कार्य हुआ है। लोकवार्ता शोध संस्थान ने 1979 में बालवर्ष के अवसर पर सोलह लोक-कथाओं का संग्रह किया था, जिसकी भूमिका में संग्रहकर्ता ने लिखा था- 'लोक कथाओं और लोकोक्तियों में जनता की युग-युग की अनुभूतियों का निचोड़ संचित रहता है। अतएव राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में इनका बड़ा महत्त्व है। अधिकतर कथाएँ जन जीवन के आचार-विचार एवं संस्कृति की अभिव्यक्ति करती हैं।' स्वर्गीय ठाकुर प्रसाद सिंह ने इसी संग्रह में लिखा है- 'वैसे तो बाजारों में आदिवासियों की भी लोक-कथाओं के अनेक संग्रह देखे जाने लगे हैं, किन्तु ऐसा जो उनकी बोली-बानी में हो, उनके दिल-दिमाग को छूने वाला हो, उनकी आत्मा को तृप्ति प्रदान करने वाला हो, विशेष रूप से उनकी रूचि-रूझान के अनुरूप, अधिक समीप हो, उनके बच्चों के लिए प्रेरक, शिक्षाप्रद और उपयोगी होते हुए, अन्य सभी वर्ग-सम्प्रदाय, शिक्षित-अशिक्षित सबके लिए रचनात्मक भावभूमि तैयार करता हो, बहुत कम देखने को मिलता है। उक्त संग्रह इन सभी दृष्टियों से सफल और आकार-प्रकार में लघु प्रतीत होते हुए सम्पूर्ण प्रतीत होता है।'

छोटी-छोटी कथाएँ हमें मार्ग-दर्शन देती हैं। एक कहानी का शीर्षक 'एक था राजा' है। इस घटना प्रधान कथा का सारांश यह है कि एक युवक ने अपनी पत्नी के दुराग्रह पर अपनी बहिन को ही मार डाला, जिसके कारण पूरा परिवार दुःखी हो गया। भावावेश, क्रोध हर पाप का मूल है, यही इस लघु कथा से शिक्षा मिलती है।

इसी प्रकार एक कथा है 'बुरे कार्य का बुरा नतीजा।' इस कथा का मात्र इतना भाव है कि एक दुराचारी, जुआड़ी राजा था जिसने जबरन प्रजा से जुआ खेलने का आग्रह किया। एक समय हारते-हारते अपनी पत्नी की कोख तक हार गया जिसके फलस्वरूप छः लड़कियों का जन्म हुआ और जुए की शर्त के मुताबिक छहों लड़कियों को राजा ने रखैल बनाकर रख लिया। सातवीं संतान मंजरी का जन्म हुआ और जब वह बड़ी हुई तो उसने राजा के घर जाने से इन्कार कर दिया। खूब हो-हल्ला मचा, भयंकर युद्ध की नौबत आ गयी। उस युवती के लिए लोरिक जैसा योग्य वर चुना गया, जिससे राजा को युद्ध करना पड़ा और वह बुरी तरह पराजित हुआ। इस कहानी से नारी के आत्मबल, सत्य की विजय, जुआ के भयंकर परिणाम, अन्याय के लिए संघर्ष, सत्य की अंतिम विजय जैसी अनेक शिक्षाएँ मिलती हैं।

इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में फुहरी-फुहरा, बहिर दोस्त, बन्दरन की मिताई, खरवार क लड़िका, चल हाक मूस (चूहा) आदि कथाओं में जीवन के अनेक प्रेरक प्रसंग हमें नित्य चौपाल पर शिक्षा देते रहते हैं। अनेक कहानियाँ पद्यात्मक भी हैं, जो शिक्षाप्रद होती हुई रोचक भी हैं। यथा-

*बन गयली बन काठी लिययली  
ऊ काठी हम तोहके देहली  
का एक थे लिटिअउ में मइली  
बन गइली बन काठी लिययली,  
ऊ काठी हम व्यापारी के देहली,  
व्यापरिया बेचारा लिट्टी देहलस  
ऊ लिट्टी हम तोहके देहली  
का दनवों में गइली।*

अब इस कहानी की समीक्षा कीजिए आप। इसमें दान, दया, धर्म, उपकार, भूख, लकड़हारे की जिन्दगी, व्यापारी का शोषण तब भी सहनशीलता की पराकाष्ठा का इससे अच्छा उदाहरण और कहाँ मिल सकता है। इस तरह की कहानियों का अथाह भण्डार गाँवों में भरा पड़ा है। यही सच्चा साहित्य है। इसी से जीवन की प्रेरणा मिलती है, ये सभी लोकाचार, लोक-मान्यताओं-मूल्यों से जुड़ी हुई हैं।

इसी प्रकार ऊँट और सियार की दोस्ती, ढोंगी बामन, ठगइठग बदलवन, ठेला-पत्ता, तीन ठग, गंगा क मनउती, दवा, भूत, बरम, ठगइतिन, टोनहिन का टोना, बइगा का कमाई, बनियां के बेटवा आदि न जाने कितनी लोक-कथाएँ लोक-जीवन से जुड़ी हैं, जिनका निरंतर महत्त्व बना रहेगा। इनके बासी होने का सवाल नहीं है। ये शाश्वत मूल्यों की स्थापना में मदद करने वाली हैं। ये इतनी अधिक संख्या में हैं कि इनको संग्रह करके पुस्तकालय बनाया जा सकता है।

वास्तव में लोक-कथाओं के विस्तृत संग्रह की योजना बननी चाहिए। इस पर कार्य होना चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय में इनके अध्ययन का विभाग बनना चाहिए। अगर ऐसा नहीं किया गया तो वह दिन दूर नहीं, जब शताब्दियों-सहस्राब्दियों से कण्ठ से कण्ठ तक संचित इस मौखिक परंपरा से प्राप्त विशद, शिक्षाप्रद साहित्य सदा के लिए मिट जायेगा और तब हम अपनी अस्मिता ही खो बैठेंगे।

## लोकवाद्यों की पीठिका

डॉ. महेन्द्र भानावत

लोकवाद्य लोकानुरंजन के सशक्त माध्यम हैं। कोई भी त्योहार, उत्सव, अनुष्ठान और उमंग का अवसर हो, लोकवाद्यों की स्वर लहरियाँ धरती के अणु-अणु में व्याप्त हो सबरंग-सबरस की वर्षा कर देती हैं। इन वाद्यों की शक्ति अनंत कोटि की होती है, इसलिए विभिन्न देवताओं ने इन्हें अपना आश्रय बनाया। इनके सहारे शक्ति का विपुल संचरण कर सृष्टि के विकास का आलौकिक कौतुक किया।

लोक की मनीषा अपरम्पार और अपौरुषेय है। इस मनीषा ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप लोकवाद्यों की संरचना कर सृष्टि के विधि-विधान को समवेत किया। लोकमंगल को सहिष्णु बनाया तथा ताल-लय की तपन-लपन से राग-रंग देने का सद् भगीरथ किया। राजस्थान की रज भूमि ने अनेक अनूठे और अनुपम वाद्यों से लोकलीला को संगी बनाया। इस कारण वे वाद्य ही उस विधा की विशिष्ट पहचान बने। पाबूजी की पड़ के साथ बजने वाला रावणहत्था, देवनारायण की पड़ की गायिकी को उदात्त माधुर्य देता जंतर, नवरात्रा में भारत गायिकी को हाक देता ढाक, होली को हलरावण देता चंग जैसे वाद्य अपने रंग में बेमिसाल हैं। रेगिस्तान के नड़, खड़ताल, मुरला, सुरिंदा, मटकी जैसे वाद्यों ने पूरी दुनिया को सुरभित बनाया है। आदिवासियों में प्रचलित वाद्यों का अंदाज उनके अल्हड़पन की संजीदगी का शिखर बना हुआ है।

धरती पर पहला पुरुष जो भी रहा होगा, वह धरती-पुत्र, प्रकृति-पुत्र, किंवा वन-पुत्र ही हुआ होगा, क्योंकि आज भी वन्य जातियों का समग्र जीवनचक्र वन की प्रकृति और उसके वैभव से जुड़ा हुआ है। वे वन की प्रत्येक हरकत, हवा-पानी, ताप-संताप तथा उत्सव-उमंग के सहभागी होते हैं। वे हर मौसम में वन की हर धड़कन के साथ अपनी स्वाश का सरगम मिलते हैं। वनस्पतियों का वैविध्य उन्हें

आकर्षित करता है। औषधि, उपज, फल-फूल और आजीविका के आधार बनने वाले सभी उपकरण उनके जीवन को संबल प्रदान करते हैं।

### बेमिसाल वनवासी

वृक्षों की वंशावलियों के साथ वनवासियों के वंश-वृक्ष उनकी पीढ़ियों का लेखाजोखा करते हैं। पक्षियों का कलख उनमें लयबद्ध धुनक की चहचहाहट भरता है। जानवरों की हूँकार उन्हें दमदार बनाती है। नदी-नाले उन्हें कर्मशील गति प्रदान करते हैं। रहस्यमय लगने वाले घटना-प्रसंग देवी-देवताओं के प्रति आस्था जगाते हैं। वे समूह की भागीदारी और उसके अस्तित्व के अंतरंग विश्वासी बन अपनी दुनिया में बेबाक, बेहिचक होकर बेमिसाल बने हुए हैं।

प्रकृति के साथ मनुष्य की पहली पाठशाला कैसी रही होगी? प्राकृतिक संसाधनों का साधन बन वह कैसे जिया होगा? वनस्पतियों तथा जीव-जन्तुओं के साथ उसने कैसे बनाया होगा अपना बसेरा? दोस्ती और दुश्मनी के बीच कैसे बांधी होगी समझ की गडार? इशारों के बाद कैसे तोड़ी होगी मौन? कैसे फूटी होगी वाणी? कैसे थिरकी होगी काया? कैसे बना होगा परिवार?

### प्रकृति और पुरुष का तालमेल

जब मौज की हवा चलती है, वृक्ष मस्ती में आकर झूमते हैं। डालियाँ गले मिलती हैं। पत्ते फड़फड़ाते हैं। वनस्पतियाँ अठखेलियाँ करती हैं। मौज की बरसात होती है। प्रकृति का प्रत्येक अंग अभिराम बनता है। बादल उमड़-घुमड़ते हैं। बिजली रंग बरसाती है। इन्द्रधनुष बनते हैं। पूरी धरती संगीत की स्वर लहरियों में कभी लहराती, कभी फहराती तो कभी घोर बन गर्जन-तर्जन में रौद्र दिखाती है। ऐसे में कैसे मनुष्य संस्कारी बना? संस्कार से संतरी, संतरी से सेवक, सेवक से सहृदय, सहृदय से सहिष्णु, सौम्य, सुंदर, सुखद, सुरम्य, सात्विक और समझ-दर-समझ वाला बना होगा।

### वाद्य : विरासत के सहभागी

वनचारी वनवासियों ने ही प्रकृति के उपकरणों का उपयोग कर अपने साथ प्रकृति को भी अधिक रंगीन तथा रूपांकित किया

है। इसके लिए उसने प्रकृति के ही विविध उपादान खोजे और उनसे स्वर संधान किया। वाद्यों के रूप में उनकी संगीत यात्रा की खोज बड़ी अजूबी, अनूठी तथा उतनी ही दिलचस्प कहानी है। विकास के इन पड़ावों का कौन साक्षी रहा, कुछ कहा नहीं जा सकता। आदमी आता रहा, जाता रहा और इतिहास बनता रहा, बिगड़ता रहा, सब कंठ-दर-कंठ, स्मृति-दर-स्मृति के सहारे ही जाने वाले आने वाले को संभलते रहे। यही सार संभाल हमारी विरासत है, धरोहर है जो अब भी हमारे जीवनचक्र के आनंद-उल्लास का हिस्सा बनी हुई है। उसी हिस्से के सहभागी हमारे वाद्य हैं।

भारत में जनजातियों का फैलाव बड़ा व्यापक है। विविध अंचलों में फैले वे वनवासी अपने को आदिवासी कहते हैं। यह अध्ययन बड़ा दिलचस्प है कि कैसे और कहाँ से इन आदिवासियों का उठाव हुआ और विकास के चौबारे के साथ-साथ उनकी जुदा-जुदा फाँकेँ बनीं और भिन्न-भिन्न कुनबों में अपनी महती देते हुए, अपना अस्तित्व कायम करते हुए विभिन्न नाम-रूपों में विभक्त होते रहे।

### विभिन्न वाद्य रूप

राजस्थान के आदिवासियों में प्रचलित वाद्यों के जो रूप मिलते हैं, वे उनकी जीवनधर्मिता से जुड़े हुए हैं। ये वाद्य उनकी आवश्यकता के अनुरूप, आसानी से जो सामग्री उन्हें उपलब्ध हुई, उनके स्वयं के निर्माण की कहानी से जुड़े हुए हैं। यह कहानी कई रूपों में बड़ी रहस्यमय, अलौकिक तथा चमत्कृत करने वाली है। भीलों में प्रचलित मादल, ढोल, कुंडी, मीणों में जंगली जानवरों से फसल की रक्षा हेतु नार-हुंकारणी; गरसियों में पाये जाने वाले कुंडी, वाहली, धोरिया; कथौड़ियों के तारपी, पावरी, टापरा, थालीसर, गोरडिया; सहरियों के धूमधड़ाक, शिल्पा, मुश्की जैसे वाद्यों के निर्माण में बाँस, लकड़ी, सींग तथा मृत खाल, आंत, बाल आदि का उपयोग उनके खोजी-रोजी तथा मनमौजी जीवन की आधारशिला कही जा सकती है।

वाद्य कुल चार प्रकार के कहे गये हैं। इनमें कौन-सा प्रकार सर्वप्रथम अस्तित्व में आया, कहना मुश्किल है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि चारों प्रकारों में क्रमशः करके वाद्यों का निर्माण हुआ। यह संभव भी नहीं लगता। मोटे रूप में जो वाद्य हमारे समक्ष

उपलब्ध हैं, उनके चार रूप उल्लेखनीय हैं- ध्वनि देने वाले वाद्य, घेरेनुमा वाद्य, फूँक से बजने वाले वाद्य और तार से जुड़े वाद्य।

### ध्वनि वाद्य

ये घन वाद्य की श्रेणी में आते हैं। आपसी घात-प्रतिघात, टक्कर अथवा सम्मिलन से ध्वनि उत्पन्न करने वाले घन वाद्य कहलाते हैं। यह ध्वनि विभिन्न रूप लिए होती है। छम-छम वाली ध्वनि देने वाले वाद्यों में घुँघरू, चूड़ियाँ, रमणेल; टन-टन की ध्वनि लिए घंटा, टंकोरा, टोकरियों, झालर, श्रीमंडल; करतल ध्वनि वाले ताल, झांझ, मंजीरा; झन-झन की ध्वनि देने वाले थाली, चीमटा; टक-टक खट-खट की ध्वनि लिए खड़ताल, मटका, डंडिया तथा चर्-चर् की ध्वनि वाले।

### घेरा वाद्य

जो वाद्य अपनी बनावट में विशिष्ट प्रकार का घेरा लिए होते हैं, वे घेरा अथवा अवनद्य वाद्य की श्रेणी में आते हैं। इनमें कुंडी, चंग, ढप, खंजरी, दफड़ी, चंगड़ी, ढीबको, नगाड़ा, बम, नौबत, कुंडी, तासा, माटा, कमट, ढोल, डेरू, मांदल, ढोलक आदि लिए जा सकते हैं।

### फूँक वाद्य

फूँक वाद्य वे हैं जो फूँक देकर बजाये जाते हैं। इन्हें स्वर अथवा सुषिर वाद्य भी कहते हैं। ये वाद्य बाँस, लकड़ी, तुंबी, लौकी तथा विविध धातु से निर्मित किए जाते हैं। शंख, सींग, मशक जैसे वाद्य नैसर्गिक अथवा प्रकृति प्रदत्त होते हैं। बाँसुरी, सुसई, सतारा, नड़, अलगोजा, तारपी, टोटो, पूंगी, घुरालियो, पावरी, बांकिया, भूंगल, मोरचंग, तुरही आदि फूँक से ही बजाये जाते हैं।

### तार वाद्य

इन्हें तत वाद्य भी कहते हैं। इनमें पहले वे जो विशिष्ट प्रकार की झंकार देते बजते हैं। यथा- इकतारा, दोतारा, चौतारा, छतारा, केनरा, सुरमंडल आदि। दूसरे वे जो गज द्वारा बजाये जाते हैं। यथा- चिंकारा, रावणहत्था, कमायचा, सुरिंदा, सारंगी आदि। तीसरे वे वाद्य जो नख के छुवन से ध्वनित होते हैं। इन्हें नखवीस से वादित वाद्य कहते हैं। जंतर, अपंग, भपंग, खाव, दुकाको इसी श्रेणी के वाद्य हैं।

प्रकृति को निहारते हुए उसकी प्रत्येक हलचल में अपने को भागीदार बनाते हुए मनुष्य ने अपने सरूप स्वर-संगीत देने की कल्पना और नकल करने में कोई कसर नहीं रखी। ऐसे कई आविष्कार साक्षी हैं, जो प्रकृति के मौन संकेत ने मनुष्य को दिये हैं। ऐसे ही सृष्टि का निर्माण हुआ और खोज का यह सिलसिला अभी समाप्त नहीं हुआ है।

कंठ, हाथ की ताली, चुटकी और थपथपाट क्या कुछ नहीं दिया ? प्रारंभ में जो थोड़ा बहुत मिला उसी में और कुछ मिलाने, जोड़ने, संयोजित करने की कला एवं कौशलपूर्ण कारीगरी के आपसी मेल-टकराहट से मनुष्य द्वारा जो ध्वनित हुआ, वही बाजा बन गया और आगे जाकर वादन कला के रूप में विशिष्ट निखर आया। लोक में तो वाद्य नाम है ही नहीं, यहाँ तो बाजा ही है। उसी को बजाना है और संस्कारों, त्योहारों, उत्सवों तथा विशिष्ट अवसरों के मंगल-मांगल्य को परिपूर्ण उल्लासित एवं अनुरंजित बनाना है।

### रहस्यमय रचाव

वाद्यों का यह रचाव मनुष्य द्वारा होते हुए भी अदृश्य में देवताओं तथा देवी-शक्तियों का प्रभाव लिए है। जो वाद्य अपने पूर्ण रूप में आज देखने को मिलते हैं, वह उनका विकसित रूप है। प्रारंभिक रूप की केवल कल्पना ही की जा सकती है। उदाहरण के लिए आदिवासी भीलों के गवरी नामक आनुष्ठानिक नृत्योत्सव में मांदल नामक वाद्य प्रमुखता लिए हैं। उनमें प्रचलित गाथा-भारत में इस वाद्य बावत् बड़ी रूचिकर चर्चा सुनने को मिलती है। उसके अनुसार नौ लाख देवियों ने नवरात्रि उत्सव मनाने हेतु आनुष्ठानिक नृत्य के लिए इसकी रचना की।

देवियों के इस रहस्यमय नृत्य पर किसी भील युवक की दृष्टि पड़ गई। वह उसके अलौकिक संगीत में बावला हो गया और अपने ही पुट्टों पर दोनों हाथों की थपकियाँ देकर नृत्य निमग्न हो गया। देवी अम्बाव ने उस युवक को इतने तन्मय रूप में देखा तो उसने उसके गले में मांदल ही डाल दी फलस्वरूप वह मांदल बजाता-बजाता ही सुधबुध खो बैठा।

### मांदल : महादेव का दल

यों भी गवरी में जो भी खेल्ये भाग लेते हैं, वे अपने आदिदेव महादेव की उपस्थिति लिए रहते हैं। नायक के रूप में शिवजी का



जो रूप होता है वह भस्मासुर मिश्रित होता है। सभी अभिनेता महादेव के दल के होने से वे मांदल के सहारे ही थिरकते हैं और उसी के सहारे सृष्टि को नृत्यजनित अनुशासित किए रखते हैं। इसलिए मांदल महादेव के दल का प्रतिनिधित्व करने वाला वाद्य है। इसे बजाने वाला मांदलिया तंत्र-मंत्र का कुशल जानकार उस्ताद होता है। वह गवरी के अभिनेताओं को बुरी हवा तथा बुरी नजर एवं टोने-टोटकों से बचाये रखता है। मांदल के सहारे गोल घेरे में ली जाने वाली घाई सृष्टि की सूचक और उस घाई को बाहर से संचालित करने वाला नायक बूड़िया शिवरूप ही है।

कुम्हार द्वारा मिट्टी से चाक पर इसका घेरा तैयार किया जाता है, जो दो-ढाई फुट की लंबाई लिए होता है। नर-मुख की ओर का घेरा मादा-मुख के घेरे से छोटा होता है। तबले की पुड़ी की तरह दोनों ओर की नर-मादा पुड़ी बकरे की खाल से तैयार की जाती है। पुड़ी के किनारे तांत व खाल की मोटी पट्टी से बांधे जाकर सूत की रस्सी द्वारा गूथ दिये जाते हैं। पुड़ी के मध्य जौ के आटे को पानी के साथ गूथकर बाटीनुमा घेरा बना चिपका दिया जाता है। आटे की मात्रा से आवाज हल्की-भारी की जाती है। मांदल गले में लटकाकर बजाई जाती है। गवरी में इसी के सहारे अभिनेता के पांव उठते हैं और नृत्य के दौरान आड़, उब, शंकर जैसी घाइयों का कमाल देखने को मिलता है।

### बाँस निर्मित पावरी

बाँस के नाना उपयोग कर जनजाति लोगों ने अपने बुद्धि-कौशल तथा खोज-बोध का परिचय दिया। पावरी उसी खोज की परिणति है। यह वाद्य दो-तीन फुट की लंबाई लिए बाँसुरी-अल्लगोजा की तरह फूँक द्वारा बजाया जाता है। कथौड़ी जाति के लोग इसे बजाने में निष्णात होते हैं। शादी-ब्याह तथा धार्मिक आयोजनों-उत्सवों में पावरी की स्वर लहरियाँ बड़ी मोहक तथा मनभावन लगती हैं। नर तथा मादा खंड के अलावा इसके टूटी तथा गादी नामक दो खंड और होते हैं। वादक गादी तथा नर छिद्रों पर लगे मोम को आवश्यकतानुसार लगाकर स्वर बांधता है। मादा भाग पर उंगलियों से धुनें निकाली जाती हैं।

### होठ वाद्य गोरिया

बाँस की चीप का बना यह साधारण-सा वाद्य मोरचंग की

तरह दोनों होठों के बीच रखकर हवा बाहर-भीतर खींचते बजाया जाता है। इसमें बंधी सूत की डोरी को झटका देने से ताल के साथ स्वरों का जो उतार-चढ़ाव होता है, वही बड़ा आकर्षक और कर्णप्रिय लगता है। यह गरसियों, कथौड़ियों तथा भीलों में प्रचलित है। कथौड़ी इसे गोरड़िया नाम से जानते हैं। सूत के धागे के साथ पीतल का छोटा घुँघरू बड़ी मीठी ध्वनि देता है। चीप को मच्छी की शकल में चाकू द्वारा सेंट-मेंट में ही तैयार कर ली जाती है।

### लौकी वाद्य तारपी

यह वनजीवियों का ही कमाल कहा जाना चाहिए कि वे अपनी होशियारी तथा कलात्मक खूबियों से बहुत सारी सामान्य उपयोगी-अनुपयोगी चीजों के मेल से जो चीजें तैयार करते हैं, वे न केवल कल्पनातीत कही जा सकती हैं, अपितु शोध-खोज की दृष्टि से भी बड़ी मूल्यवान और सांस्कृतिक-संस्कारपरक दायित्वों के लिए भी आवश्यक बन जाती हैं। तारपी एक ऐसा ही वाद्य है जो साफ-सूखी लौकी, बाँस की नलियों, मोम तथा गाय के सींग के टुकड़े से तैयार किया जाता है। यह फूँक वाद्य है जो कथौड़ियों में ही प्रचलित है।

### थालीसर पर मृतात्मा का स्मरण

कथौड़ी जनजाति में प्रचलित वाद्य श्मशान में मृतक की अंतिम क्रिया, जमीन में गाड़ने के पश्चात् बजाया जाता है। इसके सहारे भोपा मृतात्मा के स्वर्ग जाने की चिंतारणा करता है। यह थाली-वाद्य होता है, जिसमें थाली के बीच में रखे मोम पर बाँस की छड़ खड़ी कर दी जाती है। थाली में बाँस की पट्टी रख दी जाती है, जिस पर दोनों हाथों की उंगलियाँ थपथपाकर गमगीन स्वर पैदा करते हैं। इसे सुनते हुए परिवारजन थाली में दान स्वरूप जो सिक्का डालते हैं, वह भी गावणी के दौरान स्वर-सौन्दर्य में वृद्धि करता पाया जाता है।

### नार-हूँकारणी में शेर-सी दहाड़

नार से तात्पर्य शेर तथा हूँकार का अर्थ दहाड़ से है। इस वाद्य को बजाने से शेर-सी दहाड़ गूँजित होती है, इसलिए इसका नाम नार-हूँकारणी रख दिया गया। यह वाद्य जहाजपुर क्षेत्र के मीणा आदिवासियों का है जो खेत की फसल की रक्षार्थ जानवरों तथा पशु-पक्षियों से बचाव के समय बजाया जाता है। इसके लिए एक



बड़े मटके को कलात्मक मांडणों से सजाकर मुँह पर बकरे के खाल की पुड़ी मढ़ दी जाती है। इस पुड़ी के बीचोंबीच रखे छेद में मोरपंख की गुंडी लगा दी जाती है। मोरपंख को डारी से बांध दिया जाता है। बजाते समय मटके को दोनों पांवाँ के बीच रख, एक कटोरी में रखे पानी के गीले हाथों से डोरी को खींचा जाता है। इससे शेर-सी गर्जना भरी आवाज निकलती है, जिसे सुन जानवर तथा कोई भी पक्षी भाग खड़ा होता है और डर के मारे वहाँ नहीं आ पाता है।

### खुर्र-खुर्र की ध्वनि वाला टापरा

कथौड़ियों का यह वाद्य बाँस के टुकड़े को बीच से चीर कर दो पट्टियों के सहारे तैयार किया जाता है। इनमें से एक पट्टी आधे-आधे इंच की एक-सी दूरी पर आड़े कट लगाकर खोद दी जाती है। हाथ में पकड़ने जितना हिस्सा छोड़ शेष ऊपरी हिस्से को चाकू की नोक से झाडूनुमा आकार की सीकों का स्वरूप दे दिया जाता है। इसकी एक हाथ की पकड़न वाला सिरा कंधे से टिकाकर दूसरे हाथ से सीकों वाली पट्टी को ऊपर-नीचे, नीचे-ऊपर गड़ दी जाती है। इससे खुर्र-खुर्र की ध्वनि निःसृत होती है। यह वाद्य मुख्यतः नवरात्रि में किए जाने वाले नृत्यों एवं मंदिरों में सेवा-पूजा करने के दौरान बजाया जाता है।

### ढाक पर देवता का हेला

डमरू के आकार का ढाक वाद्य पंजे पर रखकर बजाया जाता है। इसकी रस्सी का एक भाग पाँव के अँगूठे में तथा दूसरा घुटने में पहना दिया जाता है। बजाते समय पंजे को ऊपर-नीचे कर खींचने व ढीला करने पर ढाक के स्वर में उतार-चढ़ाव आता है। डमरू की तरह इसके दोनों ओर बकरे की खाल मढ़ दी जाती है। एक पुड़ी में दूसरी पुड़ी को सूत की डोरी द्वारा गूँथन देकर कस दी जाती है। इसके मादा भाग को उँगलियों द्वारा तथा नर भाग को कमड़ी द्वारा बजाया जाता है। लकड़ी की कमड़ी को सुबली कहा जाता है। नवरात्रि में देवों में रात्रि जागरण के समय इसकी गूँज दूर-दूर तक बड़ी कर्णप्रिय लगती है।

ढाक बजाने वाला ढाकलिया देवी-देवताओं की गाथा भारत को आगे से आगे उठान देता रहता है, जिसे वहाँ बैठे भगत समूह बद्ध स्वर देकर उसे ओपित करते हैं। इस समय जिसका भारत गाया जाता है, वह देवता भी वहाँ बैठे भोपे के शरीर में हाक देते

अपनी जबरी उपस्थिति से वातावरण को शक्तिवंत बना देता है। ढाकलिया बैठा-बैठा ढाकगान में पूर्णतः निमग्न हो जाता है। रात-रात भर यह गान चलता रहता है। इसके साथ कहीं-कहीं कांसे की थाली बजाई जाती है। इसका प्रचलन भीलों में सर्वाधिक है।

### दीवाली पर डूचका

दीपावली पर बजाया जाने वाला भीलों का मुख्य वाद्य डूचका दोनों पांवाँ के बीच जकड़ा रखकर बजाया जाता है। इसके बजाने के मुख्यतः दो अवसर हैं। एक तो यह विवाह के बाद पहली बार दीपावली को दुल्हन लेने जाते समय वर-पक्ष के लोगों द्वारा बजाया जाता है। दूसरा दीवाली पर हीड़-हीड़ा गान के दौरान इसका वादन नई रंगत से वातावरण को सराबोर कर देता है।

### मारू ढोल

मारू से तात्पर्य वारू यानी जोर-जोर की आवाज से है। कहा जाता है कि सबसे पहले इसी ढोल की अवतरणा हुई। समूची धरती जब अकाल की चपेट में आ गई थी, पेड़-पौधे वनस्पति कुछ भी नहीं बचे, तब देवी अंबाव ने भैरव को बुलाकर इस ढोल द्वारा देवियों को एकत्र करने का निमंत्रण दिया। देवी ने आदेश दिया कि पहाड़ की ऊँची चोटी पर चढ़कर ढोल के माध्यम से जोर-जोर से वार करो, सभी नौ लाख देवियों को संदेशित किया जाय। भैरू को आदेश मिलते ही ढोल को अपने कंधों पर रख बजाना शुरू किया। देवियाँ संदेश का संकेत पाकर अंबाव की शरण में आ उपस्थित हुईं।

तब से जंगलों-पहाड़ियों पर दूर-दूर बसेरा करने वाले आदिवासी अच्छा-बुरा हर तरह का संदेश-संकेत-निमंत्रण ढोल बजाकर ही एक-दूसरे के पास पहुँचाते हैं। उसके बजाने के स्वर-संकेत को सभी समझते हैं और तदनुसार यथा समय, यथा स्थान एकत्र होने में कोई देर नहीं करते।

आदिवासियों के प्रत्येक घर में ढोल मिलेगा। उसे बजाने के तरीके को सभी समझते हैं। यह तरीका जुदा-जुदा घाई लिए हैं, जिससे पता चल जाता है कि कोई भारी विपत्ति का ढोल है या मृत्यु-सूचना का। किसी के जन्म-संस्कार का ढोल है या विवाह महोत्सव का। किसी लूटपाट, चोरीचकारी या धाड़ा पड़ने का ढोल है या हँसी-खुशी, उमंग-उल्लास का, मेले-ठेले जाने का देव-

देवरे एकत्र होने या फिर किसी नृत्य-उत्सव में भाग लेने का। किसी पेड़ के तने को खोखला कर, बकरे की खाल, सूत की रस्सी, डाका, कामड़ी और नर पुड़ी हेतु मसाला आदि के सहयोग से आदिवासी स्वयं ही ढोल तैयार कर लेता है।

### संगत को शोभती थाली

कांसे से बनी खड़ी किनारे वाली थाली का वादन संगत वाद्य के रूप में होता है। ढोल मांदल ढाक कुंडी के साथ यह वादन को सुहावना शोभता वातावरण देकर श्रोता समूह को झंकृत किए रखती है। थाली के किनारे दो छेद कर सूत की रस्सी बांध दी जाती है, जिसे एक हाथ में वादक पकड़े रहता है और दूसरे हाथ में डंका लिए उसे ध्वनित किए रहता है। अकेला थाली वादन किसी उत्सव के प्रारंभ होने की सूचना देता है।

### हारंगी-छतारा

हारंगी कथौड़ियों में प्रचलित सारंगी जैसा ही देशी वाद्य है, जो देवी-देवताओं की आराधना में गाये जाने वाले भजनों के साथ बजाया जाता है। यह हल्की और छोटी होने से वादक खड़ा अथवा बैठा होकर बजा सकता है। जंगल में उपलब्ध किसी भी वृक्ष, आम, अडूसा, सेमल की लकड़ी, घोड़े के बालों का गुच्छा और तार लेकर वादक हारंगी बना लेता है।

भगत भील भजन-सत्संग के दौरान छतारा बजाते हैं। यह तार वाद्य है। तार वाद्यों में इकतारा, चोतारा में जैसे एक तथा चार तार लगाये जाते हैं, वैसे ही इसमें किसी समय नर-मादा के तीन-तीन तार लगाये जाते थे, जिससे छतारा (छह तार वाला) नाम पड़ा। पर अब सभी पाँच तार ही लगाते हैं। नर में दो ही तार होते हैं। इसके साथ सहायक अथवा संगत वाद्य के रूप में चींपिया, खड़ताल, ढोलक भी बजाई जाती है।

भील-गरासियों में विवाह पर शहनाई जैसा हरणाई नामक वाद्य बजाया जाता है। एक वाद्य दो मुँह वाले मटके का बनाया जाता है, जिसके दोनों मुँह बकरे की खाल से मढ़ दिये जाते हैं। यह गोद में रखकर ढोलक की तरह बजाया जाता है। इसका विचित्र नाम है-धूम-धड़ाका। इसी प्रकार का एक शिल्पा नामक तबले की भाँति का वाद्य होता है। सहरियों में मशक से मिलता मुश्की

वाद्य होता है। अन्यों में तंदुर, ढपली, ढपला, खंजरी जैसे वाद्य हैं।

यह कहना मुश्किल है कि हरणाई, मुश्की, हारंगी जैसे वाद्य शहनाई, मशक, सारंगी से भी पूर्व के वाद्य हैं या इनकी देखादेखे ये बाद में बनाये गये हैं। तार-वाद्यों में एक तार वाला ही पहले बना, बाद में उनके तारों में वृद्धि होती गई और तदनुसार तार की संख्या सूचक उनका नामकरण होता रहा।

### ठंडी रात का रेगिस्तानी वाद्य नड़

सुषिर वाद्य नड़ बाँसुरी की तरह लंबी नली के आकार का कंगोर या फिर सुपारी की लकड़ी से बना रेगिस्तान का वाद्य है जो अधिकतर ठंडी रातों में अधरों के सहारे बजाया जाता है। कलाकार स्वयं ही इसे तैयार कर रंगीन रोशनी अथवा सूती डोर, तार आदि का कलात्मक गुथान दिये नड़ को आकर्षक बनाता है। यह तीन-चार फीट लंबाई लिए चार छिद्र वाली होती है। फँक इसके आर-पार प्रवाहित होती रहती है।

इसी तरह का एक वाद्य कानी होता है, जिसका सुर तीखा होता है जबकि नड़ का सुर मोटा तथा गंभीर होता है। पहले नड़ वादक सांस खींचता है, फिर गले से आवाज निकालता है। यह मुश्किल है इसीलिए नड़ अधिक समय तक नहीं बजाई जाती। बिलोचिस्तान में इसे लड़कियाँ बजाती थीं। सीमावर्ती होने से मरू भाग का यह प्रमुख वाद्य बना, जिसे भेड़, बकरियाँ तथा सांडियाँ चराते समय बजाया जाता है।

बाड़मेर, जैसलमेर में लंगा जाति के लोगों का यह प्रिय वाद्य है। नड़ की प्रसिद्धि जैसलमेर निवासी करणा भील से अधिक हुई। उसका यह मुख्य वाद्य था। करणा डाकू के रूप में ख्यात था। उसने जितने भी डाके डाले, बाहर ही बाहर और लूटपाट का धन जरूरतमंदों में बांटा। कभी किसी औरत को नहीं सताया। वह अपने सिर पर बंधे मारवाड़ी फैटे में राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती की मूर्त रखता और सुबह-शाम उन्हें रिझाने के लिए नड़ वादन करता।

### प्रयोगधर्मी वाद्य

इन वाद्यों का आविष्कार किसी समय विशेष या युग-काल विशेष की देन नहीं है। निरन्तर इनके बनने का सिलसिला कोई रहा, ऐसी बात भी नहीं। परंपरा का प्रवाह सदैव गतिशील रहता है

परन्तु कोई विशिष्ट, प्रखर, प्रतिभावान, होनहार, कुशाग्र तथा सूझबूझ का धनी कभी कोई नया या पुनर्नया सृजन करने का सामर्थ्य लिए होता है।

कहा जाता है कि अमीर खुसरो के समय मृदंग को काटकर पखावज का निर्माण किया गया। किसी वाद्य में आंशिक जोड़ तथा घटा-बढ़ी कर भी वाद्यों को नया रूप दिया गया। यह सिलसिला सभी क्षेत्रों में रहा। एक ही तरह का वाद्य अपने-अपने क्षेत्र का वैशिष्ट्य लिए भिन्न नाम से भी चर्चित हुआ। आवश्यकता और सुविधा के रहते भी वाद्य नये रूप में आये।

उज्जैन के इन्द्रसिंह बैस ने बताशा तथा ताल वैभव नामक वाद्यों का निर्माण किया। एक बार जब वे टेलीविजन पर कार्यक्रम देने गए तो नगाड़े की एक टंकी सेंकते समय जल गई, तब उनके मन में आया कि ऐसा कोई हल निकाला जाय, जिससे टंकी ले जाने का कोई विकल्प हाथ लगे, फलस्वरूप दो किलो वजनी बताशा बनाया, जिससे नगाड़ा ले जाने और उसकी टंकी सेंकने की परेशानी से मुक्ति मिल गई।

एक और ताल वैभव नाम से वाद्य भी इनकी उपज से बना। फिल्मी गानों में रिकार्डिंग के समय कभी ढोलक तो कभी नाल बजानी पड़ती। दोनों को लाना ले जाना बड़ा मुश्किल था, अतः उन्होंने ढोलक को काटकर उसे नाल के मध्य फिट कर दोनों का एक रूप कर दिया। मैंने जब यह सुना तो सुझाव दिया, उसका नाम ढोनाल अधिक उचित है।

यही नहीं, एक देश से दूसरे देश तथा प्रांत स्तर पर वाद्यों का आदान-प्रदान भी हमारे यहाँ बखूबी रहा है। हमने इस दृष्टि से सदैव ही गहन आत्मीयता तथा सौहार्द्र का परिचय दिया और उन वाद्यों को अपनी प्रकृति, परिवेश से ओपित किया है। इस दृष्टि से भारतीय लोकवाद्यों का अध्ययन भी उसके प्रवाह को लेकर बड़ी अनोखी दास्तान लिए है।

## एक महीना ऐसा भी .....!

डॉ. मालती शर्मा

समय की, संवत्सर वर्ष की, सौर और चांद गणनाद पद्धति में समानता लाने के लिये, किसी महीने में दो तिथियों के एक जैसे कभी चौथ-पंचमी, कभी एकादशी-द्वादशी एक हो जाती है। इस तरह होने से बचे तीन वर्ष की तिथियों के समय को मिलाकर खगोल और ज्योतिष शास्त्रियों ने बारह महीनों की रचना से बचे समय को एकत्र कर वर्ष में तीन वर्ष के अन्तराल से एक 13वें अतिरिक्त मास, 'अधिक मास', 'मलमास', 'पुरुषोत्तम मास', 'लौंद का महीना' की रचना की है।

तीन वर्ष के अन्तराल से पड़ते वर्ष के इस अधिकमास की खगोलीय-ज्योतिषीय अवधारणा पर श्री पी. बी. काणे के 'धर्मशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में अत्यंत विस्तार से विचार किया गया है और अधिकमास की इस अवधारणा के सूत्र वैदिक युग में भी विवेचित हैं। गौरतलब यह भी है कि अंग्रेजी काल गणना में जो 'लीप ईयर' का समय लीप ईयर में फरवरी माह में एक दिन बढ़ता है। अट्टाईस की जगह फरवरी उनतीस दिन की होती है, भारतीय काल गणना में वह तैंतीस वर्ष में बढ़कर एक माह, अधिक माह हो जाता है।

तीन वर्ष बाद का यह तेरहवाँ महीना, देश के विभिन्न प्रान्तों में इसके मलमास, अधिकमास, पुरुषोत्तम मास, खलमास, डोंडामास; महाराष्ट्र 'लौंद का महीना' कई एक नाम हैं। पर देशभर में तीन वर्ष बाद पड़ने वाले इस अतिरिक्त माह की पहचान 'अधिकमास' और 'पुरुषोत्तम मास' से है। 'लौंद का महीना' तो यह सिर्फ पश्चिमी उत्तर भारत विशेषतः ब्रजक्षेत्र में कहा जाता है। ठेठ ग्रामीण लोक में तो यह 'मलमास', 'लौंद का महीना' ही कहा जाता है और जाना जाता है। पर लौंद का महीना है अधिक मास का ही नाम, कोशों में 'लौंद' का अर्थ अधिक मास दिया है।

जैसा कि लोक जीवन में लोक पारंपरिक अवधारणाओं की संरचना का सुस्थापित तथ्य यह है कि उनके निर्माण में शास्त्र-पुराण

और लोक प्रचलित कथा, कहानियों, किंवदंतियों का न्यूनाधिक योग रहता है और वे मूल अवधारणा की संरचना में लोकजीवन में भिन्न-भिन्न प्रवीनीय मिथकीय अर्थ लिए बहुआयामी विस्तार पाती हैं। अधिकमास, मलमास की अवधारणा संरचना भी कोई अपवाद नहीं है। तीन वर्ष बाद आते ज्योतिष, खगोलीय शास्त्र सम्मत अवधारणा लिये इस माह के पौराणिक संदर्भों के अनुसार वर्ष के इस तेरहवें माह की रचना स्वयं भगवान ने हिरण्यकश्यप के वध के लिये की थी। क्योंकि उसे बारह महीनों में न मरने का वरदान मिला हुआ था।

जैसा कि पौराणिक संदर्भ है भगवान ने वर्ष के बारह महीनों के अलावा हिरण्यकश्यप को मारने के लिए इसकी रचना की तो 'अधिकमास' नाम तो ठीक पर इसे 'मलमास' क्यों कहा जाता है? मलमास नाम कैसे पड़ा? जब नाम की शोध में खोजबीन हुई, विद्वानों से चर्चा हुई तो दो मत सामने आये।

कुछ विद्वानों का मत है कि यह तेरहवाँ महीना तीन वर्ष के बारह महीनों के बचे समय का, काल का मल है, मलीन है इसलिए इसका नाम मलमास है। पर मलमास नाम पर मेरी जिज्ञासा के उत्तर में लोककला साहित्य विज्ञ डॉ. महेन्द्र भानावत ने अपने 16 जनवरी 2015 के पत्र में लिखा है- दरअसल यह 'मल्ल मास' है, मासों का मास, बारह मासों से सवाया, अधिक बलशाली, बलधारी। उच्चारण की सहजता से 'मल्ल' का 'मल' रहकर 'मलमास' बन गया। भाषा वैज्ञानिक भी इससे सहमत हैं।

भानावत जी का यह मत समीचीन जान पड़ता है। युद्ध-शास्त्र भी 'मल्लमास' नाम के पक्ष में जाता है। इस नये बने बिना नाम के माह में पूरे माह भगवान का राक्षसों से युद्ध होता रहा। युद्ध के एक प्रकार मल्ल युद्ध में युद्ध करने वाले वीर योद्धा को 'मल्ल' कहा जाता है। यह मास शुरू में वीर योद्धा मल्लमास कहलाया। बाद में जैसी कि भाषा-वैज्ञानिक प्रवृत्ति है उच्चारण सुख में शब्दलोप होने की, मल्लमास में से एक 'ल' का लोप होने से वह 'मलमास' कहा जाने लगा और आज सर्वत्र यही नाम प्रचलित है। महाराष्ट्र में कसरत का एक रूप मल्लखंभ-मल्लखंभ है। डॉ. भानावत ने इस प्रक्रिया का बहुत विस्तार से विवेचन करते हुए अपने परिवार का उदाहरण दिया कि कैसे उनके दादाजी, पिता जी जीत मल्ल, प्रताप मल्ल से जीतमल, प्रतापमल हो गए। और पत्र पढ़ते हुए मेरे ध्यान में तुरंत संविधानवेत्ता लक्ष्मीमल सिंघवी आए जो

कि पहले लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ही थे।

किन्तु वास्तविक नाम 'मल्लमास' ही रहा हो, लोकजीवन में तेरह की संख्या अधिक मास से जुड़ी हिरण्यकश्यप के वध, बारह महीनों के मल से बनी मलीनता की अपवित्रता की अवधारणा के कारण यह मलमास मलीनमास, खलमास बना, ब्याज मास बना, इस पूरे मास में कोई भी शुभ कार्य नहीं होता था, सब इस महीने को दुरदुराते, यह संवत्सर से बाहर भटकता-फिरता लोकजीवन की उपेक्षा सहता रहा। तब लोक परम्परा कहती है कि वह भगवान के पास गया और अपनी व्यथा कही। रोया कि आपने मुझे कैसा बनाया? सब महीनों के अपने-अपने स्वामी देवता हैं, मेरा कोई स्वामी देवता नहीं। सब मुझसे नफरत करते हैं। अधिक मास का दुःख सुन भगवान ने उसे हृदय से लगाकर कहा- 'चल, मैं तुझे अपना नाम देता हूँ, अब तू मेरे नाम से 'पुरुषोत्तम मास' कहलायेगा। तू वर्ष का सबसे पवित्र माह होगा। तुझमें जो दान-पुण्य, जप-तप, पूजा-पाठ किया जायेगा, उसका पूज्य देवता मैं रहुँगा और उसका सौ गुना फल मिलेगा।

भगवान ने अधिक मास मलमास के पुरुषोत्तम मास होने और स्वयं का नाम उसको देने, उस माह का देवता बनने की घोषणा गीता- 'मासानाम पुरुषोत्तम मास' कहकर की, पर भगवान का नाम और स्वामित्व अपरिमित महत्त्व पाकर भी मलमास के मलीन, अशुभ और अशौच होने के पक्ष लोकजीवन से तिरोहित नहीं हुए। आज भी देशभर में अधिकमास में कोई भी मंगलकार्य नहीं होता है। अधिकमास का यह पक्ष भारत व्यापी है और पुरुषोत्तम मास का सौगुना पुण्यप्रदायी पक्ष भी।

हर प्रान्त के पुरुषोत्तम मास में दान-पुण्य, पूजा-पाठ की संरचना के अपने-अपने पक्ष हैं, सौ गुना पुण्य लाभ के अपने-अपने रूप हैं। पर दो पक्ष सभी प्रान्तों की पुरुषोत्तम मास की अवधारणा के सभी प्रान्तों में किंचित अन्तर लिए समान हैं। पवित्र स्थलों, तीर्थों में स्नान और परिक्रमा करना और बत्तीस अपूप (संस्कृत) मालपुये, पुये, छेद वाले विशेष लोक व्यंजन 'अनरसे', 'हिस्से', छेद की मिठाईयाँ म्हे सूर पाग, घेवर दान करना। इतना न संभव हो, तो बताशे ही जिनमें खूब छेद होते हैं, दान करना।

मेरी छोटी बहिन ने बताया कि उनकी सास पुरुषोत्तम मास में बत्तीस मालपुए, तीस महीने के तीस दिन के लिए और दो

अपने और भगवान के लिए लाल कपड़े में बाँध काँसे या ताम्बे के थाली कटोरा, जो भी बर्तन मिल जाये, उसमें रखकर दामाद को दान करती थीं। महाराष्ट्र में बत्तीस अनरसे लाल कपड़े में बाँध कभी चाँदी के पात्र में या फिर ताम्बे काँसे के पात्र में रखकर दामाद को दान किया जाता है। अब तो ये थाली-कटोरा स्टील की होने लगी हैं।

दामाद को दान करने के पीछे वासंती सालवेकर ने बताया कि उनके घर में अपनी लड़की होती है, पर लोक का विश्वास है कि दामाद को दान का, इक्कीस ब्राह्मणों को भोजन कराने के बराबर पुण्य मिलता है। दामाद को दान की रीति गुजरात में भी है। भारतीय लोक परम्परा, लोकजीवन में पुरुषोत्तम मास की दान-पुण्य और धर्म की संरचना के तीन आयाम और उनके प्रान्त भेद से विस्तार हैं। दान-पुण्य, पूजा-पाठ पहले क्रम पर, व्रत और परिक्रमा क्रमशः इनमें से यथासाध्य जो जितना कर सकता है।

मलमास, अधिकमास के पुरुषोत्तम मास और लौंद का महीना, इन दोनों रूपों की प्रामाणिक संरचना की जानकारी, इन्द्रवती सारस्वत, गाँव-तारापुर और मंजनी शर्मा, गाँव- गोपी की नगरिया, जिला-मथुरा ने दी है। इन्द्रवती ने पुरुषोत्तम मास के दान-पुण्य, पूजा-पाठ, व्रत-परिक्रमा के तीनों आयामों की संरचना की विस्तार से व्याख्या के साथ 'लौंद का महीना' की लोकाभिमुख, लोकजीवन की छवि प्रस्तुत की है।

इन्द्रवती का कहना है कि पुरुषोत्तम मास में जलेबी के दान और उनसे तुलसी की परिक्रमा लगाना बहुत पुण्यप्रद है, इसका कारण छेद हैं। पर छेदों की इतनी महत्ता का कोई भी कारण वे नहीं बता सकीं। जैसा कि पहले उल्लेख किया, दान में छेदों के कारण ही मालपुए, पुए, अनरसे और छेद वाली अन्य मिठाईयों, वस्तुओं का भी महत्त्व है।

दान पुरुषोत्तम मास के व्रत, पूजा-पाठ, कथा-भागवत परिक्रमा की संरचना में भी जुड़ा है। पुरुषोत्तम मास के पाँच व्रत मुख्य हैं। पूर्णिमा, दोनों पक्षों की एकादशी और चार या पाँच, जितने पड़े रविवार। ये व्रत पूर्णिमा को पूरे होते हैं। रूमाल-टोपी समेत लोकपरम्परा में पाँचों कपड़े होना जरूरी है। लोकसाहित्य में भी ये मिलते हैं। कुछ लोग पूरे अधिकमास एकासना, एक समय भोजन का व्रत लेते हैं।

डॉ. विद्याबिन्दु के अनुसार पूर्वी उत्तरभारत में पुरुषोत्तम मास में शिवलिंग पर चंदन, रोली, हल्दी किसी से भी बिल्वपत्र पर राम नाम लिखकर चढ़ाते हैं। बिल्वपत्रों की संख्या 11-21-51-108 श्रद्धानुसार रहती है। यह लिखे बिल्वपत्र शिवलिंग पर नित्य पूजा के साथ ही चढ़ाये जाते हैं। कितने दिन तक यह भी व्रत लेने वाले की इच्छा पर निर्भर होता है, पर ग्यारह से कम नहीं।

अधिकमास (पुरुषोत्तम मास) में दान-पुण्य की वस्तुओं पूजा-पाठ परिक्रमा आदि की संरचना में देशभर में सभी प्रान्तों में काफी सीमा तक समानता है। अधिक मास में दान की प्रमुख वस्तु हैं 'अपूप'। संस्कृत जिसने देशभर में लोक जीवन में अनरसे, पुए, मालपुए अनेक नाम ग्रहण किए हैं। महाराष्ट्र अनरसे, पश्चिमी-पूर्वी उत्तरभारत के गाँवों में पुए और शहरों में मालपुए दान किए जाते हैं गुजरात में भी। मिठाईयों में घेवर, खुरमी म्हेसूरपाक जलेबी जिनमें जितने ज्यादा छेद हों, उनका दान करना उतना ही ज्यादा पुण्यप्रद है। पर अधिक छेदों की वस्तुओं के दान करने के समर्थन में कोई लोककथा या किंवदंती नहीं मिलती है। संभावना तो मिलने की है। लोक परम्परा की प्रवृत्ति है ऐसी।

पुरुषोत्तम मास में परिक्रमा लगाना भी बहुत पुण्यदायी है। परिक्रमा जिस क्षेत्र में जिस प्रांत में जिस तीर्थ की श्रेष्ठता की मान्यता है, लोक में उसी की परिक्रमा करते हैं। काशी में पंचकोशी की, इलाहाबाद में चित्रकूट की, ब्रज क्षेत्र में मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन पर्वत की परिक्रमा पूरे देश में करते हैं। पूरे पुरुषोत्तम मास, किसी भी फल, मेवे, किशमिश, बादाम, मखाने, बताशे, मूँगफली लड्डू, मठरी, शकरपारे, पुए से प्रतिदिन तुलसी की 108 परिक्रमा की जाती है। तुलसी की परिक्रमा तीर्थों की परिक्रमा से ज्यादा पुण्यदायी मानी जाती है। ठीक भी है तुलसी पुरुषोत्तम प्रिया विष्णुप्रिया जो ठहरीं! आजकल परिक्रमा चाकलेटों से भी लगाते हैं। पंचकोशी, चित्रकूट, गोवर्धन आदि की परिक्रमा कुछ लोग पाँच पुरुषोत्तम मास लगाने का व्रत भी लेते हैं। कुछेक बार ही लगाते हैं। कुछ, जब तक सामर्थ्य रहती है लगाते रहते हैं, जब भी अधिक मास पड़े।

पुरुषोत्तम मास केवल वैयक्तिक रूप से ही नहीं, सार्वजनिक रूप से भी अत्यंत पवित्र माह माना जाकर पूजा-पाठ कराने का महीना है। इस महीने में धनी-मानी लोग श्रीमद्भागवत की कथा, अखंड रामायण पाठ और भजन- कीर्तन कराते हैं। प्रवचन होते हैं।



गायों को चारा दिया जाता है। धर्मग्रन्थों- पुराणों का पठन-पाठन होता है।

आगरा के पं. डॉ. दामोदर प्रसाद शास्त्री जी ने 'काल माधव', 'स्मृति कौस्तुभ', निर्णय सागर और कई ग्रन्थों, तथा निर्णय सागर के एक सौ पचास वर्षों के पंचांगों का अध्ययन करके अधिकमास की ज्योतिषीय और खगोलीय अवधारणा की कुछ विशेष जानकारी दी है जो निम्न है-

अधिकमास बत्तीस महीने, सोलह दिन, चार घड़ी बाद पड़ता है। अधिकमास में कोई संक्रांति नहीं होती। अगहन, पूस, माह और फागुन के महीनों में अधिकमास नहीं पड़ता। उन्होंने यह भी बताया कि पिछले एक सौ पचास वर्षों के इतिहास में सन् 1983 में फागुन में मलमास पड़ा था। जब अधिकमास पूरा एक महीना जैसे पूरा जेठ, पूरा आषाढ़ न पड़कर दो महीनों में आधा-आधा जैसे आधा क्वार में और आधा कार्तिक में, एक महीने के पहले पक्ष में और दूसरे महीने के दूसरे पक्ष में पड़ता है तो उसे 'संतर्शिमास' कहते हैं, क्योंकि उसकी गति सर्प जैसी टेढ़ी-मेड़ी होती है। दो माह में पड़ने वाले ऐसे अधिकमास को 'क्षयमास' भी कहा जाता है क्योंकि इसमें दो-महीनों के दो-पक्षों में भारतीय लोकजीवन में कोई भी शुभ कार्य नहीं होता।

जिस प्रकार इस तेरहवें महीने के मलमास, अधिकमास, पुरुषोत्तम मास नामों से जुड़ी पौराणिक और लोक-पारम्परिक कथा, कहानियाँ, किंवदंतियाँ मिलीं वैसी इसे लौंद का महीना कहने, लौंद का अर्थ व्यंजित करती कोई कहानी जिन क्षेत्रों में यह नाम प्रचलित है, वहाँ से भी बहुत खोज करने पर भी नहीं मिल सकी। पर, यह तत्सम, तद्भव नहीं, देशज शब्द है। अर्थ लोक से ही मिलेगा। जब भी मिले पर 'लौंद का महीना' कहे जाते इस माह में लौंद की पूजा, अर्चना की पूरी संरचना ग्रामीण लोकजीवन में अभी भी मिलती है, शहरों में कहीं-कहीं। अवधारणा से जुड़े लौंद के इस पक्ष में मिथकीय अर्थ और रंगीनी दोनों ही हैं। पर ब्रजक्षेत्र के बनियों और चौबे, चतुर्वेदी ब्राह्मणों में, लौंद महीने में किए जाने वाले सामाजिक रीति-रिवाज, अभी भी चलन में हैं। जो इस महीने की अवधारणा की अंग, संरचना हैं।

'लौंद का महीना' की अवधारणा के साथ जुड़ी इस माह के अँधेरे पाख में किसी कल्पित देवी-देवता का प्रतिरूप स्त्री-पुरुष की आकृति लौंदरी-लौंदरा बनाना, मुख्य आधारबीज है।

ग्रामीण लोकजीवन में लौंदरी-लौंदरा की पूजा की विशेष संरचना और शहरी लोकजीवन विशेषतः ब्रज के बनियों और चौबे में सामाजिक रीति के रूप में उसका विस्तार है।

इन्द्रवती सारस्वत और मंजनी शर्मा ने बताया कि ग्रामीण लोकजीवन में अधिकमास के अँधेरे पाख, कृष्ण-पक्ष में घरों में किसी भी दिन मीठे आटे के स्त्री-पुरुष की आकृति के 'लौंदरी-लौंदरा' और पुए सेके जाते हैं। शाम को चार-पाँच बजे के करीब अँधेरा होने से पहले गृहिणी दरवाजे के दायें कोने से पुरुष की आकृति 'लौंदरा और बायें कोने से स्त्री की आकृति 'लौंदरी' और चार-चार पुए रख देती है। गृहिणी जरा-सी हल्दी और पुओं में से जरा-जरा सा तोड़ लौंदरी-लौंदरा की पूजा करती, चारों ओर पानी घुमाती हैं। घर के लड़के-लड़कियों को पहले से बता दिया जाता है कि लड़के को सीधे कोने पर रखे और लड़की को बायें कोने पर रखे लौंदरी-लौंदरा पुए लेकर भागना होता है। जब ये भागते हैं तो गृहिणी हाथ में लकड़ी डंडा कहीं-कहीं मूसल लेकर यह कहती हुई 'लौंदरी-लौंदरा भागि गए, भागि गए' थोड़ी दूर तक उनके पीछे भागती है। लड़का-लड़की उन पुओं और आकृतियों को खा लेते हैं। गाँवों के संयुक्त परिवारों में यह लौंदरी-लौंदरा लेकर भागने की प्रक्रिया मनोरंजक हुआ करती है।

अपने घर में बच्चे न हों तो आस-पड़ोस के बुला लिए जाते हैं। बच्चों की उम्र दस के भीतर होनी चाहिये। पर इस पूजा की संरचना का मिथकीय अर्थ खुलने का कोई सूत्र हाथ नहीं लग सका। मीठे आटे के बने, सिके, स्त्री-पुरुष आकृति के ये लौंदरी-लौंदरा कौन है? कोई स्पष्ट मत नहीं मिला। ज्यादातर उत्तर 'क्या मालूम' में मिले। एक-दो ने कहा-'गणेश-पार्वती हैं' 'राधा-कृष्ण' हैं। पर अधिक संभव यही लगता है कि ये लौंदरा-लौंदरी लौंद के महीने का ही प्रतिरूप हैं।

ब्रज क्षेत्र के बनियों और चतुर्वेदी ब्राह्मणों में जिस लड़की की शादी हुई हो या शादी तय हो गई हो और अधिकमास, लौंद का महीना पड़े तो उसकी ससुराल 'लौंद' भेजा जाता है। लौंद में, लौंदरी-लौंदरा के साथ, सास-ससुर, दामाद को कपड़े, फल, मेवे, मिठाई, धान्य भी रहता है। इसमें मुख्य आकर्षण की वस्तु होती है समधी-समधिन के रूप में कल्पित लौंदरी-लौंदरा की आकृति जिनकी हास्य व्यंग्यात्मक रूप में कौतूहलपूर्ण चुहुल भरी सजावट की जाती थी। व्यंग्यात्मक कथन कूटोक्तियाँ लिखी जाती थीं। यह

सब, करने वाले कुछ विशिष्ट दक्ष लोग और शहर में रहते रिश्ते की महिलाएँ लड़के की ससुराल से आया 'लौंद' देखने आती हैं। लौंदरी-लौंदरा जिसमें होते, उसकी विचित्र सजावट, कटाक्षपूर्ण व्यंग्योक्तियाँ बड़ा हास-परिहास चुहुलपूर्ण वातावरण बनाती हैं। उन्हें लेकर उपस्थित महिला समूह समधिन् से छेड़छाड़ मजाक करता है। पर आज भाग-दौड़ वाली सिमटती जिन्दगी और एकल परिवार व्यवस्था में लौंद का यह रिवाज बहुत कम हो चला है। अभी भी कुछ परिवारों में यह रीति चलन में है। अन्त में कहूँगी कि अधिकमास की लोक परम्परा अवधारणा संरचना पर अन्य भारतीय भाषाओं में खोज अपनी तरह के इस महीने के व्यक्तित्व को ओर उजागर करेगी। पर यह कार्य लोकजीवन में से जानकार पीढ़ी के जाने से पहले जल्दी से जल्दी होना चाहिए।

## समाज लक्ष्मी और चौमुखा दीपक

दीवाली बहुत नजदीक आ चली थी। काम-काम और काम। चिन्ता से, शायद, बड़े सबेरे साढ़े तीन बजे नींद खुल गयी। सोते-जागते रातभर चली, दिमाग की उधेड़बुन को, कागजों पर उतारने के लिये टेबल लैम्प जलाकर, लिखने को पैन उठाया ही था कि दप्प.... पूरी कॉलोनी की बिजली अचानक चली गयी। घुप्प अंधेरा... खिड़कियों, रोशनदानों से जो सड़क के लैम्प पोस्टों की रोशनी आ रही थी, वह भी नहीं।

एक अपूर्व-सा जाग्रत अंधेरा, बाल मुहूर्त की बेला, बिजली की चकमक नहीं। सहज ही खिड़की पर जा खड़ी हुई। मन के किसी कोने से चालीस-पैंतालीस वर्ष पूर्व के भुनसारे की छुअन उठकर मन प्राण सहलाने लगी। 'कहाँ थीं तुम' उससे पूछा पर कोई उत्तर नहीं मिला। खिड़की से आकाश में चमकता बड़ा-सा शुक्र तारा दिख रहा था।

मैंने बिजली आने का कोई पाँच-सात मिनट इन्तजार किया होगा। पर मन की उथल-पुथल तीव्र होने लगी। समई में तेल भरा, सूत के धागे और कपास मिलाकर मोटी-सी बत्ती बट कर डाली, समई प्रज्वलित की और फिर लिखने बैठ गयी। उँह.....

मोमबत्तियाँ खत्म हो गयीं थीं। आयेंगी ही दीपावली पर जल्दी इतनी..... फिर घर में इमरजेन्सी लाइट भी है, पर इस समय वह बेटे के कमरे में थी तो वक्त पर काम आया अपना वही पुराना साथी दीया, सृष्टि के आदिम धुँधले से, अँधेरे के विरुद्ध,

लड़ने खड़ा हुआ पहला और शायद इस 21वीं सदी, अणु युग का अन्तिम सैनिक भी। शास्त्र कहते हैं -

*सूर्याश सम्भवो दीपः*

दीपक सूर्य का अंश है। दीपक की कोई पृथक सत्ता नहीं। क्या इसका यही अर्थ? आदिवेद ऋग्वेद कहता है 'इस मरणधर्मा विश्व में एक ज्योति ही अमर है।

*इंउ ज्योतिः अमृतं मत्येशु*

एक अमर वाणी पुकार कर कहती है :

*अव्वल अल्ला नूर उपाया कुदरत के सब बंदे*

*एक नूर ते सब जग उपजिया कौन भले कौन मंदे*

प्रकाश की बात करें तो प्रकाश अग्नि देता है, सूर्य से प्राप्त होता है, चन्द्र से भी प्रकाश मिलता है परन्तु इन सूर्य, चन्द्र और अग्नि के प्रकाशों में सर्वोत्तम प्रकाश है, दीपक से मिलने वाला प्रकाश। दीपकों का प्रकाश सबसे अच्छा क्यों? क्योंकि वह स्वयं मनुष्य के अपने हाथों से, अपने जुटाये साधनों से अँजोरा गया प्रकाश है। उसकी आत्मा की ज्योति है, चेतना की दीप्ति है, जाग्रति की रोशनी है पुरुषार्थ की निष्ठा का उजाला है। काल के तीनों आयामों में, जीवन और जगत की सारी स्थितियों में, जन्म, जरा-मृत्यु सारी अवस्थाओं में, दीपक मनुष्य का मार्गदर्शक है। तभी तो गौतम बुद्ध ने कहा था। जीवन में, साधना में, अपने दीपक आप बनो।-

कहते हैं कि एक बार सूर्य भगवान की पत्नी रानादे को जिज्ञासा हुई कि आखिर ये सूरज देवता मुझे सोता हुआ छोड़कर इतने सबेरे-सबेरे रोज कहाँ चले जाते हैं? कहीं इनकी कोई दूसरी ..... ? रानादे ने सूर्य से पूछा तो वे मन का संदेह जान गये। पत्नी का संदेह मिटाने के लिये वे रश्मिस्थी एक दिन रानादे को भी अपने साथ ले गये। यह कहानी कार्तिक स्नान करने वाली नारियाँ कहती हैं। कार्तिक स्नान करने वाली स्त्रियों को जब पता लगा तो वे दर्शनों के लिये कलाधारी सूरज महाराज की कला राना दे के दर्शनों के लिये उमड़ पड़ीं। रानादे ने कार्तिक स्नान करने वाली स्त्रियों को दर्शन तो दिये ही, उन्हें सुहाग भी दिया। स्त्रियों को सुहाग देते समय रानादे ने महिलाओं को कुम-कुम के छींटे दिये। छींटे देते समय जितने भी कण धरती पर गिरे, वे ही दीपकों के

रूप में जल उठे। सूर्य के अंश से दीपकों की उत्पत्ति अर्थगर्भित रूप में प्रस्तुत करती है यह लोककथा।

इस धरती पर सूर्य और चन्द्र नहीं: दीपक मनुष्य के होने, उसके घर-बार जीवनधर्मिता का प्रतीक है। वंश में यदि कोई घर में दीया जलाने वाला न रहे, जिस घर में दीपक न जलता हो, सूर्य-चन्द्र चाहे प्रकाश विकीर्ण करते रहें तो वह वंश, विराट जीवन प्रवाह में अपना अस्तित्व अपनी उपस्थिति खो बैठता है। 'सूर्य को दीपक दिखाना' मुहावरा तो है लेकिन हमारी पूजा परम्परा में साँझ-सबेरे, गंगा, यमुना, नर्मदा के तटों पर सूर्य-चन्द्र के लिये दीप दान होता है। अग्नि की पूजा में भी दीपक जलाया जाता है। दीपक प्रार्थना है, याचना है, कामना है, आशीष है, याद है, प्रसाद है, मनुष्य में छिपी शक्ति तो अद्भुत प्रेरक वरदान है। दीपक में ज्वाला है और ज्योति है वह भक्ति और शक्ति रूप है, हमारी पंचोपचार पूजा का अविभाज्य अंग है। दीपक अग्नि और सूर्य दोनों का प्रतीक है, अतः वह स्वयं में परिपूर्ण यज्ञ का लघु रूप है। सभी के लिये सुलभ सहज लघु यज्ञ।

अग्निपुराण अग्नि को 'कवि' कहता है। मैं कहती हूँ- 'हाँ धूम रेखाओं से अच्छी काव्य रचना है अग्नि। धुँआरे महल बनाता है। अच्छी बात है पर दीपक .... दीपक तो मानव के उजाले की जिजीविषा का समाज लक्ष्मी के भोज पत्रों पर लिखा अमर उज्ज्वल महाकाव्य है। वह जीवन में ज्योति जलाने की प्रकाश लाने की मानव चेतना की पहली किरण कदम है। ज्योति की गंगा का गोमुख है। भारतीय भाषाओं के लोकसाहित्य की दीपों की कतार में झलमल करती दीप अवलियों में कितनी तरह के कैसे-कैसे दीये हैं, यह गणना बहुत कठिन होगी। कौन कहे? कितनी कहे? इन दीपों की सहस्र रजनी चरित्र कथा?

लोक जीवन और लोक साहित्य के ये सारे दीपक जैसे समाज-लक्ष्मी के सहस्र दल खिले कमल की पंखुड़ियों पर अंकित आदिमयुग से अब तक मानव की मूल प्रवृत्तियों के विकास और ह्रास का इतिहास हैं। समाज के अंधेरे-उजाले युगों की सत्ता-महत्ता के संघर्षों की जय-पराजय की ज्योति-गाथा हैं।

शास्त्र सम्मत पूजा आराधना में यदि फूलबत्ती और विविध देवों के अनुसार तीन, पाँच, सात या ग्यारह बाती प्रज्वलित करने का महत्त्व है तो लोकानुष्ठानों, पर्व-त्योहारों पर चार बत्तियों वाला दीपक जलाना विशेष अर्थ और विमर्श रखता है। लोक जीवन में

इस चौमुखे ; चार बत्तियों के दीपक का महत्त्व का कारण बहुत स्पष्ट है। लोक की आस्था जीवन की युग्म शक्ति में विश्वास करती है। सर्वजन कल्याण की कामना करती है। सबके लिये शान्ति और ज्ञान का प्रकाश चाहती है।

दीपावली पर ये दो चौमुखे दीपक समाज की सारी दिशाओं सारे अंगों के अंधकार, कलुश, कालिख और प्रदूषण रहित होने की कामना से जलाये जाते हैं। इसकी चार बत्तियाँ जैसे समाज लक्ष्मी, कमलासान के चार प्रमुख पाटल पत्र हैं।

इन चौमुखे दीपकों की चार बत्तियाँ हमारे सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के लिये उसके योगक्षेम, आरोग्य सुख शान्ति और सुचारू गतिशीलता के लिये सतत् कार्यरत रहकर जलने वाले, तेल पूरने वाले वर्गों की प्रतीक हैं।

समाज लक्ष्मी के स्वस्तिक पर धरा प्रकाश बिखेरता यह दीपक जनतांत्रिक चेतना का दीप है। समाज के देह, मन, प्राण और सर्वतोन्मुखी विकास का ज्ञान, कर्म, आरोग्य और न्याय का दीप है। इसे जगाते आये हैं। इसमें जगते आये हैं दीप में अवरित तेल भरते आये हैं, समाज के ही ज्ञानी, पंडित, किसान (सारा कर्मरत वर्ग) दीपक वैद्य और न्यायिक।

इस दीपक में किसी केन्द्रवर्ती सत्ता की सारा तेल पीकर अपना ही अहं उजालने वाली अकेली बाती नहीं है। इस चौमुखे दीपक के प्रकाश में ही सत्ता का उगला हुआ फैलाया हुआ सारा अन्धकार नष्ट होता है। समाज के जीवन की, ज्ञान की, कर्म, आरोग्य और न्याय की दिशाएँ आलोकित होती हैं। समाज लक्ष्मी का स्वस्तिक अपनी चारों भुजाओं में ज्योतिमान हो सित अक्षत, पीत हल्दी, अरुणवर्णी मंगल कुमकुम के छोटों से सजता है।

हमारे सामाजिक जीवन की ज्ञान, कर्म, आरोग्य और न्याय की चारों दिशाओं के कलुश कालिख अंधकार रहित होने से बढ़कर ऐसा कौन-सा दूसरा वरदान है जो माँगा जाए? कौन-सा आशीष है जो नये समाज कर्णधारों को दिया जाये ?

वैदिक मंत्र 'सर्वे भवन्तु सुखिना.....' से कहीं अधिक व्यापक यथार्थ की धरती पर जल रहा है यह सामाजिक सुव्यवस्था की कामना का चौमुखा दीप लोक मंगल का दीप विश्व कल्याण का दीप।

## लोरी की यात्रा

डॉ. सुधा गुप्ता 'अमृत'

लोरी उन गीतों को कहते हैं जो नन्हें-मुन्नो को सुलाने के लिए गाये जाते हैं। यह गीत पारिवारिक वातावरण से प्रेरित होते हैं। और उनमें माता के हृदय की ममता और निर्मल वात्सल्य की सरल स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है। प्रायः संध्या के समय ही यह गीत गाये जाते हैं। इसलिए उनमें सूरज डूबने से लेकर आकाश में चाँद निकलने और तारों के छिटकने तक के प्राकृतिक दृश्यों के सजीव चित्रण भी मिलते हैं। मातायें उन गीतों में अपने भोले-भाले बच्चों के भविष्य के विषय में तरह-तरह की कोमल कल्पनायें किया करती हैं। वह उनके भय, आशंका, हर्ष आदि का ध्यान करके उनकी भावनाओं को सुनिश्चित करने और सोने की प्रेरणा देने का प्रयत्न करती हैं। लोरी गीतों की परम्परा उतनी ही पुरातन है, जितनी स्वयं माँ है। सीय-असभ्य, धनी-निर्धन सभी जाति-वर्ग और समाज की माताओं के कण्ठ से निःसृत लोरी उतनी ही मीठी है, जितनी उसके स्तन की मीठी धारा।

‘लोरी वह मधुर ध्वन्यात्मक लय है जिसकी गूँज में सम्मोहित होकर बच्चा अपनी पलकें बंद कर लेता है, और धीरे-धीरे निद्रा की गोद में चला जाता है, सो जाता है, सुख की नींद।’ माँ बच्चे को क्यों सुलाती है? वह निंदिया को प्रेम से क्यों बुलाती है? क्या इसलिए कि माँ को स्वयं थोड़ी देर आराम मिल जाय?

माँ सदैव यह चाहती है कि उसका शिशु हमेशा आनंद सागर में गोते लगाये। शिशु जाग्रत अवस्था में अविराम हाथ-पैर चलाता रहता है। ऐसी स्थिति में वह थक जाता है। बच्चा इस भौतिक नवीन चकाचौंध से थोड़ा आँखों को आराम दे सके और नींद में खोकर ऐसे मीठे स्वप्न लोक में खो जाये, जहाँ सिर्फ आनंद ही आनंद हो, जहाँ सिर्फ वह हो और उसके मधुर सपने। नींद में बच्चा हँसता है, मुस्करता है। माँ उसे देखकर प्रसन्न होती है कि मेरा बच्चा सुख के सपने देख रहा है। बच्चे के हाथ-पैर शिथिल हैं आराम पाते हुए किंतु मन खोया है सुन्दर सपनों में। सम्पूर्ण सृष्टि की हर माँ यही तो चाहती है। इसीलिए वह निंदिया का आवाहन करती है। कान्हा की बाँसुरी

के सम्मोहन स्वर में जिस तरह गोपियाँ खिंची चली आती हैं, उसी तरह माँ की लोरी की गुनगुनाहट में खिंची चली आती है निंदिया और समा जाती है नन्हें शिशु की पलकों में। कोयल की कूक के मधुर सम्मोहन में खिंची चली जाती है कवि की लेखनी, वैसे ही लोरी की मधुर गुनगुनाहट में खिंची चली आती है निंदिया और सुला देती है बच्चे को सुख की नींद। नदिया की सर-सशलहर है लोरी। नदिया की सरसराती लहर को देखकर मुग्ध हो जाती है समूची सृष्टि ऐसी ही मुग्ध होकर लोरी की धुन पर चली जाती है निंदिया रानी बच्चे को सुलाकर उसे स्वप्न लोक की सैर कराने। चाँदनी की शीतलता है लोरी-चाँदनी की शीतलता से जैसे मन को शांति मिलती है, ऐसे ही लोरी सुनकर बच्चे का मन शांति पाता है, खो जाता है सपनों के समुन्द्र में आनंदित होता हुआ। लोरी का अस्तित्व संसार में तब से ही व्याप्त है, जब से इस संसार में बच्चा आया है। बच्चे के जन्म के साथ ही जुड़ जाता है नाता बच्चे से लोरी का। बच्चा चाहे वह कन्हैया के रूप में जन्मा हो या राम के रूप में।

लोरी गीतों का प्रणेता कौन है? भक्तिकाल में महाकवि सूरदास के काव्य में बालगीतों का जो लालित्य देखने को मिलता है, उसे देखकर कहा जा सकता है कि सूरदास लोरी गीतों के जनक हैं।

मेरे लाल को आऊ निंदरिया  
काहे न आन सुलावे  
तू काहे न वेग सो आवे  
तोको कान्ह बुलावे  
जसोदा हरि पालनै झुलावे  
हलरावै दुलरावै मल्हरावै  
जोई सोई कछु गावै

सूर के बालकाव्य में सूर्य की तरह ही प्रखर प्रकाश है। लोरी शब्द यद्यपि संस्कृत के लोल शब्द का अपभ्रंश माना गया है, जिसका अर्थ हिलाना-डुलाना, थपथपाना होता है। और लोरी भी थपथपाते, दुलारते, हिलाते-डुलाते माताओं द्वारा बच्चे को सुलाने के लिए गाई जाती है। निंदिया सचमुच बड़ी चंचल होती है। उसे बुलाकर लाल की पलकों में बिठाना माँ के वश की ही बात हो सकती है।

लोरी अपना रास्ता तय करती हुई आगे अवश्य बढ़ी है,

किंतु बदली नहीं है। माना कि शिशु के पालने बदल गये हैं, उसके खिलौने बदल गये हैं, पारिवारिक परिवेश बदल गये हैं, माता-पिता समय के साथ बदल गये हैं पर शिशु नहीं बदला, ना ही बदली है उसकी नींद। शिशु तब भी कान्हा था, आज भी कान्हा है, इसलिए लोरी तब भी वही थी आज भी वही है।

भारतवर्ष में लोरियों की परंपरा बहुत पुरानी है। आज भी गाँवों में अनपढ़ और अनजान मातायें परम्परा से प्राप्त कुछ ऐसी लोरियों की पंक्तियाँ सुनाती हुई पाई जाती हैं, जिनके मौलिक रूप और रचना काल के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। बहुत-सी लोरियाँ या उनकी पंक्तियाँ उनकी अपनी मनगढ़ंत भी हुआ करती हैं।

पहले एक अनपढ़ माँ अपने अनगढ़ बोलों से थपकी देकर सुलाती थी गोदी का झूला झुलाते-

सो जैहे, सो जैहे, सो जैहे री  
रात को उसनींदो भैया सो जैहे री।  
कौन ने मारो कौन ने पीटो  
कौन ने गारी दर्ई  
रात को उसनींदों भैया  
सो जैहे री

× × ×  
भैया के नन्हें-नन्हें पाँव  
पाँव खों पैजनियां गढ़ लाओ रे सुनार  
पैजनियाँ पहन भैया बगिया लौ जाय  
बगिया की मालिन थूल मथूल  
भैया से मांगे झंगा झूल  
भैया सो जैहे री

लोरियों में निहित गेयतत्त्व ही बालक को सुलाता है, बालक को लोरियों के शब्दार्थ से क्या लेना देना, वह तो संगीत प्रेमी है। बालक माँ के अनगढ़ बोलों और थपकी के साथ मधुर गुनगुनाहट में ही रम जाता है, क्योंकि लोरी माँ के हृदय से निकली स्नेहपूर्ण अभिव्यक्ति है, सायास या बनौवल नहीं। बालगीत साहित्य में निरंकार देव सेवक ने लोरियों की सबसे प्रमुख विशेषता बतलाई है कि उन्हें संगीत के स्वरों में गाया जा सके। किंतु कोई माँ साज-बाज के साथ बच्चे को सुलाने नहीं बैठती, ना ही उसके



लोरी के शब्द सार्थक ही होते हैं। माँ के पास तो ममता होती है, बच्चे के लिए शुभकामना के अनगढ़ बोल ही होते हैं। एक लोरी गीत में अपने बच्चे को सुलाती है-

अक्कूँ बक्कूँ करता है  
दिन भर रोता रहता है  
अच्छा-अच्छा बच्चा है  
जल्दी जल्दी सोता है।

इस लोरी के साथ माँ की थपकी का साज (वाद्ययंत्र) बजता है। और बच्चा सो जाता है। बड़ा विचित्र किंतु सत्य है लोरी का शाश्वत् अस्तित्व।

आधुनिक खड़ी बोली में लोरियों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। बाल गीतकारों में सबसे पहले लोरी लिखने में पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने रुचि दिखाई है-

आरी नींद लाल को आ जा  
उसको करके प्यार सुला जा  
तुझे लाल हैं ललक बुलाते  
अपनी आँखों पर बिठलाते  
तेरे लिये बिछाई पलकें  
बढ़ती ही जाती हैं ललकें  
क्यों तू है इतनी इठलाती  
आ आ मैं हूँ तुझे बुलाती  
गोद नींद की है अति प्यारी  
फूलों से है सजी सँवारी  
उसमें बहुत नरम मन भाई  
रुई की है पहल जमाई  
बिछे बिछौने हैं मखमल के  
बड़े मुलायम सुन्दर हलके  
जो तू चाह लाल उसकी कर  
तो तू सो जा आँख मूँदकर  
मीठी नींदो प्यारे सोना  
सोने की पुतली मत खोना  
उसकी करतूतों के ही बल  
ठीक-ठाक चलती है तन कर।

लोरियों में माता के मन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती

है, पुरुष कितना भी प्रयास करले माँ नहीं बन सकते। उनकी लोरियों में वह स्वाभाविक-सहज भावाभिव्यक्ति और अनुभूति दोनों नहीं आ पातीं। सायास लिखी गई लोरियों में वे सब गुण हो सकते हैं, जो लोरी को रोचक बनाते हैं। शिशु की भोली-भाली, टुकुर-टुकुर देखती आँखों में ना जाने कैसा जादू होता है कि लोरी-गीत झरने की तरह फूट पड़ते हैं।

लोरियों के केन्द्र में माँ होती है जबकि बालगीतों, शिशुगीतों के केन्द्र में बच्चा ही होता है। लोरियों में माँ का वात्सल्य भी भरा होता है, वह बच्चे के सौन्दर्य का वर्णन करती हुई उसके दीर्घायु होने की कामना करती है और कभी-कभी यह भी कामना करती है कि उसका बच्चा बड़ा होकर गुणवान, धनवान और यशस्वी हो। यानि लोरियों में पूरी बात बच्चे के लिए माँ ही कहती है, बच्चा तो बस उसकी जादुई ध्वन्यात्मक लोरियों पर मोहित होता हुआ सोता है। हिंदी बालसाहित्य में लोरियाँ कम लिखी गई हैं। महीयसी महादेवी वर्मा ने भी एक बालगीत लिखा था, जिसे लोरी कहा जा सकता है-

आओ प्यारे तारे आओ  
तुम्हें झुलाऊँगी झूले में  
तुम्हें झुलाऊँगी फूलों में  
तुम जुगनू से उड़कर आओ  
मेरे आंगन को चमकाओ  
तुम जुगनू से उड़कर आओ  
मेरे आंगन को चमकाओ।

यह बात स्पष्ट है कि आज लोरी साहित्य जितना या जो भी उपलब्ध है, उसे बारीकी से देखा जाय तो जो माधुर्य नारी कवियों की लोरियों में झलकता है, वह पुरुष कवियों की लोरियों में दृष्टिगत नहीं होता। उसे यदि विस्तार से स्पष्ट किया जाय तो अपने मुँह मियाँ मिट्टू बन जाने का भय है।

हिन्दी की आधुनिक कवियत्रियों में से बहुत कम ने लोरियाँ लिखने की ओर ध्यान दिया है। श्रीमती महादेवी वर्मा, तोरन देवी शुक्ल 'लली', रामेश्वरी देवी 'चकोरी' इत्यादि ने तो बच्चों के लिए कुछ लिखा ही नहीं। सुभद्रा कुमारी चौहान ने भी लोरियाँ लिखने की ओर कोई रुचि नहीं दिखाई। कुछ बालगीतों में उन्होंने माँ की स्वाभाविक ममता का बहुत सुंदर और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, जैसे एक कविता है 'मेरी बिटिया रानी'-



मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी।  
 नंदन वन सी फूल उठी वह छोटी सी कुटिया मेरी।।  
 माँ 'ओ' कहकर बुला रही थी मिट्टी खाकर आयी थी।  
 कुछ मुँह में कुछ लिए हाथ में मुझे खिलाने लाई थी।।  
 मैंने पूँछा यह क्या लाई? बोल उठी वह-माँ काओ।  
 फूल-फूल मैं उठी खुशी से मैंने कहा-तुम्हीं काओ।।

किंतु उनकी यह कविता लोरी नहीं बन पाई। विद्यावती 'कोकिल' ने कुछ सुन्दर लोरियाँ लिखी हैं जो उनके मीठे कण्ठ के कारण काव्य क्षेत्र में गूँज बनकर व्याप्त हैं।

निंदिया बहुत ललन को प्यारी।  
 अपने प्राणों का दीपक कर जीवन की कर बाती  
 सिरहाने बैठी हूँ कब से उसे जगाती  
 भभक उठी है छाती मेरी आँखें हैं कुछ भारी  
 निंदिया बहुत ललन को प्यारी  
 कभी हँसाने से न हँसा वह ऐसा असमझ भोरा  
 सोते सोते हँसा नींद में मेरा कौन निहोरा  
 प्रतिदिन मन मारे रह जाती कितनी उत्सुकता री  
 निंदिया बहुत ललन को प्यारी।  
 कौन कथा कहकर ना जानें परियाँ उसे हँसाती  
 मेरी कथा लड़खड़ाती सी चुम्बन में रह जाती।  
 मैं रह जाती हूँ कहने को मन ही मन कुछ हारी  
 निंदिया बहुत ललन को प्यारी।

इस गीत में लोरियों का सबसे अपेक्षित तत्त्व गेयता विद्यमान है। कोकिल जी की कल्पना की उड़ान भी ऊँची है। इस गीत में बच्चे को नींद बहुत प्यारी है। माँ कब से उठा रही है पर लाल है कि जागता ही नहीं। 'प्राणों का दीपक, जीवन की बाती' इस तरह के समर्पण के भाव भक्ति गीतों में अधिक होते हैं। अब माँ तो बच्चे के लिए समर्पित ही होती है, इसी आशय से संभवतः यह प्रयोग किया गया है। 'भभक उठी है छाती मेरी, आँखें हैं कुछ भारी' भभक से विद्यावती का आशय दुःखी होने से है। माँ दुःखी हो रही है कि मुझसे अधिक बच्चे को निंदिया प्यारी है। विद्यावती की लोरी का बच्चा नींद में हँसता है। माँ यहाँ कहना चाहती है कि निंदिया के हँसाने से बालक हँस रहा है, मेरे हँसाने की कोशिश पर नहीं हँसता है। माँ यहाँ बच्चे की तरह ही भोली प्रतीत हो रही है-मैं तो चुंबन लेकर ही रह जाती हूँ। गजब की कल्पना है

विद्यावती की कि ना जाने सपने में परियाँ बालक को कौन-सी कथा सुनाती हैं कि बच्चा प्रसन्न होकर हँसता है। इसीलिए उसके ललन को निंदिया प्यारी है। ऐसी भोली और भली-सी कल्पनाएँ बच्चे को जगाने, सुलाने के लिए पुरुष नहीं कर सकते। इन कल्पनाओं को, प्राणों के दीपक और जीवन की बाती को, बच्चे के उठाने, हँसाने को निरंकार देव सेवक ने कहा है कि दर्शन और अध्यात्म से जोड़कर इस प्यारे से गीत को भारीपन से लाद दिया- 'कोकिल जी के अध्यात्म विषयक विचारों के कारण इस लोरी में एक ऐसा भारीपन आ गया है कि अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता ही नष्ट हो गई है।' निरंकार देव सेवक की इस समीक्षा दृष्टि से ही अंदाज लगाया जा सकता है कि लोरी लिखने समझने के लिए नारी मन चाहिये जो कि पुरुष 'परकाया प्रवेश' किये बिना नहीं ला सकते।

यह बात अवश्य है इस लोरी गीत में लाल को सुलाने की जगह उठाने के भाव अधिक हैं। सभी बाल साहित्यकारों ने इसे लोरी गीत क्यों माना है, यह मेरी समझ में नहीं आता। इस पूरे गीत में कहीं भी विद्यावती कोकिल ने बालक को सुलाने के भाव व्यक्त नहीं किये। वे तो 'सिरहाने बैठी-बैठी कब से जगा रही हैं, लाल है कि उसे नींद प्यारी है। उस बालक के ना उठने (जागने) पर वे दुःखी हो रही हैं, उनकी आँखें भारी हो रही हैं, वे उसे सुला नहीं रही, बल्कि जगा रही हैं। भले ही गीत में सुबह का चित्रण नहीं है किंतु सुलाने के भाव भी नहीं हैं। अतः इस गीत को लोरी में शामिल नहीं किया जाना चाहिये, ना ही प्रभाती में।

इस गीत में वात्सल्य है। यह पूरा गीत वात्सल्य में आकंठ डूबा है। इस वात्सल्य गीत को लोरी या प्रभाती कहने से परहेज किया जाना चाहिये। डॉ. सरोजनी कुलश्रेष्ठ ने इस गीत के विषय में लिखा है- 'प्रस्तुत लोरी में प्रभाती भी शामिल हो गई है। इनकी इस लोरी प्रभाती में गेय तत्त्व विद्यमान है, परन्तु सरलता का अभाव है।'

लोरी साम्राज्ञी डॉ. शकुन्तला सिरोटिया की लोरियों में ममत्व की छलक देखते ही बनती है-

चाँदनी की चादर उढ़ाऊँ तुझे मोहना।।  
 सो जा मेरे लालना  
 सूरज भी सो गया, पन्थी भी सो गये  
 डाली की गोदी में फूल सभी सो गये।

तू भी चुपके से सो जा झुलाऊँ तुझे पालना  
सो जा मेरे लालना

शकुन्तला सिरोटिया की यह श्रेष्ठ लोरी कही जा सकती है। सुलाने के लिए यह बतलाना कि पूरी प्रकृति सो गई है—सूरज, पन्धी, फूल सभी इसलिए तू भी सो जा, मैं तुझे झूला झूलाती हूँ। यह सरल, सहज मनोभावों की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति है। शकुन्तला जी की एक और लोरी दृष्टव्य है—

चन्दा प्यारे आ जाओ, नींद रंगीली ले आओ  
चाँद लोक की परियाँ भेजो, भेजो मृग का छौना  
मुन्ना मेरा सोने जाता लगे ना इसको टोना  
पलना सोने का लाओ चन्दा प्यारे आ जाओ  
नीले रंग के पलने में हो तारे टंके सुनहले  
किरणों की हो डोरी उसमें झुमके नीले पीले  
लोरी मीठी गा जाओ चन्दा प्यारे आ जाओ।

चन्द्रमा आज भले ही उपग्रह मान लिया गया हो, भले ही उसकी जमीन पर रहने की तैयारी हो गई हो, पर चंदा मामा वह बच्चों के लिए पहले भी था और आज भी है। भविष्य के शिशु के लिए भी वह चंदा मामा बनकर प्यार लुटाता रहेगा।

इस लोरी में बाल साहित्यकार शकुन्तला जी ने चंदा मामा का आवाहन रंग-बिरंगी नींद के साथ किया है। बालक के सुख निंदिया के लिए अच्छी कल्पनाएँ लोरी के कैनवास पर बुनी गई हैं। थोड़ा विरोधाभास जरूर हो गया है, नीले रंग का पलना यानि आसमान का पलना जिसमें तारे टँके हों और चन्द्र किरण की डोरी, नीले-पीले झुमके फिर साथ में सोने का पलना भी शकुन्तला जी मंगवा रही हैं। चाँद बेचारा आसमान का पलना तो दे सकता है, फिर चाँद मामा से सोने का पलना मंगवाना जरा ज्यादाती लग रही है। यहाँ नीले रंग के पलना की बात कर रही हैं, सोने का पलना तो पीला ही होता है।

कुल मिलाकर लोरी का शब्द-विन्यास लालित्यमय है। श्रीमती लक्ष्मी देवी चन्द्रिका ने भी मार्मिक भावों के साथ लोरी लिखी है—

सो जा ललना-सो जा ललना  
माँ की गोद तेरा घर है  
फिर क्यों तेरे मन में डर है

सोने चाँदी का है वलना  
मीठी मीठी नींद बुला दूँ  
थपकी दे दे तुझे सुला दूँ  
कभी ना रोना मचलना  
चन्दा आया चन्दा आया  
साथ बहुत से तारे लाया  
मीठा दूध कटोरा लाया  
अच्छे पथ पर ही तुम चलना  
सो जा ललना

माँ की गोद में आने के बाद बच्चा निर्भय हो ही जाता है। इस लोरी में कल्पना और भावनाएँ दोनों में तालमेल तो है, किंतु लोरी अपनी पटरी से हटकर थोड़ा बहक गई है। चाँद, तारे और दूध का कटोरा लेकर आया है फिर कहा जा रहा है तुम अच्छे पथ पर चलना, कभी ना रोना और मचलना। दरअसल यह माँ की प्यार भरी समझाईश है, जिसे निरंकार देव सेवक ने बालगीत साहित्य का इतिहास में 'आदेश' कहा है। नन्हें शिशु को माँ भला क्या आदेश देगी। आगे सेवक जी ने लिखा है कि कोई इस लोरी में दिये गये आदेश को खुश होकर स्वीकार कैसे कर सकता है। लोरी शिशु के लिए गाई जाती है, शिशु अबोध होता है, उसे लोरी के शब्दार्थों से कोई लेना-देना नहीं रहता। लोरी में पूरी तरह माँ के भाव होते हैं, जैसा वह बच्चे के हित में चाहती है वैसे स्वर उसके कंठ से अनायास निःसृत होते हैं। माँ की भावनाओं को निरंकार जी समझने में असमर्थ दिखाई देते हैं।

राजस्थान के शम्भूदयाल सक्सेना के शिशु लोरी, पालना, चन्द्रलोरी, रेशम झूला, मधुलोरी और आ री निंदिया आदि नाम से लोरियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। लोरी जैसी कठिन विधा को ममत्व से लबालब कर पाने में सक्सेना जी कितने सफल हो पाए हैं, उनकी एक लोरी की बानगी देखना अनिवार्य है—

आ री निंदिया, आ री निंदिया  
सपने भर-भर ला री निंदिया  
सोता है भैया पलने में  
तारों को दे जा री निंदिया  
चन्दा को संग ला री निंदिया  
मुन्ना के फुलके गालों पर फलों की छवि प्यारी,  
निंदिया ओ री ऐसी वैसी निंदिया

तेरी ऐसी तैसी निंदिया  
है तू निपट अनारी निंदिया  
ओ री निंदिया, आ री निंदिया  
माथे पर दे जा री बिंदिया

इस लोरी में प्रारंभिक पंक्तियाँ और 'मुन्ना के फुलके गालों पर, फूलों की छवि प्यारी निंदिया' ये चार पंक्तियाँ लोरी की कसौटी पर खरी उतरती हैं, बाकी सारी पंक्तियाँ भर्ती की कोरी तुकबंदी हैं। माँ कितने भी क्रोध में हो या अनपढ़ हो, वह इस तरह के अपशब्द का, सीधी गालियों का प्रयोग नहीं करती। ऐसी वैसी निंदिया का अर्थ तो सक्सेना जी ही बतायें किन अर्थों में यहाँ और क्यों प्रयोग किया। अनावश्यक रूप से 'तेरी ऐसी तैसी' कह कर लोरी की ही .....कर दी है। सारा लावण्य, लालित्य ही कचरा कर दिया है। माना कि शिशु अबोध होता है किन्तु माँ तो समझदार होती है, वह ऐसे उद्गार कभी व्यक्त नहीं कर सकती। सक्सेना जी ने यदि यह लोरी अपनी माँ या पत्नि से जँचवा ली होती तो इस भारी अपराध से बच सकते थे। बालगीत सुलाते हुए बच्चे को वे चाँद-तारे बिंदिया-निंदिया से लाकर देने को कह रहे हैं तो फिर भला बच्चा कैसे सो सकता है? सक्सेना जी डेरों ना लिखते, किन्तु माँ की भावना को आहत कर यह लोरी ना ही लिखते तो अच्छा था। इसीलिए कहा है, लोरी लिखना सबके वश की बात नहीं।

हाँ, एक लोरी सक्सेना जी ने अच्छी लिखी है जिसमें उन्होंने पूरे परिवार को संलग्न कर लिया है। हालाँकि नींद को सुलाने के लिए माँ ही पर्याप्त होती है-

कहाँ गई तू आ री निंदिया मुँह से जो नहीं बोले  
कब से मेरा छगन मगन हो तुझे बुलाता डोलै  
बाबा लौट खेत से आये दादा दूर नगर से  
तू तो भी रह गई कहाँ री आती कौन डगर से  
नाना ने दो धावन भेजे तुझे बुलाने को री  
विलम कहाँ तू रही बाबरी गाती-गाती लोरी  
मुँहमाँगा देने को नानी दादी तुझे बुलाये

भइया के पलकों पर आ जा सैनों से समझाये इस लोरी में पूरे परिवार की संलग्नता, जुड़ाव चित्रित कर सक्सेना जी ने संयुक्त परिवार और रिश्तों की मिठास उकेरकर अच्छा काम किया है। लोक लय और विलुप्त होते शब्दों को (डगर, धावन, बाबरी,

सैनों) बचाने की भी अच्छी कोशिश है। इन शब्दों के प्रयोग से लोरी में निखार आ गया है। 'छगन-मगन' में तो बेहद दुलार छलक रहा है। बहरहाल, उनके छगन-मगन को नींद आ ही गई होगी।

निरंकार देव सेवक, डॉ.हरिकृष्ण देवसरे, डॉ.सरोजनी कुलश्रेष्ठ की किताबों-कथनों को पढ़कर यही ज्ञात होता है कि लोरियों का क्षेत्र वाकई उपेक्षित रहा है। ठा.श्रीनाथ सिंह, रामसिंहासन सहाय 'मधुर', शंभूदयाल सक्सेना, शकुन्तला सिरोठिया, डॉ.विद्याभूषण विभू आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने लोरी विधा पर ध्यान दिया।

लोरियों में माताओं द्वारा बच्चों के भविष्य के सुन्दर चित्र होते हैं। ये चित्र युग परिवर्तन के साथ बदलते भी रहते हैं। 'बालसाहित्य समीक्षा' के संपादक यायावर बालक साहित्यकार डॉ. राष्ट्रबंधु की लोरी में लोकलय के साथ आधुनिकता का पुट भी घुला-मिला है, जो लोरी के लालित्य को दोगुना करता है-

कंतक थैया घुनूँ मनइयाँ  
चंदा भागे पइयाँ पइयाँ  
यह चंदा हलवाहा है नीले-नीले खेत में  
बिल्कुल सेंट-मेंत में, रत्नों भरे खेत में  
किधर भागता लइयाँ पइयाँ  
कंतक थैया घुनूँ मनइयाँ  
अंधकार है घेरता टेढ़ी आँखों हेरता  
चाँद नहीं मुँह फेरता, राकेट को है टेरता  
मुनू को लूँगा मैं कइयाँ  
कंतक थैया घुनूँ मनइयाँ  
मिट्टी के महलों के राजा ताली तेरा बढिया बाजा  
छोटा छोटा छोकरा, सिर पर रक्खे टोकरा  
राम बनाये डोकरा  
बने डोकरा लेउं बलइयाँ  
कन्तक थैयाँ घुनूँ मनइयाँ

कोई साहित्यकार बालगीत तब तक नहीं लिख सकता, जब तक वह बच्चा बनकर ना लिखे। इसी तरह लोरी लिखने के लिए माँ बनना होता है। ममत्व की गागर लबालब भरी हो तो लोरी अपने आप छलक पड़ेगी।

राष्ट्रबंधु यह सब कर पाये हैं इसीलिए उनकी लोरी में गहनतम भाव-प्रवणता है, लोकलय की गूँज है, आधुनिकता की झलक है, माता के मन की पुलक है, शब्दों की खनक है-‘चाँद हलवाहा है’ बिल्कुल नवीन कल्पना के चित्र उकेरता है। पड़्यां पड़्यां भागता है, वह भी नीले खेत में जहाँ रत्न भरे हैं। आसमान का इतना सुन्दर चित्र उकेरा है। दइयां, पड़्यां, मनइयां, बलइयां, थेंया की ध्वन्यात्मकता से तो जैसे घुँघरू ही बज उठे हैं। वैज्ञानिकता की ओर भी इशारा है, चाँद का राकेट को टेरेना। लोकलय में रची-बसी शब्दावली के प्रयोग से लोरी बहुत अच्छी बन पड़ी है और लोरी की आत्मा अंतिम पंक्तियों में पूर्ण रूप से छलक पड़ी है-‘राम बनाये डोकरा, बने डोकरा लेउं बलइयाँ,’ हर माँ की यही कामना होती है कि उसका बच्चा दीर्घायु हो। इस लोरी में गेयता के साथ लोरी के पूरे तत्त्व विद्यमान हैं।

हालाँकि डॉ. राष्ट्रबंधु का कहना है कि ‘कंतक थेंया घुनूँ मनैया’ मेरा लोरी गीत नहीं है, यह तो मैंने बच्चों को पैरों पर झुलाते हुए खिलाने के लिए गीत लिखा था, पता नहीं क्यों साहित्यकारों ने इसे लोरी गीत मान लिया। उन्होंने अपना लोरी गीत साक्षात्कार के दौरान जो लिखवाया वह इस तरह है-

सो जा रे सो जा निर्भय सो जा  
दूर एक देश है उजला वेश है  
दूध भरी नदियाँ, चाँदी की गलियाँ  
जाओगे सपनों में मम्मी के साथ तुम  
खेलोगे खाओगे अपने ही हाथ तुम  
सो जा रे सो जा  
आएंगी सखियाँ, बंद करो अंखियाँ  
तुमको बुलाएंगी आशा की परियाँ  
तारों की छांव में कलियों के भाव में  
तुमको सुनाएंगी भाव भरी बतियाँ  
सो जा रे सो जा  
आगे मैदान है रेगिस्तान है  
धूल यहाँ उड़ती है हिम्मत भी मुड़ती है  
जाओगे कैसे सूरज जैसे  
सूरज भी सो गया, गया नहीं खो गया  
सो जा रे सो जा निर्भय सो जा

समझ में नहीं आता, इतनी अच्छी लोरी राष्ट्रबंधु जी की

डायरी में ही क्यों कैद रही। और ‘कंतक थेंया घुनूँ मनैया’ ही हमेशा लोरी गीत के रूप में हर जगह उद्धृत क्यों की जाती रही।

लोरी में सरल भावों की सरलतम अभिव्यक्ति होती है, तभी वह मनोरंजक और प्रभावशाली बन सकती है। इसके लिए लोरी के लेखक को बालमन की भी उसी तरह थाह लेनी होती है, जैसे माँ के मन की।

बिहार के ब्रजकिशोर नारायण ने भी भावपूर्ण लोरियाँ लिखी हैं-

मेरी बिटिया सो जा सो जा  
कुत्ता तबला बजा रहा है  
नाच रही है बिल्ली  
कुत्ता जायेगा कलकत्ता  
बिल्ली जाये दिल्ली  
घोड़ा बाबू ढोल बजाये  
बछड़ा बजाये सारंगी  
बंदर बाबू काम न करते  
खाते हैं नारंगी  
मेरी बिटिया सो जा सो जा

ब्रजकिशोर जी ने लोरी में इतने सारे वाद्ययंत्र बजवा दिये हैं कि उनके शोर में बिटिया-बेटा कोई नहीं सो सकता। यह बाल कविता है इसमें सो जा- सो जा लगाकर इसे लोरी बनाने की कोशिश की गई है। दूसरी लोरी भी देखें-

सोओगे तो पैसा दूँ  
सोओ मेरे लाल  
बूढ़ा मेंढक गाल बजाता  
टर टर टर टर टर  
वाध राम है पानी पीते  
सर सर सर सर  
बड़ी मेंढकी रोटी खाती छोटी खाती भात।  
बूढ़े मेंढक ने छोटी को मारी कसकर लात  
छोटी गिर गई छप्प  
सोओ मेरे लाल।

ब्रजकिशोर जी की इस कविता को लोरी का नाम नहीं दिया जाना चाहिए। इसमें लोरी जैसी कोई बात नहीं है, ना तो नींद

का आवाहन है, ना लाल के सौन्दर्य का वर्णन, ना ही माता की आशीषें, ना ममत्व। हालाँकि गेयता का तत्त्व कहा जा सकता है। प्रथम और अंतिम पंक्ति में सोओ मेरे लाल कह देने से लोरी नहीं बन जाती। जिस लोरी में मेंढक टर टर बोले, मेंढक-मेंढकी को लात मार कर झगड़े, उस लोरी को सुनकर भला कौन बच्चा सो सकता है। अतः ब्रजकिशोर जी की ये दोनों बाल कविताएँ हैं, इन्हें लोरी की श्रेणी में नहीं रखा जाना चाहिए

प्रसिद्ध बाल साहित्यकार निरंकारदेव सेवक जी की लोरी भी उद्धृत है-

मेरा मुन्ना बड़ा सयाना,  
शाम हुए सो जाता है ऊधम नहीं मचाता है  
बिल्ली रानी यहाँ न आना,  
अब तुम शोर मचाने को  
चूहे वह बैठी है बिल्ली,  
तुझे पकड़ ले जाने को  
मेरा मुन्ना तुम दोनों के,  
झगड़े से घबराता है ॥  
सांझ हुए सो जाता है ॥  
बंदर मामा खों खों करके,  
फिर न उतरना आंगन में  
मुन्ना के हाथों का लड्डू  
छीन न ले जाना छन में  
मेरा मुन्ना अब आंगन में न  
हीं नाचता गाता है ॥  
सोने में सुख पाता है ॥  
चंदा मामा तुम क्यों आये  
छत पर चढ़ मुस्काने को  
सब छोटे छोटे बच्चों को  
सुन्दर सपन दिखाने को  
मेरा मुन्ना अभी तुम्हारी  
आहट से अकुलाता है ॥  
तुमको नहीं बुलाता है ॥

निरंकार देव सेवक की इस लोरी में बिल्ली-बंदर को दूर भगाने की बात है, ताकि बच्चा सो सके। ब्रजकिशोर जी की लोरी की तरह जीव-जंतु शोर नहीं मचा रहे। सेवक जी ने तो चंद्रमा से

भी कह डाला है कि तुम्हारी आहट से भी मुन्ना अकुलाता है। गेयता के साथ माँ की भावनाएँ भी निहित हैं, साथ में सुन्दर शब्द विन्यास भी मार्मिक ना होने पर भी लोरी अच्छी है।

मेरठ की सुप्रसिद्ध समाज सेवी कवियित्री और लेखिका श्रीमती कमला चौधरी ने भी सुन्दर लोरियाँ लिखी हैं। चित्रों में लोरियाँ नाम से उनकी एक पुस्तक भी छपी थी। श्रीमती सुमित्रा सिन्हा ने बालगीतों के साथ कुछ लोरियाँ लिखी हैं। श्रीमती शांति अग्रवाल, कामिनी दादी आदि ने यह क्षेत्र अछूता ही छोड़ दिया है।

डॉ.सरोजनी कुलश्रेष्ठ ने बालगीतों के साथ लोरियाँ और प्रभातियाँ भी लिखी हैं, उनकी एक लोरी यहाँ उद्धृत है-

सो जा मेरे राजदुलारे  
सो जा मेरे दृग के तारे  
तालाबों में कमल मुँद गये  
तू भी नयन मुँद ले अपने  
आयेंगे कुछ चित्र बनाते  
तेरे नयनों में सुख सपने  
उनसे बातें करना जी भर  
सुन्दर बातें करना जी भर  
सुन्दर खेल खेलना न्यारे  
पंछी भी थक कर तो देखो  
अपनी माँ के पास सो गये  
कलरव उनका शांत हो गया  
तू भी चुप हो सो जा मुन्ने  
नींद खड़ी है तेरे द्वारे

साहित्यिक वैशिष्ट्य के साथ यह लोरी अपने कैनवास पर उतरी है। प्रकृति का चित्रण भी सुंदर है, पंछी थककर सो गये हैं, उनका चहचहाना शांत हो गया है। और नींद तेरे द्वारे आ गई है, मुन्ने सो जा। अच्छी लोरी के सभी गुण विद्यमान हैं। शिल्प सौन्दर्य से भरपूर लोरी हैं-तालाबों में कमल मुँद गये, तू भी नयन मुँद ले अपने।

अभी तक लोरी 'तब क्या थी' इसकी चर्चा की गई। अब वर्तमान समय में लोरी समय की सीढ़ियाँ चढ़ते कहाँ तक पहुँची है। इसकी चर्चा करेंगे-



दरअसल लोरी बालक साहित्य की बहुत ही कोमल विधा है, उतनी ही कोमल जितनी माँ की ममता। बार-बार यह कहा जाता है कि लोरी महिला साहित्यकार ही लिख सकती हैं, क्योंकि पुरुषों में माँ की संवेदनाएँ नहीं होती। अभी तक जो लोरियाँ लिखी गई, जिन्हें मैंने उद्धृत किया, उसमें इस बात के प्रमाण भी मिले हैं। डॉ. राष्ट्रबंधु जी की लोरी के सिवाय अन्य कोई भी लोरी अपने गुणों के साथ परिपूर्ण नहीं दिखती। महिलाओं में डॉ. शकुन्तला सिरोटिया, डॉ. सरोजनी कुलश्रेष्ठ की सुन्दर उत्कृष्ट लोरियाँ हैं।

वर्तमान समय यानि इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में लोरी सन्नाटे में खो गई है। माना कि यह युग विज्ञान का युग है। माना कि आज के बच्चे अणु युग के बच्चे हैं, माना कि आज के बच्चों के झूले बदल गये हैं, माना कि बच्चे माँ कि गोद में नहीं, आया या नौकर की गोद में पल रहे हैं, उनके खिलौने बदल गये हैं, उनका परिवेश बदल गया है, परिवार के नाम पर एक इकलौता बच्चा रह गया है। बच्चे के सपने बदल गये हैं, सब कुछ बदल गया है। किंतु नहीं बदला तो शिशु और उसकी नींद। माँ की संवेदनाएँ भी नहीं बदली। यह अलग बात है कि उसे व्यक्त करने का उसके पास समय का टोटा है, उसकी जिंदगी अब दोहरी जिंदगी का दंश झेल रही है। किंतु जब भी वक्त मिलता है, वह बच्चे से लिपट-लिपट जाती है, उसकी संवेदनाएँ नदी की तरह बहने लगती हैं झर-झर।

जब तक इस संसार में शिशु, उसकी नींद और माँ की ममता जीवित है, लोरी जीवित रहेगी। मैंने बहुत से साहित्यकारों को कहते सुना है अब आज के समय में कौन लिखता है लोरी? लोरी कभी विलुप्त नहीं हो सकती। उसके सृजन के लिए साहित्यकारों को लेखनी उठानी होगी। यह बात अवश्य स्वीकारनी होगी कि लोरी लिखना बहुत कठिन है। शायद इसीलिए लोरी नहीं लिखी जा रही। जो यह सोचते हैं कि लोरी की आज आवश्यकता नहीं रही, वे भुलावे में हैं। लोरी को नकारना शिशु के अस्तित्व को नकारना है, माँ के ममत्व को नकारना है।

शिशु न कभी बदला है और न कभी बदलेगा। इसलिए लोरी के स्वरूप को भी नहीं बदला जाना चाहिये। हाँ, आधुनिकता की झलक देकर आप लोरी में हल्की फुल्की नवीनता अवश्य ला सकते हैं, उसके स्वरूप और उसकी आत्मा को छेड़े बिना, उसे आघात पहुँचाये बिना।

लोरी के स्वरूप, उसके अस्तित्व को बचाने के लिए चुनौती के रूप में ही सही, स्वीकार किया है बिजनौर उ.प्र. के डॉ. अजय जनमेजय ने। डॉ. जनमेजय बच्चों के चिकित्सक हैं, इसलिए बच्चों से लगाव स्वाभाविक है। उन्होंने बालसाहित्य की करीब आठ पुस्तकें लिखकर बालसाहित्य की श्रीवृद्धि की है।

अजय जनमेजय से जब चर्चा हुई तो उन्होंने बताया कि- 'जब मैंने निरंकार देव सेवक की किताब बालगीत साहित्य का इतिहास पढ़ा, जिसमें यह लिखा था कि लोरियाँ महिलाएँ ही अच्छी लिख सकती हैं- पुरुष नहीं, तब मेरे लिये यह बात चुनौती हो गई और इसी चुनौती को स्वीकार कर मैंने महीने, दो महीने में ही चवालीस लोरियाँ लिख डालीं और 'निंदिया सबसे प्यारी तू' संग्रह के रूप में प्रकाशित हो गई।

देर से सही, चुनौती के फलस्वरूप सही, डॉ. अजय जनमेजय ने लोरियाँ लिखकर बालसाहित्य जगत के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है। शिशु, लोरी और माँ के ममत्व तीनों के अस्तित्व की रक्षा की है। मैं जनमेजय जी को बधाई, शुभकामना देती हूँ। बाल मेले के अवसर पर इंदौर में जब मुझे आपने लिखने की सूचना दी तो मैं थोड़ी देर उन्हें देखते ही रह गई। मेरी दृष्टि में नारी अथवा वृद्ध पुरुष ही लोरियाँ लिखने का साहस कर सकते हैं, पर इस युवा ने साहस किया और कार्य भी पूरा कर दिखाया। डॉ. अजय जनमेजय का हृदय माता के समान कोमल हो गया है। वे लोरी गाकर अपने शिशु को सुलाने लगे हैं।'

*निंदिया सबसे प्यारी तू  
झल्लर मल्लर के गीत सुनाऊंगी  
मैं अपने लल्ला को अभी सुलाऊंगी  
धरती का राजा तू राजा अम्बर का  
तू ही तो राजा है हरे समुन्दर का  
समरज या चंदा कह तुझे बुलाऊंगी*

एक पूरी मुकम्मल लोरी है जिसमें माँ की विराट कल्पना है कि उसका बेटा दुनियाँ का सबसे बड़ा आदमी बने। उसे धरती-अम्बर और समुन्दर सबका राजा बना दिया अजय जनमेजय ने। जब इतना बड़ा राजा है जिस माँ का बेटा तो उसे यह भी डर है कि कहीं उसे नजर ना लग जाये।



लगे न तुझको नजर किसी की राजदुलारा है  
 चल अब सो जा सो जा तू तो सबसे प्यारा है,  
 बुढ़िया नानी कात रही है चन्दा में बैठी  
 बादल वाली रूई ढेर थी, थककर चुप लेटी  
 कैसे कातूँ इस बादल को कितना सारा है  
 चल अब सो, सो जा तू तो राज दुलारा है

सचमुच अजय जनमेजय जी को 'परकाया प्रवेश' करना पड़ा होगा। तभी वे इतनी सुन्दर भावाभिव्यक्ति लोरियों में दे पाये हैं। डॉ. अजय जनमेजय लोरियों में नवीन कल्पनाएँ, नवीन प्रतीक अपना सौन्दर्य बिखेर रहे हैं। नानी दादी से यह कहते सुना था कि 'चाँद पर एक बुढ़िया सदियों से चरखा चला रही है।' इसका सुन्दर प्रयोग अजय जनमेजय ने किया है कि बादल वाली रूई ढेर सारी चरखे से कातती हुई बुढ़िया थककर सो गई है। परम्परा से हटकर किंतु लोरी के स्वरूप को बिगाड़कर नहीं बल्कि लोरी के रूप को निखार दिया है।

अजय जनमेजय ने वह काम कर दिखाया है जो पूर्व में वरिष्ठ साहित्यकार नहीं कर पाये यानि माँ बनकर लोरी नहीं लिख पाये। इस लोरी में माँ की मनुहार देखते ही बनती है-

निंदिया तोरे करूँ निंहोरे, अब आ भी जा अब आ भी जा  
 झम्मक झइयाँ झम्मक झइयाँ, मुन्ना रोए पलकें भारी  
 सोना चाहे तू आ जा री, आते आते रूक मत जाना  
 ठइयाँ ठइयाँ ठइयाँ ठइयाँ।

माँ निंदिया को निहोरा करके बुलाती है कि अब आ जा, आ भी जा। आवाहन निलेश करके ही किया जा सकता है। शब्दों की ध्वन्यात्मकता से लोरी में विशेष आकर्षण आ गया है। लोरियों में लोकलय का अपना अलग ही महत्त्व है। लोकगीतों की धुन पर भी अजय जनमेजय ने लोरी गाकर निंदिया को बुलाने का प्रयास किया है, पर निंदिया तो कंगना लेने के लिए अड़ी है।

किस-किस से निंदिया लड़ी है  
 लड़ी है लाल तुझको सुलाने  
 झूमर न लेगी वो पायल न लेगी  
 बिंदिया न लेगी वो काजल न लेगी  
 कंगने पर आकर अड़ी है  
 अड़ी है लाल तुझको सुलाने

अजय जनमेजय की लोल-किलोल करती लालित्यमय लोरियाँ हैं। लोरी स्नेह का बहता झरना है जो बालक को वात्सल्य रस में भिगोता रहता है। माँ बच्चे को लोरी गाकर सुलाती है। उद्धृत है डॉ. शकुन्तला कालरा की चर्चित लोरी-

झूले पलना मेरी गुड़िया  
 आकर इसे सुला री निंदिया  
 गोरे मुख पर काली अलके  
 थकी-थकी सी भारी पलकें  
 चुपके से आ जा री निंदिया  
 आकर इसे सुला री निंदिया  
 धरती सोई नभ भी सोया  
 जाने किन सपनों में खोया  
 इसको स्वप्न दिखा री निंदिया  
 आकर इसे सुला री निंदिया  
 ठुमक-ठुमक कर चलें हवायें  
 मीठी-मीठी लोरी गायें  
 तू भी संग में गा री निंदिया  
 आकर इसे सुला री निंदिया

शकुन्तला जी की यह लोरी ममत्व से भरपूर है। बिटिया के प्रति लाड़-दुलार भरी इस लोरी में प्रकृति का भी खूब चित्रण है। 'धरती सोई नभ भी सोया' हवाओं का मानवीकरण है- 'ठुमक ठुमक कर चलें हवायें, मीठी-मीठी लोरी गायें'। रोचकता के साथ लिखी गई लोरी है। शकुन्तला जी का मानना है कि- 'कविता-कर्म सायास कार्य नहीं है, यह एक सहज और नैसर्गिक प्रवृत्ति है, भीतर का फोर्स है, इसे आत्माभिव्यक्ति की इच्छा भी आप कह सकते हैं'।

उत्तर प्रदेश, बिहार अन्य प्रदेशों में तो बाल साहित्यकारों का ध्यान कुछ लोरी विधा पर गया है, किंतु मध्यप्रदेश में जब दृष्टि दौड़ाते हैं तो इस विधा पर शून्य ही दिखाई देता है। डॉ. राष्ट्रबंधु ने बहुत पहले एक लोरी लिखी थी, जिसकी चर्चा मैंने पहले की है।

वर्तमान दौर में ऐसा लगता है आधुनिकता की अंधी दौड़ में मध्यप्रदेश सबसे आगे है, जिसने बाल-साहित्य की लोरी विधा को अनावश्यक समझकर एक सिरे से खारिज कर दिया है। जबकि साफ बात ये है कि लोरी विधा अत्यन्त कठिन है। लोरी

जैसी लोल यानि सुन्दर, चंचल, लालित्यपूर्ण विधा पर कुछेक ने ही कलम चलाई है और मध्यप्रदेश के बाल-साहित्य की इस शून्यता को भरने का अपने स्तर पर मैंने भी प्रयास किया है। पूर्व में 'बाल-साहित्य समीक्षा' कानपुर में मेरी लोरियाँ प्रकाशित हुई हैं- 'अपना बचपन', 'शब्द सामयिकी' ने भी मेरी लोरियों को प्रमुखता से प्रकाशित किया है। उद्धृत हैं मेरी कुछ लोरियाँ जिनके ताने-बाने, कैनवास पूर्ण परिपूर्णता के विषय में आप स्वयं कहेंगे, मैं खुद अपने लिये क्या लिखूँ?

### इनपकैया

इनपकैया इनपकैया इनपकैया रे  
सो जा मुन्ना तुझे सुलाये तेरी मैया रे  
पकड़ उंगलिया निंदिया रानी  
चली चाँद के गाँव में  
बहती नीली नदी जहाँ पर तारों वाली छाँव में  
बैठ चाँदनी गाये मजे से हो हैया रे।। सो जा.....  
सुंदर-सुंदर मुखड़ा तेरा घूँघर वाले बाल हैं  
नन्हीं-नन्हीं तेरी हथुलियां फुल्ले-गाल हैं  
पहन पैंजनियां दौड़े मुन्ना पैंया-पैंया रे।। सो जा.....  
हाकी क्रिकेट खेले मुन्ना कम्प्यूटर संग खेलेगा  
लुका छिपी भी खेले मुन्ना गुल्ली-डंडा खेलेगा  
दूर गगन में उड़ेगी मेरे मुन्ने की कनकैया रे।। सो जा.....

ममता और दुलार की गागर इस दूसरी लोरी में भी किस तरह छलक पड़ी है, दृष्टव्य-

आ जा निंदिया आ जा  
झम्मक झम्मक आ जा ओ तुम्मक-तुम्मक आ जा  
गुड़िया की पलकों में धीरे से समा जा  
आ जा निंदिया आज।.....  
सुंदर कपोल गोल, खंजन नयन लोल  
अधरों पै न्यारी लाली मीठे मधुर बोल  
फूलों से मुखड़े पै डीकन लगा जा  
आ जा निंदिया आ जा.....

इतर की फुहिया है ये जादू की पुड़िया है ये  
दादी की दुलारी है ये दादा की प्यारी है ये  
बाँहों में झूला झूले लोरी सुना जा  
आ जा निंदिया आ जा.....  
रखती है पाँव जब गोदी से नीचे  
हमने बिछाये हैं फूलों के गलीचे  
पलकों से कांटे चुनूँ सुख महका जा  
आ जा निंदिया आ जा.....  
हवा के संग उड़ेगी गगन की सैर करेगी  
चाँद तारों की बातें माँ संग बैठ करेगी  
रोशन ये नाम करेगी सबको बता जा  
आ जा निंदिया आ जा.....

एक लोरी की बानगी और देना चाहूँगी-

सो जा राजदुलारे  
सो जा राजदुलारे सो जा निंदिया मौसी आई  
माँ की परम सहेली है ये दूर देश से आई  
दूध-जलेबी लाई है ये संग लाई हलवाई  
सुबह कलेवा में है जिसने खीर पुड़ी बनवाई  
अभी सोयेगा मेरा मुन्ना चलती है पुरवाई।।  
सो जा.....  
खेल खिलौने चाबी वाले झोली में भर लाई  
मिट्टी के हैं कृष्ण कन्हाई जिसने गाय चराई  
माखन मिश्री खाये मुन्ना खाये खूब मलाई।। सो जा  
माँ मुस्काती देख लाड़ले को जमुहाई आई  
नजर उतारे लैय, बलइयाँ डिठौना लगाई  
दिखती नहीं है निंदिया मौसी अंखियन बीच समाई  
सो जा राजदुलारे.....

आगे ऐसी ही रसमय लोरियों का मेरा संग्रह शीघ्र ही प्रकाशय है। लोरी तब भी थी अब भी है और कल भी रहेगी। लोरी कभी विलुप्त नहीं हो सकती। जब तक संसार में शिशु जन्म लेता रहेगा, तब तक लोरी जीवित रहेगी अपने स्वरूप में थोड़े से परिवर्तन के साथ।

## रायगढ़ की सांस्कृतिक परम्परा

डॉ. मोनिका सिंह

संगीत-नृत्य की परिपाटी भारतीय संस्कृति की विशिष्ट पहचान है। आनंद के अतिरेक से परिपूर्ण होने के साथ-साथ यह आध्यात्म की अनुभूति से भरी हुई है। वैज्ञानिक शोधों से भी यह प्रमाणित होता है कि संगीत-नृत्य में ऐसी ऊर्जा है, जो सुख को जागृत और मृत को जीवन्त कर दे। सरगम के सात सुर हों या नृत्य की लय-अभिनय, मनुष्य को असीमित ऊर्जा से भर देते हैं। उत्साह, उमंग और आनंद की अनुभूति कराने वाले नृत्य-संगीत का जन्म इस देश के मंदिरों से हुआ है। वर्तमान समय में प्रचलित भजन, कीर्तन इसका जीवन्त उदाहरण हैं। इसलिए भारत देश की संगीत-नृत्य परम्परा केवल मनोरंजन का हेतु न होकर आध्यात्मिक सुख का अनुभव देने वाली है। श्रृंगार का समावेश यद्यपि मुगलकाल की देन है, परन्तु आध्यात्मिक श्रृंगार की छवि पहले से ही यहाँ प्रचलित थी। कृष्ण, शिव, लक्ष्मी, ब्रह्म की श्रृंगारपरक रचनाओं को वंदना के रूप में स्तुति करना इसे प्रमाणित करता है-

*शांताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं।*

*विश्वाधारं गगन सदृशम् मेघवर्णम् शुभंगम् ॥*

भगवान विष्णु की इस स्तुति में उनके सौन्दर्य को चित्रित करते हुए इसकी तुलना बादलों से की जाती है। श्रृंगार का यह स्वरूप भारतीय संस्कृति के मनोविज्ञान को प्रस्तुत करती है। मनोविज्ञान अर्थात् मन और मस्तिष्क का विज्ञान। तर्क, प्रमाणों के आधार पर निर्धारित वह ज्ञान जो मनुष्य के व्यवहार, आचार-विचार को दर्शाती है, जिसका संचालन मन जनित होता है। इसलिए मस्तिष्क का सर्वोपरि होने के बाद भी मन का महत्त्व अधिक है। मन हमेशा सक्रिय रहता है, तब भी जब हम सो जाते हैं।

मन की खोज उन पारिस्थितिक वस्तुओं की होती है, जो आनंद का संचार कर दे, ऊर्जा और उत्साह से परिपूर्ण कर दे और मन

को ये ऊर्जा मिलती है संगीत व नृत्य से। एक पसंदीदा गाना सुनते ही हम स्फूर्ति का अनुभव करते हैं। हमारी शारीरिक थकान समाप्त हो जाती है, इसलिए शरीर के संचालन का कारक मन की क्षति होती है।

चित्रकार नंदलाल बसु कला की महत्ता सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि-‘सौन्दर्यबोध के अभाव में मनुष्य केवल रसानुभूति से वंचित रह जाता हो ऐसा नहीं, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उसकी क्षति होती है।’

मन पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्पूर्ण शरीर और व्यवहार का संचालन होता है। इसलिए मन का ऊर्जावान और सृजनशील होना आवश्यक है तथा मन का भोजन है- विचार व भावनायें। भावनाओं को बदलने में सबसे अधिक क्रियाशील होती है- संगीत और नृत्य। प्रकृतिजनित सुन्दरता को देखते ही मनमोहित हो जाता है और हम स्वयं में अच्छा अनुभव करने लगते हैं। प्रकृति, मनुष्य और अनेक ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो हमें प्रसन्नता का अनुभव कराती हैं। कवि की कल्पना, कलाकार की अभिव्यक्ति मूर्तिकार की पाषाण प्रतिमा भी हमें एक नया संदेश और नयी कल्पना दे जाती है। संगीत की शब्द-रचना, तान व स्वर हमें सुखद अनुभूति देते हैं। आनंद की सम्पूर्णता प्राप्त होती है नृत्य कला में, जिसमें संगीत, ताल, लय और अभिनय का संयोजन होता है। भारत में शास्त्रीय और लोक नृत्यों की प्रचुरता है और समृद्ध परम्परा भी। तथापि शास्त्रीय नृत्यों की श्रृंखला में कथक नृत्य अपनी अभिव्यक्ति में लोकधर्मिता को समेटे हुए अधिक प्रचलित है। सहजता और भाव-प्रवणता की सरलता इसे क्लिष्टताओं से दूर करती है। कथक नृत्य शैली के तीन प्रमुख घराने हैं- लखनऊ, जयपुर और बनारस। तथापि छत्तीसगढ़ अंचल के रायगढ़ नरेश चक्रधर सिंह ने इस नृत्य शैली को संरक्षित और सर्वोर्धित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने सभी घरानों के श्रेष्ठ गुरुओं को अपने राजदरबार में आमंत्रित कर कथक नृत्य के इतिहास की दिशा बदल दी। कथक ज्ञानेश्वरी के लेखक श्री तीरथराम आजाद जी लिखते हैं कि-‘राजा चक्रधर सिंह स्वयं तबले के बोल बजाते थे। लास्य अंग के भाव प्रदर्शन के लिए स्वयं रचनायें लिखते थे और उनके अनुसार अपने दरबार में कथक नृत्य कराते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं नृत्य की शिक्षा देकर अपना मनोभाव स्पष्ट करते थे। बाद में वही परम्परा

रायगढ़ की शैली के रूप में लोकप्रिय हुई और कथक नृत्य के विकास में एक नया अध्याय जुड़ा।’ सभी गुरुओं की श्रेष्ठ रचनाओं को संकलित, संयोजित कर उसे पुस्तिका का रूप देकर संरक्षित कर पुनीत कार्य किया, जिसके कारण आज ऐसी दुर्लभ रचनायें हमारे बीच उपलब्ध हैं। राजा साहब एक अच्छे गायक, वादक होने के साथ-साथ एक अच्छे नर्तक भी थे। स्वयं बोलों और बंदिशों की रचना करते, उन्हें ताल-लय में बांधकर उस पर नृत्य भी करते थे। इसलिए वे एक अच्छे साहित्यकार भी हुए, जिसका स्वरूप उनकी रचनाओं में दिखाई देता है-

### इन्द्रजाल परन

*तिटकतान-धिटकतान-धिटधिटकतान-धिकिट धा तक धेतानधेत तकिड़ धेता तान धिकिट तक्र-धिकिट तानधा किउतक दिन्न दिन्न ता घेघेतान धेताकतान, ध तान धा, घेघेतान धेताकतान, धा तान धा, घेघेतान धेताकतान, धा तान धा।*

राजा साहब यद्यपि सभी विधाओं के जानकार एवं मर्मज्ञ थे, तथापि नृत्य में उनकी विशेष रूचि थी, क्योंकि वे इसे गायन, वादन और अभिनय की त्रिवेणी मानते थे। स्वयं रचनायें करते और उसे प्रस्तुति योग्य बनाने के लिए गुरुओं से निवेदन करते थे। उनके अनुसार कथक नृत्य को भाव व अर्थयुक्त होना चाहिए। राजा साहब की रचनाओं की जीवन्तता को वर्णित करते हुए तीरथराम आजादजी राजा साहब की वैचारिक-बुद्धिमत्ता और मनोवैज्ञानिक चिन्तन को दर्शाते हुए लिखते हैं कि ‘नृत्य होगा’ और यह चित्रात्मक अभिनय ही रायगढ़ की रचनाओं की प्रमुख विशिष्टता है। बोल, बंदिश, ठुमकी आदि की रचना साहित्य के दृष्टिकोण से जितनी उच्चकोटि की है, नृत्य की दृष्टि से उतनी ही भावपरक और अर्थयुक्त। रचना की प्रस्तुति से एक चित्र- सा उपस्थित कर देना रायगढ़ की रचनाओं का प्रमुख प्रयोजन है। बात चाहे दलबादल परन की हो, किलकिला परन की हो या फिर कड़क बिजली परन की, बादलों की गर्जन, बिजली की चमक और बारिश की तेज-मध्यम और धीमी गति तथा उस दृश्य ने नायिका के मन की व्याकुलता अर्थात् सभी कुछ एक बोल में दिखाई दे जाते हैं।

चित्रात्मक अभिनय के दृष्टान्त राजा साहब ने ‘मुरज परनपुष्पा कर’ में बोलों की रचना के समीप चित्रों का भी निर्माण

करवाया है, जिससे आगामी पीढ़ी इन बोलों के मनोविज्ञान को समझते हुए नृत्य प्रदर्शित कर सके। यहाँ चित्रों की रचना यह प्रमाणित करती है कि राजा साहब एक श्रेष्ठ कलाकार होने के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक दूरदृष्टा विश्लेषक भी थे, जिन्होंने रचनाओं को शब्दों, परिस्थितियों, चित्रों आदि सभी माध्यम से संयोजित किये हैं, ताकि ये रचनायें भविष्य में उपयोगी हों और इनमें कालप्रवाह की निरन्तरता बनी रहे।

**कल्लोलनी (तीन ताल, मध्यलय)**

कृधातिट घेघेतिट धिन्न धा धा तिट धा घेघे तिट  
 कृधातिट धिट धिट धिट कतिट धिता धुमकिट तक  
 धात्रक धेतिरकिट धिरकिट कतिट धा,  
 धात्रक धेतिरकिट धिरकिट कतिट धा  
 धात्रक धेतिरकिट धिरकिट कतिट धा

रायगढ़ की रचनाओं में सहजता और सरलता के साथ-साथ सरसता और निर्झरता भी है। पक्षी की दूर से आती हुई गति से लेकर उसके स्थान (मंडुरे) पर बैठने, उसकी चपलता, उसकी ध्वनि, उसका पदचाप और पुनः उड़ जाने पर दूर जाती हुई गति को शब्दों के आवरण में ढालना इतना सहज कार्य नहीं है और यही कार्य राजा साहब ने अपने दरबार के गुरुओं से करवाया। न केवल रचनायें करवायी, बल्कि उसे सुरक्षित करने का कार्य भी किया।

रायगढ़ की रचनाओं का संग्रहण आज भी इस शैली के प्रवर्तकों के पास उपलब्ध है कुछ शोध ग्रंथ और पुस्तकों में। 'मुरज परन पुष्पाकर', 'तालतोयनिधि', 'रागरत्नमंजूषा' और 'नर्तनसर्वस्वम्' ग्रंथ की रचनायें राजा चक्रधर सिंह के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को चित्रित करती हैं। राग, ताल, परन आदि को उन्होंने पृथक्-पृथक् रूप से लिपिबद्ध करवाया। नर्तनसर्वस्वम् में नायक-नायिका के गुणों का वर्णन कर आधुनिक कलाकारों के लिए मार्गदर्शन भी किया है।

**सोलह श्रृंगार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन**

सोलह श्रृंगार और बारह आभूषणों में उन्होंने नायिका के बाह्य श्रृंगार के साथ-साथ उसके आंतरिक श्रृंगार का भी मणिकांचन संयोग कर नवीन दृष्टिकोण का सूत्रपात किया है। पूर्ववर्ती ग्रंथों में

श्रृंगार का बाह्य कलेवर ही वर्णित किया गया था, परन्तु राजा साहब के सोलह श्रृंगार ने कथक नृत्य को व्यवहारिक और सौन्दर्य की नयी उपमा से सुशोभित किया। नर्तन सर्वस्वम् में वर्णित सोलह श्रृंगार हैं- स्नान, वस्त्रधारण, स्नेहानुलेपन, केशप्रसाधन, तिलकधारण, अंजनधारण, तिलनिर्माण, अलक्तक धारण, अलंकार प्रसाधन, ताम्बूलचर्वण, सुगंधीलेपन, विलासगति, स्फीत दृष्टि, स्मित, प्रेम और शील।

नृत्य विदुषी डॉ.माण्डवी सिंहजी राजा साहब के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए लिखती हैं कि- 'नर्तन सर्वस्वम् में राजा चक्रधर सिंह ने उपर्युक्तानुसार सोलह श्रृंगार का वर्णन किया है। वे उनकी व्यापक सोच का परिणाम और व्यवहारिक रूप से भी क्रमबद्ध है। इन सोलह श्रृंगार के परिशीलन से राजा साहब की एक नवीन विचारधारा सामने आती है। उन्होंने बाह्य अलंकरण के साथ-साथ स्त्रियों के सौन्दर्य के लिए अंतरंगिक श्रृंगारों को भी महत्त्व दिया है। से पाँच श्रृंगार विलासगति, स्फीट दृष्टि, स्मित, प्रेम तथा शील अनुकूलन एवं दार्शनिक विचारधारा के द्योतक है।'

नायिका के श्रृंगार का यह अद्भुत लावण्य है जो अन्यत्र दुर्लभ है। विलासगति, माधुर्य दृष्टि के साथ-साथ लज्जा का समावेश नायिका के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है। यही राजा साहब का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है कि उन्होंने नायिका को उसके सम्पूर्ण श्रृंगार (आन्तरिक और बाह्य) के साथ प्रस्तुत किया है। एक बारगी यह अनुभव अवश्य होता है कि गति, दृष्टि, शील, प्रेम किस तरह श्रृंगार की श्रेणी में सम्मिलित हुए होंगे, परन्तु यदि श्रृंगार शब्द की व्याख्या और गहन चिंतन से दृष्टिपात करें तो अनुभव होता है कि जो सौन्दर्यबोध जागृत करे, सुखद अनुभूति कराये, आकर्षण और लावण्ययुक्त हो, वहीं श्रृंखला में मनजनित अनुभूतियों का भी समावेश हो, यह सोने पर सुहागा जैसे तथ्य को प्रमाणित करती है, इस वैचारिक चिन्तन को निर्देशित किया राजा चक्रधर सिंह ने।

रायगढ़ की भौगोलिक, राजसी और ऐतिहासिक महत्ता के दृष्टान्त ग्रंथों का कलेवर भी ऐश्वर्य वैभव से परिपूर्ण है।

## बोल-बंदिशों के नामकरण का चित्रात्मक पहलू

रायगढ़ की रचनाओं की प्रमुख विशेषता है उनका नामकरण, जो श्रोता के मन में जिज्ञासा भर देता है। दलबादल, कड़क बिजली, चमकबिजली, गजविलास, गजगामिनी, इन्द्रजाल, भूतनाथ, दावानल अर्थात् हर बंदिश की शब्द रचना एक चित्रात्मक वातावरण को निर्मित करती है। रायगढ़ का 'दलबादल परन' इस प्रसिद्धी की अग्रणी बंदिश है-

नगेन धेततधे तड़न्न धा धा  
किड धे-धे-धे धड़न्न धिटधिट धगनक-त धनगक-त  
तित्तित धिटधिट-तड़न्न तकिट  
तक-दिगगिन्नाड़ धितत तगन्न धा।  
ताधा, तिटकता धेतित तगन तागे तिट गदिन तानधा  
ताधा, तिटकता धेतित तगन तागे तिट गदिन तानधा  
ताधा, तिटकता धेतित तगन तागे तिट गदिन तानधा

बादलों के उमड़ते-घुमड़ते, कड़कते और आपस में टकराने से जो ध्वन्यात्मक चित्रण होता है, वही इस बोल की रचना से भी प्रस्तुत होता है। तिट-तिट में बिजली का चमकना, गर्जन की ऐसी भयावहता से कानों को ढंकना, बिजली का गिरना अर्थात् तेज बारिश की भयावहता का सम्पूर्ण वातावरण निर्मित होना इस बंदिश की विशेषता है।

**कुरंग परन** (तीनताल-मध्यलय बेदम चक्ररदार परन)

धगिन दिन्न किट धातिटकिटतक धिरधिट  
किटतक कृधा कृधा कृधा धातिरकिटतक घेद्धे ङ्गे ङ्गे  
धाकिटतक धुमकिटतक गदिगनधाऽ क्डांन धा कधा,  
धाकिटतक धुमकिटतक गदिगनधाऽ क्डांन धा कधा  
धाकिटतक धुककिटतक गदिगनधाऽ क्डांन धा कधा

रायगढ़ की रचनाओं के सम्बन्ध में यह किंवदंती प्रचलित है कि यहाँ कि रचना में प्रकृति, पशु आदि की स्वाभाविक दशा, दिशा, गति, लय आदि के आधार पर अभिनय की प्रस्तुति देती है, यथा-यदि पक्षी परन है तो उस बोल में ऐसे शब्द लिये गये हैं जो पक्षी की आवाज, उसकी चाल, गति तथा उसके सांसों की गति का भी प्रत्यक्ष वर्णन कर देती है, जिससे वह बोल केवल

शब्दों का संयोजन न होकर एक पक्षी की गतिविधि का सम्पूर्ण चित्रण कर देती है और यही रायगढ़ की रचनाओं की प्रमुख विशेषता है, जिसके कारण यहाँ की रचनाओं में सौन्दर्य है, जीवन्तता है, माधुर्य है, स्वाभाविकता है, सहजता है और सरलता है। श्री तीरथराम आजाद ने लिखा भी है कि- 'उस्ताद नत्थू खाँ ने बुलबुल परन बनायी थी, जिसे सुनकर बुलबुल आ जाती थी। (तालतोयनिधि के परिप्रेक्ष्य में)'

रायगढ़ की रचनाओं में शब्दों का चयन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो राजा साहब को कलाकार के साथ-साथ साहित्यकार की कोटि में लाकर पंक्तिबद्ध कर देते हैं। थर-कुर-कड़ान-आदि शब्द की ध्वनियाँ उन पक्षियों की ध्वनि से साम्यता स्थापित कर देती थी, जिनके आधार पर बोलों की रचना की जाती है।

## कवित्त

तट तिट कृत राधा-दिनदिन नट-कृत कृत कृतत  
दिन जात तिन दृगन दृग दृग-दृबन बसे राधा-राधा राधा।

कवित्तों का सुन्दर और आकर्षक रूप इस शैली की विशेषता है। मध्य और द्रुत लय की संगत में घुँघरू की थाप और अभिनय की सुन्दरता कम समय में रसास्वादन करवाने की क्षमता रखती है।

**कड़क बिजली त्रिचक्री** (चक्ररदार)

किड़धित्ता किटधा किडत धागेतिटकिट तड़ित्त तड़ तड़  
धिडन्न घेघेतित धागेन क्डांनतूना  
कतितधा घेघे दिंत कृधातिट कत  
गिड़गिड़ गिड़गिड़ धा तगिड़गिड़  
गिड़गिड़ धा तगिड़गिड़ गिड़गिड़ धा

## शिवताण्डव

झीं-झिन किट-तकाथरी,  
थरिक थरिक थरी-किनजग कुमुथरी थईऽऽ  
कुकुदझी-कुझि कुकु जिगजिग-  
जिगजिग-जिगजिग थेई-जिगजिग  
थेई-जिगजिग थेई।



ताण्डव शब्द के उद्बोधन करने से जिस वीरतत्व तेजी और रौद्र का एहसास होता है, वही इस बोल की पढ़न्त से होता है। बोल की शब्द रचना इस तरह संयोजित है कि लगता है कि शिव का ताण्डव स्वरूप धरती को हिला कर रख दे और रौद्र का संचार दर्शकों को रसास्वादन से तृप्त कर दे। कुकुदड़ी और जिगजिग धरती की हलचल को व्यक्त करते हैं, जबकि तथिरी, थरिक शब्द शिव के पदचाप को चिन्हांकित करते हैं, जिसके कारण धरा भी कंपित होने लगती है। नृत्यकार के द्वारा जब नृत्य की प्रस्तुति होती है तो दर्शकों को शिव के संहारक रूप का अनुभव हो जाता है। शब्दों का उच्चारण भी जिह्वा, तालु और कण्ठ के उद्घोषित वायु को उत्तेजित करते हैं, जिससे नृत्य भी आवेश पूर्ण दिखता है।

### ठुमकी (वासकसज्जा नायिका)

चन्द्र बदन गृत लोचनी दामिनी द्रुत गोरी ।  
 अलबेली नवल नारि करति चित्त की चोटी ॥ चन्द्र..  
 छनछन श्रृंगार सजत, छम छम पग नूपुर बाजत ।  
 बन ठन पिया मिलन चली यामिनी किशोरी ॥ चन्द्र..  
 लटकत वेणी अनूप मानो नागिन स्वरूप ।  
 चंद्रामृत परन करत आई भवन ओरी ॥ चन्द्र..  
 चक्रप्रिया नवल नार आवत लियो दीपमाल ।  
 मंदमंद गति मराल लरवत भौ मरोरी ॥ चन्द्र..

नायक से मिलने के लिए जाती हुई नायिका के बाह्य श्रृंगार और आंतरिक मनोभावों का चित्रण इस ठुमकी की विशेषतायें हैं। रीतिकालीन कवियों के सादृश्य राजा साहब ने नायिका के नख-शिख, बनाव-श्रृंगार और अपनी विशेषता में दक्षकाल, परिस्थिति, पशु आदि के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है। दामिनीद्रुत गोरी अर्थात् बिजली की तरह तेज, लटकती वेणी नागिन की तरह लटकी हुई है। (चन्द्र बदन मृगनयनी आदि।)

रायगढ़ की रचनाओं में संयोग-वियोग के साथ-साथ आध्यात्मिक श्रृंगार का भी समावेश राजा साहब की गजलों में रूमानी का एहसास है, जो एक नयी दुनिया की सैर करवा देते हैं।

रायगढ़ की रचनायें पढ़न्त में जितनी आकर्षक हैं। प्रस्तुति में उतनी ही सम्मोहक भी है। शब्द रचना, संयोजन साहित्य की उच्चकोटि को प्रदर्शित करता है, जबकि नृत्य प्रदर्शन उसके चित्रात्मक स्वरूप को दिखाता है। मनोवैज्ञानिक चित्रण यहाँ की रचनाओं की विशिष्टता है, जिसके कारण रायगढ़ की रचनायें अद्वितीय हैं, अतुलनीय हैं, अनुपम हैं।

I

### संदर्भ

1. कथक ज्ञानेश्वरी, पं.तीरथ राम आजाद
2. भारतीय संस्कृति में कथक परम्परा डॉ मांडवी सिंह
3. रायगढ़ दरबार, डॉ.पी.डी. आशिर्वादम्

## हमारी आदिवासी अस्मिता

डॉ. विनय कुमार पाठक

हाशिये के जिन्दगी है जनजातियों की ।  
हवाओं को बन्दगी है जनजातियों की ॥  
शून्य-सी हर नजर नभ को ताकती है ।  
मुर्दनी छायी जिन्दगी में जनजातियों की ॥  
अलगनी पर झूलते हैं दर्द मटमैले ।  
शाम मैली-सी दिखती है जनजातियों की ॥  
द्वार के कन्धे छिले हैं बोझ से ।  
बन्दिशें कितनी लगीं जिन्दगी में जनजातियों की ॥  
दबे नहीं झुके नहीं किसी के चरणों में ॥  
स्वार्थ का बिरवा उगा नहीं जनजातियों की ॥

समाजशास्त्रीय दृष्टि से आधुनिक भारत का विभाजन 'शहरी भारत' और 'ग्रामीण भारत' के रूप में किया जाता है। इस तरह के विभाजन में एक महत्वपूर्ण परिसर और एक समुदाय की तरफ हमारा ध्यान नहीं जाता। यह तीसरा भारत-वन में रहने वाला, 'आदिम भारत' है। इस आदिम भारती की खोज मानववंश-शास्त्रज्ञ, धर्मप्रचारक व लोकसाहित्य के संग्राहक कर रहे हैं। इन्हीं लोगों के परिश्रम के फलस्वरूप आदिम भारत के सम्बन्ध में बहुत-सी जानकारी प्रकाश में आयी है। इन सामग्रियों का उपयोग अध्येता अपने-अपने ढंग से करते हैं।

आदिम भारत के लोगों को हमारे संविधान में 'आदिवासी' या 'जनजाति' के रूप में रेखांकित किया है। डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर ने संविधान में आदिवासियों की पहचान 'अनुसूचित जनजाति' के रूप में की है। जंगलों-पहाड़ों में रहने वाले, विशिष्ट बोली बोलने वाले, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को संरक्षण करने वाले मानव-समूह को जनजाति कहा गया है। इनकी वेशभूषा एवं कार्यों को ध्यान में रखकर इन्हें अलग-अलग नामों से अभिहित किया गया है, यथा-'वनवासी', 'वन्य जमाति', 'आरण्यक' लंगोठ्ये', 'धरती पुत्र', 'गिरीजन' 'वनपुत्र' इत्यादि। इन नामों में 'वन के अनभिषिक्त सम्राट' सर्वोत्तम नाम है। डॉ. धुर्ये उन्हें Aborigines (मूल निवासी) कहते हैं। डॉ. भाऊ मण्डवकर और डॉ. गोविन्द गारे उन्हें 'आदिम' कहते हैं। श्रीमती कुसुम नारगोलकर और शाम नारगोलकर उन्हें 'जंगल का राजा' नाम से सम्बोधित करते हैं। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि इनकी 'पहचान काल-प्रवाह में सब कुछ खोये हुए के रूप में की जा सकती है।

'आदिवासी' शब्द को परिभाषित करते हुए डब्ल्यू. जे.पेरी ने लिखा है- 'समान बोली बोलने वाले, एक ही समान भू-प्रदेश में रहने वाले समूह को आदिवासी कहते हैं। गिलीन और गिलीन के अनुसार-'एक विशिष्ट भू-प्रदेश में रहने वाले, समान बोली बोलने वाले और समान सांस्कृतिक जीवन जीने वाले, जिन्हें भिक्षण की पहचान नहीं है ऐसे स्थानीय समूहों के समुच्चय को आदिवासी कहा जाता है।'

यह आदिवासी या जनजातीय समाज निर्धन होगा, निरक्षर भी होगा, लेकिन असंस्कृतज्ञ अशिष्ट नहीं, यह बात हम सबको ध्यान में रखनी चाहिए। उस समाज की स्वयं की स्वतन्त्र और अर्थपूर्ण संस्कृति है। उसकी स्वयं की बोली-भाषा है, रीति-रिवाज है, उनके देवी-देवता एवं धार्मिक संस्कार हैं। पर्व-उत्सव, मेला और लिखित-अलिखित साहित्य है। समृद्ध लोक कलाएँ हैं।

स्वतन्त्र भारत में सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर किये कार्यों के फलस्वरूप इन आदिम जनजातियों में जागरूकता आ रही है। यद्यपि जनजातीय समाज में साक्षर और शिक्षितों की संख्या बहुत कम है, फिर भी इनके नवयुवक आज अपने अधिकारों के लिए जागरूक हो रहे हैं और अपने हक के लिए कलम उठा

लिये हैं। वे जो साहित्य लिख रहे हैं। निश्चय रूप में वह उच्चवर्गीय पारम्परिक साहित्य से अलग है। इनका साहित्य दलित साहित्य, ईसाई-साहित्य, जन-साहित्य, ग्रामीण-साहित्य के ज्यादा करीब है। एक बात ध्यान देने की है कि उक्त साहित्य को मंच मिल गया है। और जनजातीय साहित्य को मंच मिलना अभी बाकी है।

### विशेषताएँ

1. जंगल एवं पहाड़ों में रहने वाला भारतीय समाज का यह सबसे पिछड़ा आदिम समाज है।
2. ये जनजातियाँ भारत-भूमि के आदि पुत्र हैं।
3. समान धर्म मानने वाला, एक ही पूर्वज से अपनी उत्पत्ति मानने वाला और एक ही रक्त-सम्बन्ध पर विश्वास करने वाला यह सामाजिक घटक है।
4. लोकगीत, लोककथा, लोकनृत्य आदि के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने वाला, जिसमें लिपिबद्ध साहित्य का अभाव है, यह ऐसा मानव समूह है।
5. जनजातियों का एक ऐसा स्वतन्त्र समूह है, जो शहरों एवं आधुनिक जनजीवन से दूर गिरि-कानून में अपनी आंचलिक संस्कृति की हिफाजत करता है।
6. जनजातियों की जड़ें इस देश में बहुत गहरी और पुरानी हैं। वे इस भू-भाग के सर्वप्रथम निवासी भले ही न हों, वे निश्चित रूप से यहाँ के पुरातनतम निवासियों में हैं।
7. वे वनों और पर्वतों में अपेक्षाकृत एकान्त में रहते हैं। उनका परिवेश अगम्य भले ही हो, किन्तु उसकी दूरी ने सांस्कृतिक प्रभावों पर स्वाभाविक नियन्त्रण रखा है।
8. जनजातियों का इतिहासबोध सीमित और उथला है। उनका स्मरण किया हुआ इतिहास पाँच-छः पीढ़ियों से अधिक का नहीं होता। इसके बाद वह जातीय मिथकों से जुड़ जाता है।
9. उनका आर्थिक और प्राविधिक विकास का स्तर बहुत ऊँचा नहीं होता।
10. अपनी सांस्कृतिक समग्रता, भाषाओं, संस्थाओं, विश्वासों और प्रथाओं के आधार पर समाज के शेष भागों से वे अलग दिखायी पड़ते हैं।
11. जनजातियाँ समतावादी भले ही न हों, किन्तु उनमें आन्तरिक स्तरण और विशेषीकरण बहुत कम होता है।

जनजाति और गैर-जनजातियों के बीच की विभाजक-रेखा बहुत स्पष्ट नहीं है, क्योंकि थोड़े ही भारतीय ऐसे होंगे जिनमें जनजातियों का रक्त न हो। फिर भी यह अन्तर आज के सन्दर्भ में एक नया अर्थ ले चुका है और इसके साथ पहचान और आत्मछवि के प्रश्न जुड़े हैं। आज दुनिया का हर सातवाँ व्यक्ति भारतीय है और भारत की जनसंख्या में जनजातियाँ लगभग सात प्रतिशत हैं। इस आँकड़े में केवल वही जनजाति समूह आते हैं, जिनके नाम भारतीय संविधान की 8वीं अनुसूची में सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे जनजातीय समूह भी हैं, जो किसी-न-किसी कारण से इस में सम्मिलित नहीं किये गये हैं। अनुसूची में कुछ ऐसे समूहों के नाम से सम्मिलित हो गये हैं, जिन्हें पहले जनजाति नहीं माना जाता था, पर जो अपने लिए एक नयी सामूहिक छवि प्राप्त करने में सफल हुए हैं।

भारतीय समाज-व्यवस्था में जनजातियों का स्थान न के बराबर रहा है। जनजातीय संस्कृति एवं इतिहास की तरफ हमारा ध्यान बहुत देर से गया है। भारतीय समाज व्यवस्था में जनजातियों के स्थान को निर्धारित करते हुए कहा गया है-‘आर्यों के भारत आगमन के पूर्व जनजातियाँ इस देश के मूल निवासी थे। इस भूमि के वे आदिपुत्र थे। उनके बड़े-बड़े राज्य थे। विविधता से सम्पन्न एवं समृद्ध संस्कृति थी। परम्परा, रूढ़ि और रहन-सहन के अनुरूप उनकी जीवन-शैली थी, धर्म और देवी-देवता थे। उनका अपना सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वज्ञान था। राज्य-शासन की पद्धति थी। प्रगल्भ बोली-भाषाएँ थीं और उन बोली-भाषाओं में लिपिबद्ध साहित्य भी था। इन जनजातियों का आदिम जीवन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक दृष्टि से समृद्ध और प्रगतिशील था।’

आर्यों के हाथों पराजित होने के बाद ये जनजातियाँ अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बनाये रखने के लिए नवविकसित सांस्कृतिक केन्द्रों से दूर वनों और पर्वतों में शरण लिये। आर्यों ने इनके लिए ‘दैत्य’, ‘असुर’, ‘राक्षस’, ‘पिशाच’ जैसे शब्दों का प्रयोग कर उनके प्रति नफरत को उजागर किया। जनजातियों का दुःख-दर्द किसी ने जाना नहीं, देखा नहीं। आर्य समाज में इनके प्रति कभी भी आदर या सहानुभूति की भावना नहीं थी। किन्तु स्वतन्त्र भारत में शिक्षा एवं आधुनिकता के विस्तार ने भारत के जनजातीय जीवन को एक नया आयाम प्रदान किया है।

‘इस तरह हम देखते हैं कि यदि एक ओर आर्य पूर्व और आर्य-तत्त्वों के मिश्रण से भारत में एक सामाजिक संस्कृति विकसित हो रही थी, तो दूसरी ओर कुछ जनजातियाँ अपनी आत्मछवि और पहचान के अनुरूप जीवन-शैली बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील थी। समसामयिक जनजातियों के पूर्वजों ने इस सामाजिक संस्कृति के विकास में योगदान किया था। वे स्वयं परिवर्तन की सशक्त आँधियों में से नहीं रही। हमारी आज की संस्कृति में जनजातीय तत्व कुछ इस तरह घुलमिल गये हैं कि उनको पहचानना कठिन हो गया है। आज की जनजातियों का अतीत को अवशेष मानना गलत होगा, क्योंकि समय की अनिवार्यताओं और पड़ोसियों की परम्पराओं ने अपने प्रभाव उन पर छोड़े हैं। जनजातियाँ भारत के प्रजातान्त्रिक राजतन्त्र में पूरी हिस्सेदारी की इच्छुक हैं और इस दृष्टि से वे कई रूपों में दबाव डाल रही हैं।’

स्वतन्त्रता-संग्राम में जनजातियों ने खुलकर हिस्सा लिया। जनजातियों के स्वतन्त्रता सेनानियों में बाबूराम सेडमार्क, बिरसा मुण्डा, सिद्ध-कान्हू संधाल, टैट्या भील, उमेड बसावा, शंकर शहा, रघुनाथ शहा आदि का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। गोंड राज्य के निर्माता गोंड राजा एवं उनके सुपुत्र बल्लाल शहा जनजाति समुदाय के ही थे। अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए मुगलों से जूझने वाली वीरांगना महारानी दुर्गावती जनजातीय समुदाय से ही थी। इस प्रकार के गौरवशाली एवं वैभव-सम्पन्न जनजातियों के इतिहास को भुलाया नहीं जा सकता।

### लोक और जनजातीय संस्कृति

सभ्यता की दौड़ में पिछड़े और किन्हीं कारणों से पर्वतों व वनों में सीमित-संकुचित रहकर जीवन-यापन करने वाली जातियों को आदिमवासी, आदिवासी, जनजाति, आदिमजाति, कबीली आबादी, वन्य जाति, वनवासी, गिरिजन, भूमिजन, अनुसूचित जनजाति और अनेक अभिधानों से अभिहित किया गया। ‘जनजाति’ शब्द प्रचलन में अधिक है जो अंग्रेजी के ‘ट्राइव’ का पर्याय है। प्रो.विद्यार्थी के अनुसार-‘वर्तमान समय से ‘जनजाति’ के नाम की अवधारणाओं की चर्चा भारतीय संविधान के आने के बाद विशेष रूप से प्रचलित हो चुकी है।’ जनजातीय संस्कृति प्राचीन परम्परा और रूढ़ि जीवन-पद्धति के कारण विशिष्ट स्थान रखती है। डॉ.

विजय शंकर उपाध्याय के अनुसार-‘जनजाति शब्द के साथ हमारी कल्पना में एक ऐसी संस्कृति सामने आती है, जो वैज्ञानिक विकास से दूर, वर्तमान काल की व्यवहार-शैली और भौतिक जीवन से अपरिचित, शान्त और एकान्त में प्रकृति के बीच अवस्थित है। इनकी संस्कृति अभी तक परम्पराओं और रूढ़ियों द्वारा संचालित संस्कार पालती आयी है। इनकी सामाजिक मर्यादा और जीवन-पद्धति विशिष्ट है। इनके अद्भुत रीति-रिवाज, रहन-सहन तथा आचार-विचार विशेष अध्ययन के लिए प्रेरित करते हैं।’ इस तरह यह जनजाति एक निश्चित भूखण्ड में निवास करती है, आर्थिक आधार पर संघर्ष करती, ‘रोज कुआँ खोदो और पानी पियो’ की तरह जीवन जीती, एक भाषा-बोली को व्यवहार करती तथा सुरक्षा हेतु सदैव अपने को तैयार रखती है। इनकी संस्कृति विचित्र और विशिष्ट होती है, जो सहस्र वर्षों बाद भी बहुत कम बदली है। विडम्बना यह है कि अर्थ केन्द्रित आधुनिक समाज इन्हें अनुपादक मानती हैं जबकि सभ्य समाज सदियों से इनका शोषण करता आ रहा है। भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखने से पता चलता कि ब्रितानी सल्तनत ने जहाँ-जहाँ प्रवेश किया, वहाँ के निवासियों को अपने से अलग करने हेतु उन्हें ‘नेटिव’ या ‘ट्राईव’ की संज्ञा दे दी। भारतीय संविधान में ऐसे लोगों को अनुसूचित जनजातियाँ कहा गया।

लोक-संस्कृति का प्रसार कम से कम एक अंचल या क्षेत्र होता है। ‘लोक’ में नगर और ग्राम दोनों समाहित हैं। इस तरह यह व्यापक समाज से जुड़ता और लोक-जीवन की धूप-छाँह से सरोकार रखता है। डॉ.कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार-‘लोक-संस्कृति से हमारा अभिप्राय जनसाधारण की उस संस्कृति से है, जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी, जिसकी उत्स भूमि जनता थी। इस संस्कृति के अनुयायी बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर अवस्थित थे।’ शिष्ट या अभिजात्य संस्कृति, सभ्यता और विकास या अभिजात वर्ग का बोध कराती है, वहीं लोक-संस्कृति जनसामान्य की संस्कृति कही जाती है। वैदिक काल शिष्ट, उच्च, सम्भ्रान्त या बुद्धिजीवी वर्ग से सम्बन्धित थी और यज्ञादि अनुष्ठानों की व्याख्या से युक्त ऋग्वेद ही इनका आधार था। जनसामान्य की राजनीति, अन्धविश्वास, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने से युक्त अथर्ववेद लोकसंस्कृति का आधार है। प्रकृति, जीव और ब्रह्म की गम्भीर और दार्शनिक विवेचन करने वाले शिष्ट तथा लोकविश्वास, रूढ़ि, परम्परा से युक्त ग्रन्थ लोकग्रन्थ है। ये मौखिक परम्परा में युगों से प्रवाहित हैं।

लोक का व्यवहार जन के अर्थ में भी हुआ है। इस तरह जनसंस्कृति और लोक-संस्कृति पर्याय है, लेकिन जनजातीय संस्कृति में जाति या परिवार केन्द्रित समाज का सीमित स्वरूप अपनी विशिष्ट पहचान के कारण अलग अस्तित्व रखता है। लोक-संस्कृति गत्यात्मक होती है, जबकि जनजातीय संस्कृति प्रायः स्थिर होती है। सीमित परिधि और क्षेत्रीय एकान्तिकता के कारण जनजातियाँ अंचल की बृहत्तर समाज या लोक से सरोकार नहीं रख पातीं। ‘इसका उदाहरण जापान के एनू लोगों के द्वारा दिया जाता है, जो वस्तुतः सभी प्रकार से जापान की मूल मुख्य जनजातियों से कम हो गया और वे जापान की मूल धारा से अलग-थलग रह गये।’

लोक-साहित्य का फलक व्यापक है, जिसके अन्तर्गत जनजातीय संस्कृति भी सम्मिलित की जा सकती है। लोक-संस्कृति में ‘लोक’ अर्थात् समाज की रीति-नीति, खान-पान, आचार-विचार, व्रत-पर्व, उत्सव-त्योहार, लोक-विश्वास, लोकधर्म, कला, साहित्य एवं जीवन के वे समग्र स्वरूप समाहित हैं, जो संस्कृति को मूर्त करते हैं। इसके विपरीत जनजातीय संस्कृति परिवार-पर्यन्त, सीमित-संकुचित होती है। यही कारण है कि जनजातीय संस्कृति में परिवर्तन अत्यल्प गति से होता है, जबकि लोक-संस्कृति विविध परिवारों व जातियों के समाहार के कारण अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित व विकासशील होती है। जनजातीय संस्कृति का भी प्रायः यही स्वभाव होता है, लेकिन विविध परिवार-समूह होने के कारण इसमें उदारता, समाहार-शक्ति और परिवर्तनशीलता का अवसर अपेक्षाकृत अधिक होता है। लोक-संस्कृति में पूरा लोक स्पन्दित होता है, अतः इसमें विविध जातियों, धर्मों व वर्गों का सहज समागम सम्भव है। जनजातियाँ परिवेश से कटे और अपनी संस्कृति की दुनिया से हटे हुये नहीं रह सकती। ये एक समान भू-भाग व परिवेश में रहती हैं, अतः इनके स्वभाव व जीवन में समानता देखी जाती है। कुछ घुमन्तू जनजातियाँ भी हैं जो अपवाद स्वरूप समान भू-भाग व परिवेश में नहीं रहती, लेकिन इनका आवास-निवास एक निश्चित भू-भाग पर एक सा रहता है, तदनु रूप संस्कृति सुरक्षित रहती है। इनके लोक से प्रत्यक्ष सम्पर्क और आजीविका के कारण यत्र-तत्र विचरण करने की वजह से इतर जाति और समाज से तादात्म्य के कारण अपेक्षाकृत बाह्य प्रभाव देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि भौगोलिक अवरोध के कारण एक जनजाति दूसरी जनजाति या शेष लोक-



संस्कृति से अलग-थलग रही। इतिहास साक्षी है कि मनुज सहस्राधिक वर्षों तक भौगोलिक क्षेत्रों में ही विभक्त था। क्षेत्रीय एकान्तिकता के कारण जनजातियों का सम्यक् विकास नहीं हो पाया। शासकीय योजनाओं और लोक-संस्कृति के सम्पर्क के कारण जनजातीय संस्कृति में विकास और प्रसार की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ की मुरिया और बैगा जनजातीय संस्कृति अपेक्षाकृत सुरक्षित है, जबकि मध्यप्रदेश के भील दीगर समुदायों की संस्कृति से प्रभावित हैं। इसी भाँति झारखण्ड और छत्तीसगढ़ की उराँव जनजातियों में देखा जा सकता है। छत्तीसगढ़ की बिंझवार जनजाति अन्य जातियों से मिलकर समन्वित संस्कृति को प्रदर्शित करने लगी हैं, जबकि हिल, कोरवा अस्पृश्य मानी जा रही है। इसी तरह उच्च आर्थिक स्थिति के कारण खैरवार जनजाति को समाज में उच्च स्थान प्राप्त है। जनजातियों में यह परिवर्तन देश-पर्यन्त निरखा-परखा जा सकता है।

प्रत्येक जनजाति की सामाजिक संरचना पृथक होती है। जनजातियाँ अन्तर्विवाही है, किन्तु इनमें सगोत्र तथा एक ही रक्त-समूह में विवाह वर्जित है। इसके अपवाद भी कुछ जनजातियों में देखे जा सकते हैं। एक जनजाति अपनी ही जनजाति के सदस्यों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। प्रायः सगे-सम्बन्धियों में जीन समान होते हैं, क्योंकि सम्बन्धी जनजाति उस अन्तर्विवाही जनसंख्या के सदस्य होते हैं। फलतः सभी सन्तानों में एक ही जीन-उद्गम से जीन प्राप्ति की पूरी सम्भावना रहती है। एक जनजाति के लोग प्रायः एक ही भाषा का व्यवहार करते हैं, लेकिन अब हिन्दी और अंग्रेजी का प्रचार उनमें भी देखने को मिलता है। जनजातीय संस्कृति सामान्यतः समान होती है, अतः उनके जीवन तथा मूल्य प्रायः एक जैसे होते हैं। जबकि लोक-संस्कृति बहुरंगी होती है। इनमें सामाजिक रीति-रिवाज, परिधान, अलंकरण, मनोविनोद के साधन, अंधविश्वास, लोकमान्यता, धर्म, कला तथा सामाजिक मूल्य सतरंगी होते हैं। प्रायः सभी जनजातियाँ आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होती हैं। वे अपनी आवश्यकताएँ वनों और प्रकृति-प्रदत्त संसाधनों के अतिरिक्त कृषि, गृह-उद्योग व पशुपालन से प्राप्त कर लेते हैं।

जनजातीय संस्कृति में नारियों का महत्त्व अधिक है। वर-पक्ष वालों को वधू को मांग करने के लिए उनके द्वार पर जाना पड़ता है और वधू-मूल्य या दहेज का दाम चुका कर ही विवाह

सम्पन्न कराना होता है। गढ़वाल (उत्तरांचल) की जनजातियों में रुपये लेकर लड़की को लड़के के यहाँ पहुँचा देना विवाह माना जाता है। यहाँ नारियों को अत्याचार सहने या कुण्ठित रहकर नारकीय जीवन जीने के लिए विवश नहीं होना पड़ता। छत्तीसगढ़ी नारियाँ कहती हैं कि- हे सूर्य व चन्द्रदेव! मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। मुझे नारी-जन्म मत देना, क्योंकि उसकी स्थिति उस गाय की तरह होती है, जिसकी डोर जिसके हाथ में थमा दी जाती है, वही उसका स्वामी हो जाता है-

*पड़ियाँ मँय लागों चन्दा-सुरुज के रे मोरे सुवा,  
मोला तिरिया जनम झनि देय।  
तिरिया जनम मोर गऊ के बरोबर रे मोरे सुवा,  
जिहाँ खिंचय तिहाँ जाय।।*

लोक-संस्कृति में नारियों का जीवन प्रायः पुरुष के भाग्य पर अवलम्बित है। यहाँ पति-प्रताड़ित व अपमानित नारी भी वट-सावित्री की पूजा में उसी पति को सात जन्मों तक प्राप्त करने का वरदान माँगती है। यहाँ प्रायः नारियों को चाहर दीवारी या पर्दे में कैद कर दिया गया है, जबकि जनजातीय संस्कृति में महिला के हाथ में गृह व समाज का संचालन-सूत्र है। उत्तराखण्ड की जनजातीय नारी कहती है- 'बहुत से पति सौभाग्य से मिलते हैं। मिलने पर दुर्भाग्य का समय आता ही नहीं। देवयोग से यदि एक-दो पति मर भी गए, तो भी हम सुहागिनें ही रहती हैं। हमारे यहाँ तो कोई विधवा होती ही नहीं। आर्थिक रूप से हमें कभी दूसरे के लिए नहीं मारता। रुपयों के लिए सुना है, आपके समाज वाले लड़कों को बेचते हैं। हमारे यहाँ औरत की इज्जत है, जिसे हमारी जरूरत होगी, वह दाम चुकाकर हमारे कदम चूमेगा। जो धोखा देगा, प्यार नहीं करेगा, उसे छोड़कर दूसरा घर उ देखेंगी।' इतना ही नहीं, जिस समाज में नारियों की संख्या नगण्य होती है, वहाँ द्रौपदी-विवाह या बहुपति-प्रथा का प्रचलन है। यह प्रथा अपने सीमित रूप में देहरादून में जौनसार बावर की खस जनजाति और केतियान, कुरुम्ब, कोट, लडासी, बोट नीलगिरि के टोड़ा आदि जनजातियों में पायी जाती है।'

अधिकांश जनजातीय संस्कृति में ब्राह्मणों के द्वारा विवाह या मांगलिक कार्य सम्पन्न नहीं होते, जबकि लोक-संस्कृति में पुरोहित ही प्रमुख रूप से शुभ कार्य सम्पादित करते हैं। विधवा-विवाह, तलाक तथा वयस्क विवाह प्रायः जनजातीय संस्कृति का



वैशिष्ट्य है जबकि लोक-संस्कृति में विधवा-विवाह वर्ज्य है, तलाक कठिन है तथा बाल-विवाह का भी प्रचलन है।

जनजातीय संस्कृति में युवा-गृहों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, जिसमें युवक-युवतियों में सामाजिक व नैतिक शिक्षा देकर व्यवहारिक जीवन का बोध कराया जाता है। ये यौन-शिक्षा के साथ इनके लिए स्वस्थ मनोरंजन के केन्द्र थे। बस्तर की मुण्डा व बैगा जनजातियों में घोटुल इसी तरह की व्यवस्था का प्रमाण है। प्रायः सभी जनजातियाँ विवाह पूर्व सन्तानोत्पत्ति के रहस्य से परिचित हो जाते हैं। लोक-संस्कृति में वस्तु-विनिमय की प्रथा अल्प लेकिन जनजातीय संस्कृति में यह अधिक है।

जनजातीय संस्कृति में प्रेम के तरीके बिलकुल भिन्न हैं। प्रेम के कारण विवाह-संस्कार में भी परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। 'लमसेना-विवाह' छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश की अनेक जनजातियों में प्रचलित है। इनमें विवाह-पूर्व प्रशिक्षित और गृह-कार्य में दक्ष होकर लड़के को लड़की पक्ष के यहाँ सभी को प्रसन्न कर विवाह-योग्य बनना पड़ता है। इस उपक्रम में चार-पाँच वर्ष भी लग सकते हैं।

एक गोत्र वाले सम्पूर्ण विकास नहीं कर सकते। इसके लिए उन्होंने अनेक गोत्रों से मिलकर रहना सीखा। आज भी कुछ जनजातियों में सगोत्र-विवाह प्रचलित है। एक कबीले की लड़की का दूसरे कबीले के लड़के के साथ भागना मौत के मुँह में जाना है। आज भी गोंड जैसी अनेक जनजातियों में भाई की लड़की का विवाह, बहन के लड़के के साथ होना प्रारम्भिक शर्त है। लोक-संस्कृति में ऐसा सम्बन्ध अभिशाप माना जाता है। अतः यहाँ ऐसे विवाहों का निषेध है। गोत्र-चिन्हों का परिचय 'टोटम' अर्थात् गोत्र-चिन्हों से किया जाता है। जनजातीय संस्कृति टोटम पर आधारित है। ऐसा अनुमान है कि गोत्र-परिवार से निकलकर लोकजीवन व संस्कृति की कल्पना की गयी।

लोक-संस्कृति में परिवर्तन बाह्य ही होता है, जबकि आन्तरिकता अक्षुण्ण रहती है। विभिन्न जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों के समन्वय और अवसान से यह सम्भव है, जबकि जनजातीय संस्कृति में बाह्य परिवर्तन भी बहुत कम होते हैं। यही कारण है कि इनमें आदिम तत्त्व अद्यावधि अक्षुण्ण है, जबकि लोक-संस्कृति में आदिम तत्त्व अवशिष्ट के रूप में विद्यमान रहते हैं। मानवता और सहिष्णुता भारतीय संस्कृति के गुण हैं। जो लोक-

संस्कृति और जनजातीय संस्कृति दोनों में समाहित है। प्रकृति के विभिन्न उपादानों के साथ एकाकार द्रष्टव्य है। इसी तरह दोनों में प्रकृति और अध्यात्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि वृक्षों, पर्वतों, समुद्रों व नदियों के तटों व संगम में तीर्थ-मेले-ठेले, उत्सव, पर्व मनाने का विधान है। जनजातीय संस्कृति में उनका परिवेश ही उनका संसार है, अतः सीमित भू-भाग में प्रकृति के प्रति आस्था और श्रद्धा का भाव उत्पन्न कर वे आध्यात्मिकता को आकार देते हैं। लोक-संस्कृति का प्रांगण पूरा लोक है, अतः यहाँ अपेक्षाकृत विस्तृत धरातल अपेक्षित है। लोक-संस्कृति में यह सन्तों, तत्त्वज्ञानियों, महापुरुषों का अभ्युदय समय-समय पर होता रहता है जबकि जनजातीय संस्कृति में यह अपवाद ही है। उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ की लोक-संस्कृति में कबीरपंथ के प्रवर्तक धनी धर्मदास और सतनाम पंथ के प्रवर्तक गुरु घासीदास का प्रादुर्भाव व योगदान उल्लेखनीय है, जबकि यहाँ की किसी भी जनजाति में इस तरह के महान पुरुष उत्पन्न नहीं हुए हैं। लोक-संस्कृति में ज्ञान की पिपासा होती है, अतः समन्वयन और सद्गुणों का ग्रहण तथा असद्गुणों का अग्रहण यहाँ की सतत् संचालित प्रक्रिया है, जबकि जनजातीय संस्कृति में सब कुछ शिरोधार्य है जो परम्परा से प्रचलित और परिवार से प्रतिष्ठित है। लोक-संस्कृति में संग्रह और समन्वय उसका परिष्कार या विकास है, जबकि जनजातीय संस्कृति में यह उसका विनाश है। लोक-संस्कृति में प्रजापालक शासन-व्यवस्था प्रजातान्त्रिक पंचायत के माध्यम से संचालित है, जबकि जनपदीय संस्कृति में प्रायः राजनीतिक संगठन को महत्त्व प्राप्त है, जिसमें वंशानुगत-मुखिया के निर्देश व नियन्त्रण में दण्ड-व्यवस्था का प्रावधान होता है।

जनजातीय संस्कृति परिवारों तक सीमित होती है, इसीलिए इनमें विशिष्टता संरक्षित रहती है, जबकि लोक-संस्कृति भिन्नता में एकता को सँजोती है। जनजातीय संस्कृति में अपवाद भी देखे जा सकते हैं। डॉ. नत्थूलाल गुप्त के अनुसार- 'बड़े जनजातीय समूहों में सांस्कृतिक भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। अनेक बार सामान्य भू-भाग, भाषा एवं सांस्कृतिक एकता का मापदण्ड इनमें लागू नहीं होता। अण्डमान में चार जनजातियाँ हैं-अण्डमानी, ओंगी, जारवा और सेंटनेलीज। उनकी भाषा सामान्य अण्डमानी है, किन्तु इनमें सांस्कृतिक भेद हैं, जबकि मध्य नाइजेरिया की बड़ी जनजातियों में सामान्य भाषा व सामान्य संस्कृति दोनों का ही अभाव है।'

जनजातियाँ वन-सम्पदा पर आश्रित हैं, अर्थात् लकड़ी, कन्द-मूल, फल, गोंद, जड़ी-बूटी पर इनका अधिकार होता है। यहाँ के जीव-जन्तु इनके सहचर व सहयोगी होते हैं। जादू-टोने के निदान हेतु बैगा-गुनिया इनके स्वस्थ व सफल जीवन के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जादू-टोने से विनिर्मित दारू का जनजातीय संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान है। धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठान में इसका उपयोग होता है। इसके विपरीत लोक-संस्कृति कृषि, चरवाहा, लघु-उद्योग व लोक-कला की विविध लोकविधाओं को सँजोती है।

भारतीय जनजातियों में किसी समय उपर्युक्त विशिष्टताएँ सम्प्राप्य थीं, लेकिन अब ये लगभग आंशिक रूप में ही पाए जाते हैं। अब कदाचित् दक्षांश जनजातियों में ही उसकी संस्कृति सुरक्षित है। शासन के प्रोत्साहन से किसी अन्य समुदाय के पुरुष द्वारा जनजातीय कन्या से विवाह करने पर पुरस्कार भी दिये जाते हैं।

### स्वातंत्र्योत्तर कविता

आश्चर्य के साथ ही क्षोभ का विषय है कि हमारे देश में अभी तक काव्य का विश्लेषण-विवेचन संस्कृति की भूमिका पर अत्यन्त विरल है। वास्तव में सांस्कृतिक मूल्यों के प्रकाश के बिना सम्यक् काव्यालोचन सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि 'साहित्य और विशेषतः काव्य मनुष्य की इन्द्रिय-सुख-साधन स्थूल प्रयोजनवती प्राकृतिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति मात्र न होकर उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का ही उपादान है।'

संस्कृति अपने स्वरूप और स्वभाव से ही सर्जनात्मक है। 'कृति' का अर्थ रचना या सृजन ही है और 'स' (सम्) का अर्थ साम्य, सन्तुलन या पूर्णता है। वस्तुतः भाव और रूप का, पदार्थ और भावार्थ का, सत्य और सौन्दर्य का, शिव और शक्ति का तथा आत्मा और परमात्मा का साम्य ही भारतीय संस्कृति मानव-जीवन के विकास का अनिवार्य अंग और महत्वपूर्ण मूल्य है।

सांस्कृतिक अनुभवों, क्रियाओं और मूल्यों की व्याख्या और जीवन के चरम मूल्य का अन्वेषण करने वाले दर्शन और उसे भावात्मक दृष्टिकोण से प्रतिफलित करने वाले सर्जनात्मक काव्य में हमारे यहाँ कभी कोई विरोध नहीं रहा, क्योंकि दोनों का उद्देश्य एक ही है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति' के समात्मभाव का उन्मेष ही दर्शन में 'समोऽहं' सर्वभूतेषु के

सर्वात्मवाद में प्रतिष्ठित होता आया है। समात्मभाव की सार्थकता के लिए जिस व्यापक पारस्परिक स्नेह, सद्भाव, समानता और समानुभूति की आवश्यकता होती है, वही संस्कृति का मूल प्रतिपाद्य और मूल्य है। स्पष्ट है कि सांस्कृतिक मूल्यों में व्यक्ति के प्राकृतिक व्यक्तित्व की एकान्त पृथकता का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि व्यक्तिमत्ता आत्मिक चेतना का रूप न होकर ऐन्द्रिक संवेदना का ही लक्षण है। संस्कृति का आत्मिक समभाव प्रकृति और संवेदना का अतिक्रमण करता हुआ प्रकृति, व्यक्ति और आत्मा तीनों का समाहार कर लेता है।

मनुष्य जिस चेतना की अभिवृद्धि के कारण अन्य प्राणियों के समान केवल प्राकृतिक जीवन से सन्तुष्ट नहीं हो पाता, वह प्राकृतिक नियमों का ज्ञाता होने के कारण उसका अतिक्रमण करती हुई अपने आन्तरिक प्रकाश और मौलिक भाव-विस्तार तथा चिन्तन के माध्यम से संस्कृति की सर्जनात्मक सीढ़ियों पर आरोहण करती हुई सर्वात्मचेतन सर्वात्मभाव की आध्यात्मिक भूमिका में ही अपनी पूर्णता प्राप्त करती है, क्योंकि संवेदना, चेतना की आरम्भिक विचार तथा दर्शन माध्यमिक एवं अध्यात्म उसकी चरम परिणति या अन्तिम स्थिति है। प्रकृति से संस्कृति की ओर का यह गुणात्मक विकास ही मनुष्य को पशु प्राणी से एक भिन्न स्थिति देकर उसे जीवन-सार्थकता की अनन्त सम्भावनाओं और क्षमताओं के प्रति उन्मुख करते हुए प्रयोजनातीत स्वलक्ष्य मूल्यों के आकलन और अनुभव का उत्साह और आकर्षण देता रहता है। मनुष्य का यह सांस्कृतिक अभियान उसकी चेतना की ऊर्ध्वगामी वृत्ति का प्रमाण होने के साथ ही चेतनाओं के परस्पर साम्य का आधार आत्मतत्त्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने में भी सफल सिद्ध होता है।

### संस्कृति और प्रकृति

संस्कृति का आकलन और आयोजन प्राकृतिक परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही आरम्भ होता है। स्वभावतः बाह्य प्रकृति और मानव अर्जित संस्कृति में सामंजस्य की स्थिति अनिवार्य रहती है। प्रकृति के प्रति उसकी संस्कारगत अबाध आत्मीयता संस्कृति में संयमित मूल्यगत परिष्कार-प्रियता बन जाती है। जनजातीय परिसर प्राकृतिक परिवेश की विविधता की दृष्टि से एक विशेष महत्व रखता है। इसी कारण इसकी संस्कृति भी अपनी अलग विशेषता रखती है।

भारतीय जनजाति एक विस्तृत भू-भाग में बसे हुए हैं। उसमें विभिन्न जलवायु प्राकृतिक सौन्दर्य, उर्वर, -अनुर्वरक्षेत्र वनस्पति-वृक्ष, वन-उपवन तथा पशु-पक्षी पाये जाते हैं। इसमें रहने वाले लोग, उनका रहन-सहन और उनकी बोलियाँ भी भिन्न हैं, किन्तु इन समस्त बाह्य विभेदों के रहते हुए भी सम्पूर्ण जनजाति एक गहरी और व्यापक एकता के सूत्र में बँधा हुआ है। इसका प्रधान कारण जनजातियों का जीवन और प्रकृति कि विविध रूपों में व्याप्त आन्तरिक एकता की अनुभूति ही है। इस प्राकृतिक परिवेश की विविधता में अन्तर्निहित एकता जन उद्भावना और सर्जनात्मक सक्रियता के संघटन में बड़ा महत्त्व रखती है। प्रकृति की बाह्य विविधता में आन्तरिक एकता का बोध जनजातीय संस्कृति का मूल उत्स है।

मनुष्य जीवन की स्थिति, विकास और संस्कृति के उत्थान के लिए उसके चारों तरफ व्याप्त प्रकृति, उसके पैरों के नीचे की धरती और उसके ऊपर के असीम विस्तार आकाश से कितना सहयोग और सौहार्द्र मिलता है, यह हम सब जानते हैं। जनजातियों ने अपने जीवन विकास में इस धरती और प्रकृति से आत्मीय सहयोग प्राप्त किया है। देश के हरित वनों की शीतल-स्निग्ध छाया में ही उन्होंने अपने घर बनाये और बहुत थोड़े श्रम से ही प्राप्त आहार पर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करते रहे। प्रकृति के विस्तीर्ण जीवन से उन्हें अपने जीवन की सभी सुविधाएँ मिलीं और उसी के सम्पर्क-सहयोग से जनजातियों का जीवन विकसित होता गया। प्रकृति के निरन्तर सजीव विकास सहचर्य ने उन्हें सहज ही यह अनुभव करा दिया कि इस विश्व में किसी का अस्तित्व अन्य सबसे नितान्त पृथक और अकेला नहीं है, क्योंकि इसके भीतर सबका समावेश है। इस अनुभव से उन्होंने (जनजातियों ने) यह परिणाम निकाला कि जीवन का उद्देश्य अपने अस्तित्व की स्वार्थमयी सुरक्षा और संवर्द्धना ही नहीं, वरन् सबके साथ आत्मीय भाव से विकसित तथा विस्तीर्ण होना है।

### कविता में जनजातीय जीवन

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बनायी गयी सरकारी नयी नीति जनजातियों के प्रति संवेदनशील थी। उसके अन्तर्गत यह कोशिश की गयी कि जहाँ तक हो सके, जनजातीय परम्पराओं को छेड़ा न जाये और जनजातीय क्षेत्रों को अति-सम्मान के दोष से मुक्त रखा

जाये। यह भी प्रयत्न था कि जनजातियों पर अनावश्यक सुधार थोपे न जाएँ। प्रतिपूरक विभेदीकरण की नीति विकसित की गयी, जिनके अन्तर्गत जनजातियों को विधाशी संस्थाओं, सार्वजनिक सेवाओं और शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षण दिया गया। राष्ट्रीय बजट में जनजातियों के विकास के लिए विशेष प्रावधान किया गया। यह नीति सत् उद्देश्य से प्रेरित थी, किन्तु उसका क्रियान्वयन जिस तरह से किया गया, उससे उसके परिणाम सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुए। कुछ जनजातीय समूहों और क्षेत्रों में जातीय भावना से प्रेरित आन्दोलनों ने हिंसात्मक रुख अपनाया। उत्तर-पूर्व के राज्यों का पुनर्गठन कर उन्होंने इस आन्दोलन की तीव्रता को कम किया। जनजातीय विकास की एक नयी रणनीति बनायी गयी। विचारों के धरातल पर योजना अच्छी थी, किन्तु राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता, राज्यस्तर पर हस्तक्षेप और नौकरशाही के अदूरदर्शी रवैये ने नीति के सफल क्रियान्वयन में बाधा डाली। नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश और त्रिपुरा आदि में स्थिति बिगड़ी और वह आज भी चिन्ताजनक है। जनजातीय भारत के शेष भागों की शान्ति भी भ्रामक है। नक्सलबाड़ी, श्रीकाकुलम् और तेलंगाना में जो आन्दोलन हुए, उन्हें केवल आन्दोलनकारियों का अर्थ ही न माना जाये। इन क्षेत्रों में तीव्र जनजातीय असन्तोष भी था। आज भी महाराष्ट्र के जनजातीय क्षेत्रों में जो क्रांतिकारी आन्दोलन हो रहे हैं, उन्हें जनजातियों का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। हिन्दी कवियों ने इन सब गतिविधियों को अपनी आँखों से देखा है और ज्ञानात्मक संवेदना के स्तर पर उसे गहराई से अनुभव किया है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवियों ने बड़े स्तर पर जनजातियों के सांस्कृतिक जीवन का वर्णन अपनी कविताओं में किया है। भवानी प्रसाद मिश्र ने जनजातीय माँ का वर्णन करते हुए लिखा है-

एक माँ  
चल रही है सड़क पर  
अपने बच्चों को छाती से चिपकाये हुए  
और आश्वस्त है वह  
कि प्रलयकाल तक  
ले जाएगी उसे निकाल कर  
चारों तरफ से  
उमड़ कर आ रही आफतों से

जनजातीय संस्कृति के प्रति सम्मान और आत्मीयता की भावना हिन्दी के कवियों में पायी जाती है। हिन्दी कवि सांस्कृतिक एकरूपता सम्बन्धी दुराग्रह नहीं पालते। वे सांस्कृतिक विविधता को अभिव्यक्ति के समान अवसर के पक्षधर हैं। जनजातीय संस्कृति और विभिन्न क्षेत्रों और स्तरों की संस्कृतियों के बीच वे सेतु-निर्माण करना चाहते हैं, हिन्दी कवि अर्थहीन अनुकरण और सांस्कृतिक विसंगतियों और विकृतियों पर जनमत जागृत करता है। संस्कृतमूलक बीज प्रश्नों को हर प्रकार के भ्रम, उन्माद और वितण्डावाद से बचाना उसका जीवन धर्म है। वह कहता है-

तोड़ो,  
रुढ़ विगत के घेरे  
किन्तु बुझाओ मत  
उसकी विभा  
उसे तो लाओ  
ओट देकर अपने प्राणों की  
वर्तमान तक  
अनागत के स्वागत में  
दीप्त नहीं होंगे  
इसके बिना दीपक।

यहाँ कवि अतीत की सांस्कृतिक विभा को वर्तमान की सापेक्षता में अर्थवत्ता देता है। अनागत जो सम्भावना है, उसके दीपक इस सांस्कृतिक विभा द्वारा ही दीप्त होंगे। यहाँ वर्तमान प्रतीति बिन्दु की महत्ता को भी परोक्षतः स्वीकार किया गया है, क्योंकि वर्तमान ही वह बिन्दु है, जहाँ खड़ा होकर व्यक्ति अतीत की संस्कृति को प्रासंगिक बनाता है, भविष्य को अनुमानित करता है और स्वप्न देखता है, जो यथार्थ की भूमि पर ही कल्पित होता है।

हिन्दी के श्रेष्ठ कवि भवानी मिश्र अपने काव्य की अधिकांश प्रेरणाएँ जनजातीय अंचल से ही लिये हैं। उनकी स्थितियों को चित्रित करना उनका प्रमुख विषय-क्षेत्र रहा है। उनके मंगल के

आकांक्षी वे रहे हैं। जनजातीय गाँव का यथार्थ चित्रण करते हुए वह लिखते हैं-

गाँव इसमें झोपड़ी है, घर नहीं है,  
झोपड़ियों के फटकियाँ है, दर नहीं है  
धूल उड़ती है धुएँ से दम घुटा है  
मानवों के हाथ से मानव लुटा है  
सो रहा शिशु कि माँ चक्री लिये है  
पेट पापी के लिए पक्री किये है।

तुलसी ने राम की शक्ति, शील और सौन्दर्य को मानस का काव्यादर्श बनाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यही तुलसी का लोकधर्म है। धर्म समाज के मंगल के लिए है, जो तुलसी का परम लक्ष्य है। हिंदी कवियों का 'राम' उनका वह आदमी है जो गाँवों में, मैदानों में, गिरि-पर्वत पर, घाटियों में, जंगलों में आदिवासी, जनजाति या शोषित श्रमिक का जीवन व्यतीत कर रहा है। सघन शोषण, गरीबी, बेरोजगारी के बाद भी उनका सांस्कृतिक जीवन-मूल्य नहीं छोड़ना, यह उसका 'शील' है और वह पारिवारिक जीवन के समस्त संघर्षों का निष्काम भाव से सामना करता है, वह उसका 'सौन्दर्य' है-

बूढ़े या बच्चे  
या जवान  
औरतें और मर्द  
मिलकर कर रहे हैं  
काम खेत में  
और मैदान में  
और पहाड़ पर  
नदी के पानी में  
नदी की रेत में  
सोच रहा हूँ पड़ा-पड़ा मैं  
बिस्तर पर  
और महसूस कर रहा हूँ  
अपने को दरिद्र।

## लोक संस्कृति और समाज

डॉ. अर्चना शुक्ला

लोक संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही अंग है। लोक संस्कृति के पहले हमें संस्कृति पर विचार करना आवश्यक है। संस्कृति वह इकाई है जिसमें ज्ञान, कला, रीति-रिवाज, उत्सव एवं समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य के द्वारा अर्जित अन्य सभी योग्यताएँ शामिल हैं। इसकी शब्दगत व्युत्पत्ति है। सम्+कृ+क्ति अर्थात् कृ धातु से क्तिन प्रत्यय और सम् उपसर्ग लगाने से संस्कृति शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है परिमार्जित या परिष्कार।

भारतीय सनातन संस्कृति गंगा की तरह पवित्र है। विभिन्न भाषाओं, वेश-भूषाओं, आचार-विचारों के बावजूद संस्कृति की आत्मा एक है, जिसे विश्वात्मा के रूप में परिभाषित किया गया है- 'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'। भारत के लोगों को एक ही कुटुम्ब के रूप में माना गया है। भारतीय संस्कृति विश्व में प्राचीनतम है, इसका स्वरूप बहुधार्मिक, बहुभाषी तथा मिश्रित है। प्राचीन भारत की सिंधु घाटी की सभ्यता से लेकर वैदिक काल से आधुनिक काल तक भारतीय संस्कृति की बनावट और बुनावट में अनेक सूक्ष्म एवं चिरंतर तत्त्वों का समावेश होता आया है। यह विश्व की अधिकांश संस्कृतियों के अच्छे स्वरूप को अपने में समेटे हुए परिवर्तन और परिवर्धन की संभावनाएँ मौजूद रखती है।

भारतीय संस्कृति की अवधारणा मूलतः प्रकृति से जुड़ी हुई है। यह संस्कृति कालक्रम के अनुसार सनातन बनी रहती है। प्राकृतिक मानवता की धारणा संयुक्त मूल्य द्वारा निर्मित संस्कृति ही मूलतः संस्कृति है। व्यक्ति-परिवार संस्कृति, लोक संस्कृति सभी समाज के अभिन्न अंग हैं। समाज के इन सभी अंगों में परिवर्तन यानी भारतीय समाज में परिवर्तन है, क्योंकि समाज और संस्कृति एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय संस्कृति अनादिकाल से नित्य प्रति नूतनता लिये हुये शाश्वत एवं निरन्तर बनी हुई है। सहिष्णुता एवं



अनुकूलन क्षमता के बल पर भारतीय संस्कृति ने अपने स्वरूप को गढ़ा है। महाकवि कालिदास के अनुसार जो पुराना है वह सर्वथा त्याज्य नहीं है। भारतीय संस्कृति का स्वरूप प्राचीनता एवं नवीनता के औचित्यपूर्ण सामंजस्य को व्यक्त करता है।

सम्पूर्ण भारत में विभिन्न जातियों एवं सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं, इसी कारण भारत में अनेकता में एकता के दर्शन होते हैं। भारत की इन विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के अपने-अपने तीज-त्योहार, उत्सव और रीति-रिवाज हैं। सम्पूर्ण भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की भी अपनी-अपनी लोक संस्कृति है। उस क्षेत्र की बोली, वेश-भूषा, खान-पान, मेले, लोक नृत्य, लोक संगीत आदि सभी लोक संस्कृति है। यह लोक संस्कृति नगरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक जीवन्त है। इस संस्कृति के जीवित रहने से व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र सभी जीवन्त रहते हैं।

भारत में गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश आदि सभी राज्यों की अपनी-अपनी लोक संस्कृति है। इस लोकसंस्कृति को जीवित रखने में भारत की नदियों की भी प्रमुख भूमिका है। नदियों के किनारों के ग्रामों और वहाँ के जनसमुदाय में लोक संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक जीवित है। मध्यप्रदेश में भी नर्मदा, कावेरी, क्षिप्रा आदि नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं, जिसमें से नर्मदा तो मध्यप्रदेश की जीवनदायिनी है। इसलिये हमारा प्रदेश अपनी लोक संस्कृति में अग्रणी एवं जीवन्त है। प्रदेश की इस लोक संस्कृति में निमाड़ (खंडवा, खरगोन आदि) का गणगौर, सांझा, भुआणा (हरदा, होशंगाबाद आदि) क्षेत्र की भुजलियाँ, बुंदेलखण्ड का राई नृत्य आदि प्रसिद्ध हैं। क्षेत्रीय बोलियाँ भी लोक संस्कृति के प्राण हैं। भारत में भोजपुरी, अवधी, खड़ी बोली, निमाड़ी, मालवी, बुंदेलखण्डी आदि विभिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं।

ऐतिहासिक घटनाओं के परिदृश्य में जब भी हम दृष्टिपात करते हैं तो भारत भूमि पर विदेशी आक्रमणों ने अपनी पूरी क्षमता के साथ भारतीय संस्कृति को समूल उखाड़ फेंकने का भरसक प्रयास किया। लेकिन वे इनमें सफल नहीं हो सके। जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से निरंतर विश्व को प्रकाशित करता रहता है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति निरन्तर एवं शाश्वत प्रकाशपुंज के रूप में विश्व मानव समाज में ज्ञानरूपी प्रकाश फैला रही है।

लेकिन वर्तमान समय में हमारे भारतीय नैतिक मूल्यों का तेजी से विघटन हो रहा है, जिसका प्रभाव हमारी लोक संस्कृति पर भी पड़ रहा है। वर्तमान परिपेक्ष्य में लोक संस्कृति में काफी परिवर्तन आ चुका है। लोक संस्कृति में आये परिवर्तन के अनेक कारण सामने आये हैं, जैसे शिक्षा, वैज्ञानिक और आधुनिक प्रभाव आदि। वर्तमान युग में पढ़े-लिखे युवा अपनी संस्कृति से विमुख होते जा रहे हैं, क्योंकि उनका परम्पराओं और रीति-रिवाजों में पूर्णतः विश्वास नहीं है। आज का युग वैज्ञानिक युग है, जिसके अन्तर्गत संचार प्रणाली, आवागमन, कम्प्यूटर प्रणाली के कारण एक दूसरे से दूरियाँ कम हो गई हैं। इसलिये भी लोक संस्कृति अपना मूल स्वरूप छोड़ रही है।

आधुनिकता की होड़ में युवा अपने मूल अस्तित्व से परे होते जा रहे हैं, उनका रहन-सहन, पहनावा सब कुछ बदलाव की ओर है। लेकिन यह आरोप हम सभी युवाओं पर नहीं लगा सकते। आज भी युवाओं का कुछ वर्ग अपनी लोक संस्कृति और परम्पराओं की जड़ों से जुड़ा हुआ है और भविष्य में जुड़ा भी रहना चाहिए, ताकि आने वाली पीढ़ी को वह यह सब कुछ हस्तांतरित करते हुये भारतीय समाज को मजबूती प्रदान कर सके। उपरोक्त कारणों के अलावा और भी कई ऐसे कारण हैं, जिससे हमारी लोक संस्कृति परिवर्तित हो रही है। एक ओर तो हम प्राचीन धरोहरों को सहेज कर रख रहे हैं तो लोक संस्कृति जैसी प्राचीन जीवन्त धरोहरों को खोना समाज के लिये बहुत बड़ी हानि है।

हमारी लोक संस्कृति बहुत हद तक प्रकृति को अपने में समाये रखती है। यदि लोक संस्कृति में परिवर्तन होता है तो आने वाली पीढ़ी प्रकृति से भी परे होती जायेगी। लोक संस्कृति में बदलाव की स्थिति का अर्थ समाज का विकसित होना या विकृत होना माना जाता है। आज व्यक्ति की मानसिकता में आये परिवर्तन को भी बदलाव के अर्थ में लिया जाता है। जीवन मूल्यों का संक्रमण बदलाव ही है। मानवीय मूल्यों एवं मानव सम्बन्धों का भी पतन हो रहा है, इससे पारिवारिक सम्बन्धों में भी तेजी से बदलाव आ रहे हैं, जिसे आधुनिकता का नाम दिया जा रहा है, पर यह तो परम्परा से कटाव है। व्यक्ति आत्म केन्द्रित होता जा रहा



है, फलस्वरूप मानव अपने को अकेला महसूस करने लगा है।

इस परिवर्तन से दाम्पत्य सम्बन्धों में भी बदलाव देखा जा रहा है। समर्पण का भाव आत्म सुख में बदलता जा रहा है। वर्तमान पीढ़ी-दर-पीढ़ी वैचारिक मतभेद ने भी अटूट सम्बन्धों पर प्रभाव डाला है। युवा पीढ़ी को हमारी परम्परायें, साहित्य, संस्कृति सब असंगत लगने लगी है और इनका पालन करने वाली पुरानी पीढ़ी को वे संकुचित दृष्टिपूर्ण वाला समझते हैं। व्यक्ति की कल्पनाएँ यथार्थ के ताप में झुलस गयी हैं। पर यह आरोप समूची युवा पीढ़ी पर लागू हो, यह आवश्यक नहीं है। लोक संस्कृति में परिवर्तन से पूर्णतः प्रतिकूल असर नहीं पड़े हैं। इसके कुछ अनुकूल प्रभाव भी देखने में आये हैं, जैसे पंडवानी

लोक गायिका तीजनबाई ने पारम्परिक लोक गीतों के माध्यम से महाभारत की कथा में कुछ बदलाव कर आधुनिक अंदाज में प्रस्तुत किया है, जिसे देश-विदेश में काफी सराहा गया है। इस कार्य हेतु उन्हें पद्मभूषण से सम्मानित भी किया गया है।

हमें अपने आपको धन्य समझना चाहिए कि हमने भारत जैसी पवित्र भूमि पर जन्म लिया है, जहाँ भगवान राम और कृष्ण जन्मे थे। आज प्रत्येक व्यक्ति को यह दृढ़ संकल्प लेना चाहिए कि हम अपनी भारतीय सभ्यता और संस्कृति को कभी धूमिल नहीं होने देंगे। मानवता का पूर्ण रूपेण निर्वाह करेंगे।

## लोक भाषाओं की कहावतें

डॉ. मीना साकल्ले

जीवन के विस्तृत अनुभव को शब्दों में प्रकट कर जब प्रचलन में लाया जाता है, तो वह एक कहावत बन जाती है। बातचीत करते समय किसी विषय की परिपुष्टि के लिए 'ऐसे' व 'क्यों' का प्रयोग प्रायः सभी करते हैं, किन्तु उनका शब्दशः अर्थ लिया जाय तो कुछ महत्त्व नहीं होता। फिर भी उसके स्वतंत्र सांकेतिक अर्थ के द्वारा श्रोता पर अच्छा प्रभाव डाला जा सकता है। ऐसे वाक्यों को जनश्रुति, लोकोक्ति या कहावतें कहते हैं।

लोकोक्ति का सीधा अर्थ है लोक की उक्ति। मध्यप्रदेश के नक्षे में एक छोटा-सा भू-भाग है निमाड़। इस निमाड़ की अपनी प्रथाएँ, परंपराएँ, रीति-रिवाज, धर्म, खान-पान, पहनावा के साथ बोली भी है निमाड़ी। आज के भाषा वैज्ञानिक युग में यही बोली अपनी खास विशेषताओं के कारण लोकभाषा का दर्जा पा चुकी है। यहाँ समस्त भाषा का विश्लेषण न करके सिर्फ उसकी कहावतों का अन्य भाषाओं से तुलनात्मक स्वरूप ही प्रस्तुत करूँगी।

निमाड़ की अपनी बोली में जितनी भी कहावतें मैंने निमाड़ जनपद के ग्रामीणों (जनों) के मुख से सुनी, उसके आधार पर उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है- निमाड़ी की अपनी कहावतें और निमाड़ी में विभिन्न भाषाओं से आगत कहावतें। निमाड़ी की अपनी कहावतों को मैंने निमाड़ जनपद के ग्रामीण वृद्ध-व्यक्तियों के मुँह से सुनकर तथा जिनका अन्य किसी भाषा में रूप नहीं मिला, उन्हें रखा है। इन कहावतों में निमाड़ का पूरा जन-जीवन उसके रीति-रिवाज तथा सबसे बड़ी बात बोली का स्वरूप मिलता है। निमाड़ी में विभिन्न भाषाओं की आगत कहावतों में जिन भाषाओं से निमाड़ी में कहावतें ग्रहण की गई हैं, उनमें राजस्थानी कहावतें तो अधिकतर ज्यों की त्यों अपना ली गई हैं, केवल शब्दों के उच्चारण का हेर फेर है। यहाँ इसी प्रकार की कुछ साम्य मूलक कहावतें दी जा रही हैं।

## निमाड़ी और राजस्थानी कहावतें

निमाड़ी- *अपणी माय ख डाकण कुण कय।*

राजस्थानी- *आपरी माँ नै डाकण कुण कवै?*

अर्थ- अपनी माँ को चटोरी कौन कहेगा, अर्थात् अपनी वस्तु को कौन बुरा कह सकता है, कोई नहीं।

निमाड़ी- *अंगळई बताडी तो पोयचो गिळज।*

राजस्थानी- *आंगुली पकड़तो-पकड़तो पूँच्यो पकड़ लियो।*

अर्थ- अँगुली बताई तो पोच्या पकड़ना अर्थात् थोड़ा सहारा मिलने पर ज्यादा मुँह पसारना।

निमाड़ी- *आडी रगडी न वऊ बिगडी।*

राजस्थानी- *एडी रगडी अर बहू बगडी।*

अर्थ- एडी रगडी व बहू बिगडी अर्थात् गाँवों में अधिक साफ-सुथरे रहने से स्त्री की निंदा होने लगती है।

निमाड़ी- *एक तवा की रोटी काई छोटी नऽ काई मोटी।*

राजस्थानी- *एक तवा की रोटी के छोटी के मोटी।*

अर्थ- एक तवे की ही रोटी क्या छोटी और क्या मोटी, अर्थात् एक ही परिवार के लोग उनमें किस तरह का भेद या एक ही पिता की संतान किससे पक्षपात किया जाए।

निमाड़ी- *काख मऽ छोरो न गाँव मऽ ढिंढोरो।*

राजस्थानी- *बगल म छोरो गाँव में ढिंढोरो।*

अर्थ- पास में ही लड़का होना, किन्तु उसे ढूँढने के लिए गाँव में डौंड़ी पीटना। अर्थात् समीप की वस्तु न दिखायी देने पर दूर-दूर खोजना, तब यह कहावत कही जाती है।

निमाड़ी- *कीड़ी खऽ कण भर नऽ हाती खऽ मण भर।*

राजस्थानी- *कीड़ी नै कण, हाथी नै मण।*

अर्थ- कीड़ी को कण भर, हाथी को मनभर अर्थात् ईश्वर चींटी को उदर-पूर्ति के लिए जहाँ कण भर देता है, वहाँ हाथी को मन भरकर भी दे देता है। वह छोटे से छोटे प्राणी से लेकर बड़े से बड़े जीव की आवश्यकता पूरी करता है।

निमाड़ी- *करमहीन खेती करऽ, बइळ मरऽ नऽ बाँडी पड़ऽ।*

राजस्थानी- *करमहीण खेती करै, के काल पड़ै के बलद मरै।*

अर्थ- भाग्यहीन जब खेती करता है तब या तो बैल मर जाते हैं या अकाल पड़ता है, अर्थात् भाग्यहीन के लिए परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जाया करती हैं।

निमाड़ी- *खेती धणी सेती।*

राजस्थानी- *खेति धणियां सेती।*

अर्थ- खेती की देखभाल करने पर ही वह लाभदायक है, अथवा खेती मालिक की निगरानी से ही फलदायिनी होती है।

निमाड़ी- *खाद पड़यो तो खेत, नहीं तो कूड़ो रेत।*

राजस्थानी- *खात पड़ै तो खेत, नहीं तो कूड़ो रेत।*

अर्थ- खेत में खाद डालने से ही खेती हो सकती है, नहीं तो खेत में कूड़ा-करकट और रेत के सिवा कुछ नहीं होगा।

निमाड़ी- *खाणू मण चीतो नऽ पहरणू जगत चीतो।*

राजस्थानी- *खाणो मन भातो पैरणो जग भातो।*

अर्थ- खाना हमेशा अपनी इच्छानुसार खाना चाहिए, किन्तु पहनावे में हमेशा दूसरों की सलाह लेना आवश्यक है।

निमाड़ी- *खाई न खोई जाणू नऽ मारी नऽ भाणी जाणू।*

राजस्थानी- *खा-पी सूं जाणौ, भारकाट भाज जाणू।*

अर्थ- खा-पीकर सो जाना और मार-काट कर भाग जाना, अर्थात् निडर व्यक्ति के लिए खाकर सोना व दूसरों को मारकर भागने के सिवाय कुछ काम नहीं है।

निमाड़ी- *घड़ऽ सुनार पैहर नार।*

राजस्थानी- *घड़ै सुनार पहरै नार।*

अर्थ- गहने बनाता तो सुनार है, किन्तु उन्हें धारण सभी स्त्रियाँ करती हैं।

निमाड़ी- *छोड़ो ईस नऽ बठो बीस।*

राजस्थानी- *छोड़ो ईस बैठो बीस।*

अर्थ- खटिया की ईस की जगह छोड़कर बीस व्यक्ति भी बैठ सकते हैं।

निमाड़ी- जसा साजन वसा भोजन।

राजस्थानी- जसा साजन उसा भोजन।

अर्थ- जैसे लोग होंगे, उनकी सेवा भी वैसी ही होगी।

निमाड़ी- जमीन जोरू-जोर की नई तो अरू की हुई।

राजस्थानी-जमी जोरन-जोर की जोर हट्या ओर की।

अर्थ- जमीन और स्त्री ताकतवर की होनी चाहिए नहीं तो वह दूसरे के अधीन हो जाती है।

निमाड़ी-जवऽ तक शक्ति, तवऽ तक भक्ति।

राजस्थानी-शकती लारे भगती।

अर्थ- शरीर की शक्ति के अनुसार ही भक्ति की जाती है।

निमाड़ी-तुरत दान महापुन।

राजस्थानी-तुरत दान महापुन।

अर्थ- तत्काल दान करने से बड़ा पुण्य मिलता है।

निमाड़ी-दुजळई अर दुइ असाढ़।

राजस्थानी-दूजली अर दो साढ़।

अर्थ- गाय, भैंस यदि निर्बल हो और किसी वर्ष अधिक मास के कारण दो आषाढ़ आ जाए तो उनके लिए वर्षा के अभाव में और भी मुश्किल पड़ती है।

निमाड़ी-नवरा नावी पारळा मूंडऽ या रिकामों नाई पाटळा मूंडऽ।

राजस्थानी-निकमी नायण पाटड़ा मूंडै।

अर्थ- बेकार नाई या नायेन पटियाँ तोड़ने के अलावा कुछ नहीं करता।

निमाड़ी-नगद एक नी उधार तेरह।

राजस्थानी-नौ नगद तेरह उधार।

अर्थ- नगद एक रुपया भी पास में नहीं, किन्तु उधार तेरह रुपए अर्थात् आय के साधन सीमित किन्तु कर्ज असीम।

निमाड़ी- पहिळ दिण पावणा, दूसरा दिण पाई।

अनऽ तीसरा दिण काई थारी अक्कळ गई।

राजस्थानी- एक दिन पावणू दूजे दिन अनखावणू।

तीजे दिन बाप को मुंछोवणू।

अर्थ- मेहमान तो एक दिन का ही होता है, दूसरे दिन वह विशेष मेहमान के रूप में या अन्न खाने वाला ( धन बरबाद करने वाला ) समझा जाता है, अनादरणीय हो जाता है और तीसरे दिन रहने वाले की अक्ल ही मारी जाती है या वह गाली खाने के योग्य हो जाता है, अर्थात् सर्वथा उपेक्षणीय बन जाता है।

निमाड़ी-रूप की रडऽ नऽ करम की खाय।

राजस्थानी-रूप की रोवै करम की खाय।

अर्थ- भाग्य की प्रतिकूलता के कारण रूपवती स्त्री दुःख उठाती देखी जाती है और विधि की अनुकूलता के कारण कुरूप स्त्री भी सुखमय जीवन व्यतीत करती है।

निमाड़ी-राजा को दाण परजा की स्नाण।

राजस्थानी-राजा को दान प्रजा को स्नान।

अर्थ- राजा दान करके और प्रजा स्नान करके ही पुण्यार्जन करता है।

निमाड़ी-पाँच सात की लाकड़ी नऽ एक जणऽ खऽ बोझ।

राजस्थानी-पाँच सात की लाकड़ी एक जणै को भार।

अर्थ- यदि पाँच-सात आदमी मिलकर बोझ को आपस में बाँट लें तो उनके हिस्से में एक-एक लकड़ी आती है, यदि न बाँटे तो एक के लिए वह भार-रूप हो जाता है। विवाह आदि में मदद के लिए इस कहावत का प्रयोग होता है। मुख्य भाव सहयोग की भावना है, सहयोग से काम सरल हो जाते हैं।

निमाड़ी-साठी बुद्धि नाठी।

राजस्थानी-साठी बुध नाठी।

अर्थ- साठ वर्ष की आयु होने पर मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है।

निमाड़ी-फोड़ चळऽ नऽ नौ घर हळऽ।

राजस्थानी-फूड़ चालै नौ घर हालै।

अर्थ- फूहड़ स्त्री जब चलती है तो नौ घरों तक उसका फूहड़पन प्रकट हो जाता है।

## निमाड़ी और मराठी कहावतें

निमाड़ी- *अपणी आस चूल्हा का पास।*

मराठी- *सरऽयाची छाँव कुपणापर्यन्त।*

अर्थ- स्त्री का कार्यक्षेत्र चूल्हे तक ही सीमित रहता है। यही भाव मराठी कहावत में भी है कि गिरगिट ज्यादा दूर नहीं जाता, बागड़ तक ही जाने की शक्ति रखता है।

निमाड़ी- *अंधोरी सी खायो न घोरी घोरी सोयो।*

मराठी- *खायला काळ (आणि) भूमीला भार।*

अर्थ- छीन-झपट कर खूब डटकर खाना तथा आलसी जैसे पड़े रहना या सोते रहना।

निमाड़ी- *अपणी पुट अपुण ख नी दीखती।*

मराठी- *डुस-याच्या डोळ्यांतल कुसल दिसतं पण आपल्या डोळ्यांत के मुसळ नाहीं दिसत।*

अर्थ- अपनी पीठ स्वयं को नहीं दिखती, अर्थात् अपनी त्रुटियों का स्वयं निराकरण नहीं किया जा सकता।

निमाड़ी- *अंधळई का लगीण मऽ तेरह विघ्न*

मराठी- *नकटीच्या लग्नाला सतरा विन्नें।*

अर्थ- अंधी के या नकटी के लग्न में अनेक बाधाएँ आती हैं।

निमाड़ी- *अपणी करणी अपणा साथ।*

मराठी- *करावें तसे भरावें।*

अर्थ- जैसे कर्म किये जायेंगे, वैसा ही फल प्राप्त होगा।

निमाड़ी- *आद्रा..... भरऽ खाळ्या खोद्रा।*

मराठी- *पडतीळ चित्रा भात खाईना कुत्ता।*

अर्थ- निमाड़ी कहावत का अर्थ है कि आद्रा नक्षत्र में इतनी वर्षा होती है कि नाले और खोये (गड्ढे) तक भर जाते हैं। मराठी में भी यही भाव है कि चित्रा नक्षत्र में होने वाली वर्षा धान के लिए लाभदायक है। इतनी धान पैदा होती है कि उसे कुत्ते भी खाना पसंद नहीं करते।

निमाड़ी- *उठई जीब न लगई राळ्वा खऽ।*

मराठी- *उचलली जीभ लावली राळ्याला।*

अर्थ- जीभ उठाई और तलवे से लगा दी, अर्थात् बिना सोचे-समझे बोलना।

निमाड़ी- *काई कुकड़ो बांग देगा तवज याणी होयणा।*

मराठी- *कोबड़ी झाकली तरी उजाजयजं रहात नाहीं।*

अर्थ- क्या मुर्गे के बांग देने पर ही दिन होगा। मराठी कहावत का भी यही अर्थ है कि मुर्गा टोकनी के नीचे ढांक कर रखा जाय तो भी दिन उगेगा ही, अर्थात् प्रकृति नियमानुसार चलती है, किसी के कहने-सुनने से नहीं।

निमाड़ी- *कहे कोय खऽ ण सुणावऽ वऽ खऽ।*

मराठी- *लेकी बोले सून लागे।*

अर्थ- व्यंग्यात्मक उक्ति है कि किसी के माध्यम से किसी अन्य को बात सुनायी जाती है।

निमाड़ी- *कमजोर बइळ नऽ गोठयऽ डकार।*

मराठी- *सरऽयाची धांव कुंपणापर्यंत।*

अर्थ- कमजोर बैल गोहे तक ही डकारता है या गिरगिट बागड़ में ही घूमने की शक्ति रखता है, उसी तरह निर्बल व्यक्ति कम ही बोलता है।

निमाड़ी- *खावण की सीदड़ी न करण की हीजड़ी।*

मराठी- *खायला आधी कामला कधी मधीं।*

अर्थ- खाने के लिए सदा तैयार रहना, लेकिन काम करने के लिए तैयार न होना या कभी-कभी होना।

निमाड़ी- *गाजर की फंगी बाजी गई तो बाजी, नई तो खाई गया।*

मराठी- *गाजराची मुंगी वाजली तर वाजली नाहीं वर खाउन टाकली।*

अर्थ- गाजर की पुंगी बनाई, अच्छी बनी तो आवाज निकलेगी, बजाने के काम आयेगी, अगर नहीं बनी तो खाने के काम आवेगी, नुकसान कुछ नहीं होगा।

निमाड़ी- *छाबड़ा लिपण तेको पोपड़ो।*

मराठी- *आऊचा काऊ तो माझा मावस भाऊ।*

अर्थ- लीपा-छाबा और उसका पोपड़ा गिर जाता है। वही मराठी कहावत में यही भाव की दूर का सम्बन्ध बताकर बिना रिश्तेदारी के रिश्ता बताना।

निमाड़ी- जणी उ जाणं, बांझ काई जाणं।

मराठी- जाणे त्यांच्या वंशा तेव्हां कले।

अर्थ- जिसने जन्म दिया, वही पीड़ा को समझ सकता है।  
बंध्या उस पीड़ा को नहीं समझ सकती। अर्थात् दूसरे  
का दुःख तभी समझेगा, जब वह बात अपने पर बीतती  
है।

निमाड़ी- जसी हवा देखणूं, वसी तिव्हाय धरणूं।

मराठी- वाया प्रमाणे पाठ फिरवणे।

अर्थ- जैसी हवा बहेगी, उसी के अनुसार तिव्हाय (अनाज)  
उड़ाने के लिए रखना।

निमाड़ी- थेम थेम करी नऽ तळव भरयो।

मराठी- थेंबे-थेंबे तलें साचे।

अर्थ- एक-एक बूँद पानी टपकने से तालाब भर जाता है,  
अर्थात् लगातार कार्य करने से कार्य सिद्धि होती है।

निमाड़ी- नददी को मूळ न ऋषि को कूळ नी देखणूं।

मराठी- नदीचं मूळ आणि ऋषीयं कूल पाहूं नये।

अर्थ- नदी का उद्गम स्थल और ऋषि का वंश दोनों ही नहीं  
पूछना या खोजना चाहिए, अर्थात् ईश्वर प्रदत्त वस्तुओं  
का अवलोकन नहीं करना चाहिए।

निमाड़ी- नित की सासु गंगा जाय, वोका पाय कबं तक लागणूं।

मराठी- रोज मरे त्याला कोण रडे।

अर्थ- रोज ही यदि सास नहाने जाय तो बहू उसके कहाँ तक  
पैर पड़े। मराठी कहावत का भी यही अर्थ है कि रोज ही  
कोई मरे तो उसके लिए कहाँ तक रोया जायें। अर्थात्  
रोज ही एक तरह का काम होने से उसका महत्त्व घट  
जाता है।

निमाड़ी- पूत का पाँव पाळना मऽ न बऊ का पाँव तोरण मऽ।

मराठी- मूलाचे पाय पाळण्यांत दिसतात।

अर्थ- पुत्र और बहू के स्वभाव की परख पालने तथा तोरण में  
ही हो जाती है।

निमाड़ी- पापी खऽ न पंढरपुर।

मराठी- पाप्याला पंढरपुर आणि आळशाला गंगादूर।

अर्थ- पापी मनुष्य को पंढरपुर पवित्र स्थान की चाह नहीं  
रहती है, वैसे ही आलसी मनुष्य को गंगाजी नहाने की  
चाह नहीं होती।

निमाड़ी- बरसऽ स्वाती पोवऽ मोती।

मराठी- पड़तील स्वाती तर पिकतील माणिक-मोती।

अर्थ- स्वाती नक्षत्र में होने वाली वर्षा समुद्र में मोती बनने के  
हेतु लाभदायक होती है।

निमाड़ी- मघा धरती अघा।

मराठी- पड़ती मघा तरसांदी कोपरीं हगा,  
न पड़ती गधा तर आकाशाकडे बघा।

अर्थ- मघा नक्षत्र में इतनी वर्षा होती है कि धरती तृप्त हो जाती  
है। मराठी कहावत का भी यही भाव है कि मघा नक्षत्र  
की वर्षा इतनी जोरदार होती है कि किसान घर के बाहर  
कुछ भी करने को नहीं जा सकता, अगर वर्षा नहीं हुई  
तो प्रभु की प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा  
नहीं।

निमाड़ी- मारता को हात पकड़ज नऽ बोळता को काई करजऽ।

मराठी- मारण्या-याचा हात धरता येईल पण।  
बोलना-याची जीभ धरतां येत नाहीं।

अर्थ- कोई व्यक्ति दूसरे को मारता है तो उसका हाथ पकड़कर  
रोका जा सकता है लेकिन कोई गलत बोलता है तो उसकी  
जबान नहीं बंद की जा सकती है।

निमाड़ी- मीढो गोढ होय तो ओखऽजड़ सीनी खाणूं।

मराठी- ऊस गोड़ लागला तरी मूळ सकट खाउ नये।

अर्थ- दया करने वाले से पूरा लाभ नहीं उठाना चाहिए, जैसा  
कि मीठा पेड़ हो तो उसे जड़ से नहीं खा जाना चाहिए।

निमाड़ी- लुगडो छोडी न माथा पर बांधणें।

मराठी- कमरेचं सोडून डोक्याला बांधणें।

अर्थ- तन पर का कपड़ा छोड़कर सिर पर बाँधना, बेमतलब



का काम करना, अर्थात् बेशर्म व्यक्ति के लिए कुछ भी कर दिखाना संभव नहीं।

निमाड़ी-हाड़या का सराप सी काई डेडर मरजऽ।

मराठी-कावळ्याच्या शापानें माय मरत नाही।

अर्थ- किसी के बुरे वचनों से किसी का कुछ नहीं बिगड़ता है, जैसा कि मराठी कहावत में भी है। कौवे के श्राप से मेंढक मरता नहीं अथवा गाय कौवे को अपनी पीठ पर बैठने नहीं देती, इसलिए अगर कौवा चाहे कि गाय मर जाय तो वह नहीं मरेगी, इसी तरह किसी के बुरे वचन से कुछ नहीं बिगड़ता।

निमाड़ी-हऊँ बी राणी तू बी राणी, कुण भरऽ पाणी।

मराठी-मी राजा तू राणी, दुंगण धुवायला कोण देईल पाणी।

अर्थ- मैं भी रानी, तू भी रानी, ऐसी स्थिति में कौन पानी (काम) भरेगा।

### निमाड़ी और गुजराती कहावतें

निमाड़ी-अक्कास खऽ काई खंबा थोड़ी लग्या।

गुजराती-आकाश ने काई टेको छे।

अर्थ- आकाश को क्या कोई खंबे थोड़ी लगे है, अर्थात् दुनिया में विश्वास का महत्त्व है।

निमाड़ी-आग हात मऽ धराय पर उनी धराय।

गुजराती-आग हाथ म पकड़ी लोव,  
पर इन बताओ मा।

अर्थ- आग हाथ में रखी जा सकती है, किन्तु किसी का क्रोधी स्वभाव या क्रोध सहन नहीं किया जा सकता है।

निमाड़ी-उज्जड़ गाँव मऽ ऊँट को तमाशो।

गुजराती-उज्जड़ गाँव म दूरडो घणी।

अर्थ- जो गाँव विकसित या शिक्षित नहीं होते, वहाँ ऊँट का आना भी एक तमाशा बन जाता है। उसी तरह गुजराती कहावत में अर्द्ध-विकसित गाँव में अरंडी का वृक्ष ही शोभा पाता है।

निमाड़ी-उस्या सोवऽ कि पायता ढोप्पर ईच मऽजज आवगा।

गुजराती-सिराने सोबु कि पांगे सुवो कम्मर तो वचमऽ वचमऽ आवसे।

अर्थ- पलंग के सिरहाने मुँह करके सोवो या पायलाने तरफ, कमर हमेशा बीच में ही आयेगी, अर्थात् प्रकृति के द्वारा निर्मित चीजों को तोड़ा नहीं जा सकता है।

निमाड़ी-ऊँट को एक नी सीधो।

गुजराती-ऊँट ने अढढारा वाका।

अर्थ- ऊँट का एक अंग भी सीधा नहीं होता है या ऊँट के अठारह अंग टेढ़े, अर्थात् बदमाश व्यक्ति कोई भी काम सीधे तरीके से नहीं करता।

निमाड़ी-एक को मुंडो शकर सी भराय, न दस को धुव्वा सी नी भराय।

गुजराती-एक दीकरी न मुडु शाकर सी भराय, दस न मुडु मीढया थी ना भराय।

अर्थ- एक व्यक्ति का मुँह शकर से भर दे, किन्तु दस का मुँह धूल या नमक से भी नहीं भरा जा सकता अर्थात् अकेले व्यक्ति की समस्त इच्छाएँ पूरी हो सकती है, किन्तु उसी के स्थान पर दस व्यक्ति के आ जाने से उनकी जरा सी पूर्ति नहीं की जा सकती।

निमाड़ी-काळजाय कहेर जाय, पागळ को लोचणों नी जाय।

गुजराती-हाळजाय हवाल जाय, बंदा नो खेल न जाय।  
बुड्ढापन म केश बदले, पण लखन न बदळे लाखे।

अर्थ- परिस्थितियाँ कैसी भी हो बदल सकती हैं, जैसे कि गुजराती कहावतें व्यक्ति (पागल) की आदतें नहीं बदल सकती, बुढेपन में बाल सफेद हो जाय, परंतु उसके लक्षण नहीं बदल सकते, अर्थात् आदत छोड़ी नहीं जा सकती।

निमाड़ी-कात्यो ओको सूल न जणयो ओको पूत।

गुजराती-कांतो एनो सूत, जण्यो एतो पूत  
न थेली बाई ने वडगया भूत।

अर्थ- जिसने काता उसका सूत, जिसने जन्म दिया उसका पुत्र। गुजराती कहावत की दूसरी पंक्ति का अर्थ है कि दूसरे के पुत्र पर अत्यधिक स्नेह करने पर क्या उसे भूत लगा है, अर्थात् सम्बन्ध आजीवन नहीं तोड़े जा सकते हैं।

निमाड़ी- कौड़ी-कौड़ी माया जोड़ी।

गुजराती- कौड़ी-कौड़ी माया जोड़ी।

अर्थ- परिश्रम से ही धन की प्राप्ति होती है।

निमाड़ी- खाटले सी उठया न पाटळा पर बठया।

गुजराती- खाटले सी पाटले अने पाटले सी खाटले।

अर्थ- खटिया से पटिया पर और पटिया से खटिया पर बैठना, अर्थात् सर्वसुख संपत्ति का होना।

निमाड़ी- खाई जाय रोजड़ी न मार खाय गधड़ी।

गुजराती- खाबा माटे खेत बाई न कुवरा मारे कानु बाई।

अर्थ- चालाक व सीधापन की कहावत है कि खाने के वक्त रीघड़ी किन्तु उसके बदले मार खाय गधड़ी। गुजराती कहावत का भी यही भाव है कि खाने के वक्त खेत बाई और मार खाने के समय कनुवाई है अर्थात् काम बिगाड़े चालाक व्यक्ति और मार खाए सीधा व्यक्ति।

निमाड़ी- खाय खसोटया ले न गुरगुरी रहीज।

गुजराती- खाती गई खदोड़ती गई, न ऊपर सी गुरगुराती गई।

अर्थ- खाने-पीने के बाद भी नाराजी दिखाना।

निमाड़ी- खिचड़ी खाऊँ न बेळगी सोऊँ।

गुजराती- थोड़ो खायुं ने शांति सी रहवुं।

अर्थ- खिचड़ी खाकर छोटी-सी चिड़ियाँ की भाँति सोना अर्थात् गरीबी से संतुष्ट रहकर आराम से सोना।

निमाड़ी- गरज सरमऽ वैध मरऽ।

गुजराती- गरज सरी वैध बैरी।

अर्थ- गरज निकलने के बाद चाहे वैध मर जाय, अर्थात् स्वार्थ पूर्ति के बाद किसी वस्तु का नाश भी हो जाय तो कोई बात नहीं।

निमाड़ी- गाँव को जोगी न परगाँव को सिद्ध।

गुजराती- घर का जोगी जोगरा न परगाँव म सिद्ध।

अर्थ- गाँव के जोगी को अपने गाँव में उतना सम्मान नहीं मिलता, जितना कि पराये गाँव में। अर्थात् गुणों की परख बाहर के क्षेत्र में ही होती है।

निमाड़ी- गाय ख धुई न कुतरा ख पाळई।

गुजराती- गाय ने धोई कुतरा ने पायु।

अर्थ- गाय को दुहकर कुत्ते को पिलाना, अर्थात् दान भी उसी व्यक्ति को करना चाहिए जो उसका महत्त्व समझे।

निमाड़ी- गाड़ी नीचऽ कुतरा चळजऽ न कैयज हऊँ गाड़ी खैची रहयोज।

गुजराती- गाड़ा नीच कुतरू हाले, जाण गहारो ऊपर बधो भार।

अर्थ- गाड़ी के नीचे कुत्ता चलता है तो समझता है कि सारा बोझ मैं ही खींच रहा हूँ। अर्थात् बड़े पद पर पहुँचने पर व्यक्ति समझने लगता है कि सारा कार्यभार वही सम्हाल रहा है।

निमाड़ी- जवं बदळ फाटऽ तो थेंगळो कहाँ-कहाँ लगावणूँ।

गुजराती- आभ फाटे तेनु भिगळन देवाय।

अर्थ- आकाश या बादल फटते हैं तो उन्हें कहाँ-कहाँ सीये, अर्थात् हजारों मुसीबतें एक साथ आती हैं तो उन्हें कैसे दूर करें।

निमाड़ी- जरा-सो खाणूँ नऽ बनारस मऽ रहणूँ।

गुजराती- थोड़ो खायुं नी बनारस मं रेहणु।

अर्थ- थोड़ा-सा खाना और बनारस में रहना, अर्थात् थोड़ा खाकर भी अच्छी जगह पर रहना।

निमाड़ी- जरा सी बात को पतंगो।

गुजराती- बात न बातेसर कीदु।

अर्थ- छोटी-सी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहना अथवा छोटी सी घटना को अत्यन्त बड़ी कर देना।

निमाड़ी- जवं तक जीवणूँ।

गुजराती- दरजी नो छोकरो जीवे त्यां तक सीवे ।

अर्थ- दर्जी का लड़का जब तक जीता है, तब तक सीने का काम करेगा ही, अर्थात् जीने तक कर्म करने की गति चलती ही रहती है ।

निमाड़ी- जेखऽ दुखऽ ओखऽ आवऽ आँसू ।

गुजराती- दुखे एनेऽ वेठा ।

अर्थ- जिसको दुःख होता है, उसी के आँखों में आँसू आते हैं ।

निमाड़ी- जोरू साथ पैसो गांठ ।

गुजराती- स्त्री साथ न गरथ गांठे ।

अर्थ- स्त्री के साथ रहने पर जेब में अवश्य ही पैसा रखना चाहिए ।

निमाड़ी- जसा उद्धव तसी गोपी ।

गुजराती- जसा उद्धव ऐसी गोपी ।

अर्थ- चालाक व्यक्ति के साथ चालाकी से उत्तर देना चाहिए जैसे कि उद्धव के अनुरूप ही गोपियाँ उत्तर देने में चतुर थी ।

निमाड़ी- जस करता अपजस मिळणु ।

गुजराती- जस करता अपजस मळयो ।

अर्थ- भलाई का काम करने के बाद भी बुराई हाथ लगना ।

निमाड़ी- रात राणी न वउ काणी ।

गुजराती- रात राणी ने वउ काणी ।

अर्थ- रात में काणी बहू भी अच्छी लगेगी ।

निमाड़ी- तीण बुलाया न तेरा आया नाख दाळ मऽ पाणी ।

गुजराती- त्रण बोलाया तेरे आव्या, दे दाळ मां पाणी ।

अर्थ- जब खाने का सामान सीमित हो और खाने वाले अधिक हो जाय, तब यह कहावत कही जाती है । तीन के बुलाने पर तेरह व्यक्ति हो जाते हैं तो दाल में अतिरिक्त पानी डालकर समस्या हल कर दी जाती है ।

निमाड़ी- तवा पर की थारी न तगारी पर की म्हारी ।

गुजराती- तावणी म तारो न कथरोट ख म्हारो ।

अर्थ- तवे पर की तेरी और तगाड़ी में रखी हुई मेरी अर्थात् जल्दबाजी का काम, तवे पर की गर्म रोटी शीघ्र खाते नहीं बनेगी, तगाड़ी में रखी ठंडी रोटी मेरी होगी ।

निमाड़ी- तू चळ हँऊ आयो ।

गुजराती- तू चाळ हँऊ आयो ।

अर्थ- तू चल मैं आया, अर्थात् कहीं जाने की इच्छा न हो और जबरदस्ती चलने के लिए कहा जाय तो टालने के लिए यह कहावत कही जाती है ।

निमाड़ी- तेळी माए धार-धार, परमेश्वर मारऽ एक बार ।

गुजराती- तेली जोड़े धार-धार, कुद्दा धोळे एक बार ।

अर्थ- तेली द्वारा कंजूसी से बचत किया जाने वाले तेल को ईश्वर एक ही बार ढुलाकर बराबर कर देता है ।

निमाड़ी- दानु दुश्मन काम को नादान दोस्त नी काय को ।

गुजराती- दानु दुश्मन भी सारो नादान दोस्त भी भुंडो ।

अर्थ- दान करने वाला दुश्मन बुद्धु दोस्त से तो अच्छा ही होता है ।

निमाड़ी- दातारी दे न भंडारी पेट कूटऽ ।

गुजराती- दातारी दे न भंडारी पेट कूटे ।

अर्थ- दान करने वाला दान दे रहा है अर्थात् दान करने में दूसरे द्वारा बाधा पहुँचाना ।

निमाड़ी- दियो वाट ने वऊ खाट ।

गुजराती- दिवे वाट ने बीबी खाट ।

अर्थ- दीया-बत्ती लगने से पहले ही स्त्री खटिया सम्हाल लेती है, अर्थात् दिन डूबने से पहले सो जाने वाली स्त्री के लिए यह कहावत कही जाती है ।

निमाड़ी- धणी बिणा धवळयो सूणो ।

गुजराती- धणी बिना ढोर भी सुणा ।

अर्थ- घर मालिक के बिना आँगन या पशु भी सूने हो जाते हैं ।

निमाड़ी- नवी लाड़ी का चिकणा पांव ।

गुजराती- नवी लाड़ी ना रंगेल पग ।

अर्थ- नयी बहू के सभी काम अच्छे होते हैं, अर्थात् नई बहू की पगथलियाँ भी सुन्दर होती हैं।

निमाड़ी- नई अक्कळ होय तो ढांकनी मऽ पाणी लई न डूबी मरऽ।

गुजराती- नई अक्कळ होय तो नकटी म पाणी लई न डूबी मरऽ।

अर्थ- अच्छे समय पर जब बुद्धि काम न दे, तो सिवाय मरने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं अथवा बुरा काम करते वक्त शर्म महसूस करवाना।

निमाड़ी- परण्या नी होयगा तो बरात तोबी गया होयणा।

गुजराती- परण्या नहि तो पाटे तो बैठा होसे।

अर्थ- स्वयं ने कोई कार्य नहीं किया होगा तो उसकी क्रिया-पद्धति तो जानी ही होगी, जैसे कि स्वयं ने शादी न भी की, तो किसी की बारात में जाकर विवाह रीत तो देखी ही होगी।

निमाड़ी- पैसा काई झाड़ पर लगजऽ।

गुजराती- पैसा काई झाड़ पर पाकता नथी।

अर्थ- क्या पैसे झाड़ पर पकते हैं कि जब चाहे उन्हें तोड़ लिए जायें, बल्कि मेहनत से प्राप्त होते हैं।

निमाड़ी- बड़ा घर बेटी देणु असू मिळणों को सांसो।

गुजराती- मोटे घर दीगरी दियो तो मळ्वा ने सांसा।

अर्थ- अमीरों से रिश्तेदारी लाभदायक नहीं होती, जैसे कि बड़े घर अपनी बेटी का विवाह कर देने पर उससे मिलना भी असंभव होता है।

निमाड़ी- बंधी मुट्ठी लाख की नऽ खुली जाय तो खाक की।

गुजराती- बंधी मुट्ठी लाख नी ने उघाड़े तो राख नी।

अर्थ- हाथ की मुट्ठी जब तक बंद है तब तक ठीक, किन्तु खुल जाने पर महत्त्वहीन अर्थात् स्वयं की कमजोरियाँ, अथवा घर की बुराईयाँ छुपी रही तो समाज में प्रतिष्ठा, यदि खुल गयी तो इज्जत मिटने की संभावना रहती है।

निमाड़ी- बाळतो घर कुण भाडऽ ले।

गुजराती- बळतू घर कज्णान करयो।

अर्थ- जले हुए घर को कौन किराए पर लेगा। गुजराती कहावत का भी यही अर्थ है कि जला हुआ घर दान किया अर्थात् बिगड़ी हुई वस्तु की कुछ कीमत नहीं होती।

निमाड़ी- बरसऽ तो वाड मऽ, नई तो खेत मऽ भी नई।

गुजराती- वरस्या तो वाड म, नई तो खेतऽ म भी नई।

अर्थ- पानी गिरे तो पूरे जंगल में भी नहीं तो खेत में भी नहीं गिरेगा, अर्थात् व्यक्ति किसी के लिए काम करे तो खूब नहीं तो उसका कुछ भी काम नहीं करेगा।

निमाड़ी- बुद्धी घोड़ी ने लाल लगाम।

गुजराती- गेडी घोड़ी ने लाल लगाम।

अर्थ- वृद्धावस्था में स्त्री को श्रृंगार शोभा नहीं देता है।

निमाड़ी- बिणा मरे सरग मिळज काई।

गुजराती- बगर मरे काई सरग ने देखाय।

अर्थ- मरे बिना स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् बिना देखे कुछ नहीं समझा जा सकता।

निमाड़ी- वात को बतंगडऽ।

गुजराती- बात ने बतंगड कीदु।

अर्थ- छोटी-सी बात से बड़ा झगड़ा करना, अर्थात् थोड़ी वार्ता को बड़ा-चढ़ा कर प्रसारित करना।

निमाड़ी- बाप जसो बेटो, कुम्हार जसो लोटो।

गुजराती- घड़ो एवो ठीकरी, न माय एवी दीकरी,  
बाप ते वो बेटो, वड़ तेवो टेटो।

अर्थ- वस्तु का निर्माण निर्माण-कर्ता पर निर्भर है जैसे कि पिता के गुण पुत्र में, कुम्हार की कला उसके घड़े हुए बर्तनों में दिखती है। गुजराती कहावत में भी यही अर्थ है कि जैसा घड़ा होगा, वैसा ही उसमें से निकला हुआ टुकड़ा, जैसी माँ होगी उसकी लड़की भी वैसी ही होगी, पिता समान पुत्र तथा बड़ के वृक्ष के समान उसके फल ही लगेंगे, अर्थात् एक के गुण का दूसरे में आना स्वाभाविक ही है।

निमाड़ी- बाप खऽ बाप नी कय न पड़ोसी खऽ काको ।

गुजराती- बाप ने बाप न कैय, पड़ोसी ने काको सूं कैयसे ।

अर्थ- रिश्तेदारी का सही निर्वाह न करना, जैसे कि अपने पिता को पिता न समझकर पड़ोसी को काका बनाना अथवा गुजराती कहावत में जो अपने पिता को पिता न कहकर पुकारे व पड़ोसी को क्या काका कह पायेगा ।

निमाड़ी- बाप खऽनी हुयो तो कुण खऽ होयगा ।

गुजराती- मां बाप में न थयो तो कौणे थासे ।

अर्थ- जो व्यक्ति अपने पिता का नहीं हुआ, वह किसका होगा ।

निमाड़ी- बासी रहे नी, न कुतरा खाय नी ।

गुजराती- बासी वधे न कुतरा खाय ।

अर्थ- रोटी इतनी बनानी चाहिए कि दूसरे दिन तक के लिए न बचे और न कुत्तों को खिलाना पड़े । अर्थात् आवश्यकता अनुरूप ही खाना बनाना उचित होता है ।

निमाड़ी- मही मागणऽ जाणुं, नऽ पीठ पछेड़ी दउणी दपड़ावणुं ।

गुजराती- छॉछा मागणऽ जाऊं, न लोटको लकाड़वु ।

अर्थ- माँग करना, पर उसका खुला प्रदर्शन नहीं करना, जैसे छॉछ मांगने जाना, पर मटकी को पीछे छिपाना ।

निमाड़ी- मनसुवा-मनसुवा मऽ मारवाड़ डूबज ।

गुजराती- मनसुवा-मनसुवा मा मारवाड़ डूबी जायज ।

अर्थ- विचार करने में ही भयानक स्थिति का आ जाना, जैसे कि सोचने-सोचने में ही मारवाड़ के डूबने की नौबल आ गई ।

निमाड़ी- मानो तो देव नई तो दग्गड़ ।

गुजराती- पूजो तो देव नहीं तो पत्थर ।

अर्थ- श्रद्धा से यदि किसी पत्थर की पूजा करें तो वह ईश्वर है, नहीं तो वह सामान्य एक पत्थर का टुकड़ा ही है । अर्थात् मानवीय भावनाओं में भिन्नता ।

निमाड़ी- माय ख तो माय नी केय, न मावसी खऽ माय काई कहेगा ।

गुजराती- मां ने मा नी केय, मासी ने सूं मासी कैयसे ।

अर्थ- जब एक ही की इज्जत नहीं की जाती तो उसके अन्य सम्बन्धियों की क्या इज्जत होगी, जैसे कि जब माँ को ही सम्मान न दे पाए तो मौसी को क्या माँ की इज्जत दे पाएगा ।

निमाड़ी- रीतो घड़ो उछळऽ घणो ।

गुजराती- अधूरो घड़ो झट झलक्या, भरया घड़यो न छलकाव ।

अर्थ- खाली घड़ा या अधूरा भरा हुआ घड़ा उछलता खूब है । अर्थात् अधूरे ज्ञान वाले व्यक्ति अपना ज्ञान खूब दिखाते हैं ।

निमाड़ी- रात राणी न बऊ काणी ।

गुजराती- रात राणी ने वऊ काणी ।

अर्थ- रात तो चन्द्रमा के प्रकाश से रानी की तरह खिली हुई है, परंतु बहू एक आँख वाली मिली ।

निमाड़ी- रिकामों वाण्यों काई करज, अल्यांग की टोपळी ओल्यांग रखऽ ।

गुजराती- नवरो वाण्यों सूं करे, आईनी टोपली उपाड़ी ने वई रखे, ने आई ने उपाड़ी ने आई रखे ।

अर्थ- बेकार व्यक्ति के लिए कुछ काम उसी प्रकार नहीं रहता, जिस प्रकार की बेकार बनिए का काम इधर की टोपनियों उठाकर इधर-उधर रखना ।

निमाड़ी- लठु मारयो पाणी दुइनी हुयो ।

गुजराती- डांगे मारये पाणी जुदा न होय ।

अर्थ- दो व्यक्तियों के प्रेम को उसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता है, जिस प्रकार की पानी पर लठु मारने पर उसके दो भाग नहीं हो जाते ।

निमाड़ी- लगी गई तो रोजी नई तो रोजा ।

गुजराती- होय तो ईद, न होय तो रोजा ।

अर्थ- मजदूरी (काम) मिल गयी तो ठीक, नहीं तो उस रोज का उपवास ।

निमाड़ी- लाड़ी बाई को लटको, न सुपारी को कटको ।

गुजराती- लाड़ी बाई ने लटको, ने सुपारी ने कटको।

अर्थ- नई बहू की एक-एक अदा प्यारी लगती है।

निमाड़ी- सेळा तो उंदरा खाई न,  
मीनू बाई तप पर बढ्याज।

गुजराती- सौ उंदरा मारी ने बिल्ली बाई पार बैढ्या।

अर्थ- अनेक पाप करने के बाद उसका प्रायश्चित्त करना, जैसे कि अनेक चूहे खाने के बाद बिल्ली तपस्या पर बैठती है।

निमाड़ी- सबसे बड़ो दरवाजो, जेमऽसी अक्कळ भी निकळई जाय  
न भैसी भी।

गुजराती- सबसे मोटु दरवाजो, जेमे से अक्कळ भी निकळई जाय,  
ना भैस भी।

अर्थ- सबसे बड़ा अक्कल नाम का दरवाजा है जिसमें से भैस जैसी बड़ी व मोटी चीज भी निकल सकती है, अर्थात् अक्कल से हर काम संभव हो सकता है।

निमाड़ी- सौ दवा न एक परेज।

गुजराती- सौ दवा न एक हवा।

अर्थ- किसी बीमारी के इलाज के लिए सौ दवाओं से अधिक परहेज फायदेमंद है।

निमाड़ी- हथळई की रेख नऽ मिटजऽ काई।

गुजराती- हथेळी ने रेखा मिटावी मिटे नी।

अर्थ- ईश्वर द्वारा बनाये सम्बन्धों को तोड़ा नहीं जा सकता है जैसे कि हथेली पर की रेखाओं को मिटाने पर भी नहीं मिटती।

निमाड़ी- हाजर मऽ उजर नी।

गुजराती- हाजर म हुज्जत नई।

अर्थ- प्रत्यक्ष में कोई झूठ नहीं चलता है जैसे कि हाजिर रहने वाले व्यक्ति से कोई शिकायत नहीं।

निमाड़ी- वन बळऽ तो सब देखऽ

न मन बळऽ तो कुण देखऽ।

अर्थ- मन की दशा को कोई नहीं समझ सकता, जैसे वन का जलना तो सभी देख लेते हैं, किन्तु मन का जलना तो कोई नहीं देख सकता।

निमाड़ी- फाटया ख सिवणूं नऽ राठया ख मनावणूं।

गुजराती- सांधवु ने रूढया ने मनावु तो घर घाले।

अर्थ- बिगड़े व्यक्ति या बच्चे को सुधारना उसी तरह मुश्किल है, जिस तरह फटे को सीना और रूठे का मनाना।

अंततः वर्तमान में निमाड़ी-निमाड़ जनपद की मुख्य बोली है, फिर भी यह भूखंड कई जवानों का घर है। समय-समय पर विभिन्न जातियों के आक्रमण व आधिपत्य से निमाड़ कभी एक भाषा-भाषी नहीं रहा। अनेक बोलियाँ व भाषाएँ प्रयुक्त की जाती हैं। इसके बावजूद भी निमाड़ जनपद की सबसे अधिक जनता निमाड़ी बोली ही बोलती है। कृषि प्रधान होने के कारण निमाड़ी-भाषा का ही सर्वाधिक प्रयोग होता है। उदाहरण के तौर पर मैंने कुछ साम्यमूलक राजस्थानी, मराठी एवं गुजराती कहावतों का विश्लेषण किया। इन तीनों ही भाषा-क्षेत्रों की कहावतों को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि सिर्फ जीवन-शैली, खान-पान, पहनावा, व्रत-त्योहार के साथ-साथ भाषा की ध्वनियों (उच्चारण) में भी कितना एकात्म-भाव है। भाषा-शैली की दृष्टि से तो राजस्थानी, गुजराती, निमाड़ी एक जैसे रूप में ही व्यक्त हुई हैं। मराठी कहावतों में भाषा उच्चारण की भिन्नता तो पायी गयी है, पर भाव एवं अर्थ में साम्यता जरूर मिलती है।

निमाड़ी लोकभाषा में देसी कहावतों (जिनका यहाँ अलग से उल्लेख नहीं किया है) के साथ राजस्थानी, मराठी एवं गुजराती कहावतों का भी अधिकता से आगम हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से निमाड़ी-राजस्थानी वर्ग की बोलियों के निकट है, इसलिए निमाड़ी में राजस्थानी कहावतों का आना सहज है। गुजरात एवं महाराष्ट्र का निमाड़ से सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर भी यह लगता है कि मराठी एवं गुजराती कहावतें समान स्रोत से आयी हैं। कहावतें वे होती हैं, जिसमें जीवन का विस्तृत अनुभव किसी घटना का निर्देश तथा मानव के व्यापक अनुभव का पता चलता है। इसी कारण आसपास की भाषाओं की साम्यता एक-दूसरे की कहावतों पर दिखाई पड़ती है।



## मालवी काया गीत

डॉ. स्वर्णलता ठाणा

गीत, सभ्यता एवं संस्कृति के पोषक होते हैं। मानव सभ्यता के विकास में गीतों का महत्त्व सर्वविदित है। ये गीत लोकजीवन के अविस्मरणीय पलों के साथ जुड़कर लोकगीत बन जाते हैं। लोकजीवन में लोकगीतों का विशेष महत्त्व है। परिभाषा के रूप में कहें तो मानव हृदय का भाव-विलास अपनी उत्कृष्ट स्थिति में लयात्मक आरोहावरोह में जब भाषाबद्ध होकर प्रवाहित होने लगा तो शब्द-शास्त्रियों ने उसे गीत कहा और इसी गीत परम्परा की एक धारा जब अपनी देशज बोलियों में लोकवाणी को प्रवाहित करने लगी तो उसे लोकगीतों के नाम से ज्ञापित किया गया। लोकगीतों का सृजन सामूहिक चेतना द्वारा स्वाभाविक रीति से होता है। वह किसी निश्चित एवं नियंत्रित संगीतात्मक अथवा साहित्यिक प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। वह तो जीवन की सहज क्रियाओं और व्यापारों में लीन जन समुदाय के निश्चल, सरल और स्वाभाविक भाव गीत का माध्यम बनकर कंठ स्वर में तैरने लगते हैं।

सम्पूर्ण संसार में मानव के आविर्भाव से लोकगीतों का उद्गम माना जाता है। यद्यपि लोकगीतों के जन्म की कोई निर्धारित काल रेखा नहीं है, परन्तु मौलिक परम्परा के अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में ये निरन्तर असीम अतीत के गर्भ में छिपे उद्गम स्रोत की ओर इंगित करते हैं। इन लोकगीतों का कैनवास बहुत बड़ा है। इनमें व्यक्तिगत सुख-दुःख, इच्छा-आकांक्षा के चित्रण के साथ-साथ पारिवारिक-सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन की भी झलक देखने को मिलती रहती है। लोकगीतों की अनंत प्रवाहमयी परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में पं. रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—‘जब से पृथ्वी पर मनुष्य है, तब से गीत भी हैं। जब तक मनुष्य रहेंगे, तब तक गीत भी रहेंगे। मनुष्यों की तरह गीतों का भी जीवन-मरण साथ चलता रहता है। कितने ही गीत तो सदा के लिए मुक्त हो गए। कितने ही गीतों ने देशकाल के अनुसार भाषा का चोला बदल डाला, पर अपने असली स्वरूप को कायम रखा। बहुत से गीतों की आयु हजारों वर्ष की होगी। वे थोड़े फेर के साथ समाज में अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।’<sup>1</sup>

इस अस्तित्व को बनाए रखने का कारण है- लोकगीतों ने प्रेरणा के मूल से अपने को कभी अलग नहीं किया। जीवन की अग्रगामी शक्तियों ने लोक-प्रतिभा को सदा ही आगे बढ़ाने का कार्य किया है। ये लोकगीत युग-युग की सीमाओं को पार करते हुए, अनेक बाधाओं को हटाते हुए, विभिन्न उलझनों से सुलझते हुए, सामाजिक शक्तियों की विकास-गाथा को विभिन्न जनपदीय भाषाओं में व्यक्त करते हुए चले जा रहे हैं, अपने ही ताल-स्वरों पर गूँजते, प्रतिध्वनित होते, थिरकते, नाचते और गुदगुदाते। ये गीत किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं होते। ये तो समाज में स्वतः ही उत्पन्न होते हैं और स्वतः ही जन समाज में एक पीढ़ी से दूसरी और तीसरी-चौथी पीढ़ी तक थिरकते-गूँजते चले जाते हैं। ये गीत भाषा के प्रवाह में तैरते चले जाते हैं। मनुष्य के कंठ ही उनके घाट बन जाते हैं। जहाँ वे टकराते, ठहरते और फिर बहते चले जाते हैं।<sup>2</sup>

लोकगीत समय के साथ चलते हैं। समय और स्थान के अनुसार इनमें नाम और शब्द बदलते हैं, गीत वही रहता है, धुन वही रहती है। इस प्रकार परम्परागत अनजाने काल में निर्मित वे धुनें कण्ठ-कण्ठ से यात्रा करती हुई आज तक आ पहुँची हैं। उन गीतों में भजन है, प्रकृति के गीत है, जन्मपूर्व से मृत्यु तक के संस्कार गीत हैं। उन गीतों में स्थान, जाति एवं समुदाय के अनुसार स्वराघात या पारिवारिक विशेषता के कारण हल्के-फुल्के पाठांतर चाहे मिल जाए, लेकिन मूल स्वर सबका एक ही रहता है। लोक-साहित्य श्रुति साहित्य है। वैदिक-साहित्य अपरिवर्तनशील पुरुष गीत है। लोकगीत परिवर्तनशील महिला गीत है। परन्तु अनुष्ठान के बिना दोनों पूर्ण नहीं होते। सब गीत विशेष अवसर, अनुष्ठान या कर्म से सम्बन्धित हैं। ऐसे गीतों की अटूट परम्परा पूरे देश में है।

गीत महिलाओं की प्रेरणा शक्ति हैं, वे गीतों में हँसती हैं, गीतों में रोती हैं, गीतों में ढाँढस पाती हैं, ढाँढस देती हैं। वे गीतों के संसार में रमती रहती हैं। गीत की गति के साथ हंसिया भी चलता रहता है। पनघट से भरी गगरी गीतों से और रसीली हो जाती है। घट्टी की धुन में रुक-रुक कर एकाकी गीत नीरव को निरंतर रागिनी से भरता रहता है। गीत प्रीत के, गीत विरह के, गीत उलाहने के, गीत प्रतीक्षा के, गीत किस-किस के नहीं?'

लोकगीतों पर अपनी परिभाषा में डॉ. श्रीधर मिश्र कहते

हैं- 'अनुभूतियों के ज्वार में मानव का मन भँवर की भाँति चक्कर काटता है, ऐसी स्थिति में हृदय के कोने से कोयल की भाँति प्रेरणा उपजती है। शब्द मुखरित होते हैं, लय लिपट जाती है और गीत कंठ से निःसृत होने लगते हैं।

भारतीय जन अपने उल्लास, उमंग, शोक, विपदा, दर्द, खुशी सारे अनुभावों को लोकगीतों के माध्यम से जीवन में व्यक्त करते हैं। फिर चाहे वह हिन्दू मान्यताओं के अनुसार मनाए जाने वाले संस्कार ही क्यों न हो, सभी समारोह में लोकगीतों की गूँज सुनाई दे ही जाती है। हिन्दुओं में षोडश संस्कार माने जाते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार लगभग सभी जातियों में किसी न किसी रूप में मनाये जाते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कारों में प्रायः गीत गाये जाते हैं। सभी संस्कारों के गीत उन परिस्थितियों को दर्शाते और संबल देते प्रतीत होते हैं। इन्हीं लोकगीतों की श्रृंखला में आते हैं, मृत्यु के समय गाये जाने वाले गीत। मृत्यु संस्कार मानव जीवन का अंतिम संस्कार है, यद्यपि मृत्यु का अवसर शोक और रुदन का होता है, किन्तु फिर भी कहीं-कहीं गीत गाने की प्रथा प्रचलित है। इस अवसर पर गाए जाने वाले गीत शोक, करुणा और विलाप से युक्त होते हैं।

मृत्यु गीतों की प्राचीनता पर विचार करते हुए ऋग्वेद के कुछ सूक्तों को प्रभाव रूप में उपस्थित किया जा सकता है। ऋग्वेद में मृत व्यक्ति के प्रति शोक प्रकट करने के अनेक सूक्त मिलते हैं। मृत व्यक्ति की आत्मा किस मार्ग से स्वर्ग जाएगी, उसकी रक्षा को कौन रक्षक रहेगा, आदि वर्णन ऋग्वेद की ऋचाओं में बड़े रोचक ढंग से किया गया है। मृतात्मा के लिए कहा गया है-

*प्रेहि-प्रेहि पृथिभि पूष्येभिः, यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।*

*उमा राजाना स्वधया मदन्ता, यमं पशेयासि वरुणं देवम्।*

रामायण और महाभारत में विशेष व्यक्तियों की मृत्यु पर विलाप के अनेक प्रसंग आये हैं, ऐसे प्रसंगों को मृत्यु-गीतों की श्रेणी में रखा जा सकता है। कालिदास ने कुमारसंभव में रति का बड़ा मर्मस्पर्शी विलाप कराया है।<sup>१</sup> रघुवंश में भी महाकवि ने इंदुमति की अकाल मृत्यु पर राजा अज का जो शोक व्यक्त किया है, वह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण द्वारा कंस के संहार हो जाने पर उसकी रानियाँ घोर विलाप करती हैं।<sup>१</sup>

उर्दू साहित्य मृत्यु के अवसर पर प्रचलित शोक गीतों को मर्सिया कहते हैं, ये 'मर्सिया' करुणा और शोक से युक्त अत्यंत मार्मिक प्रभाव मन पर डालते हैं। अंग्रेजी में भी किसी व्यक्ति की मृत्यु पर कुछ पेशेवर स्त्रियाँ बुलाई जाती हैं, जो मृत व्यक्ति के गुणों का वर्णन करती हुई विलाप करती हैं। यह विलाप एक विशेष प्रकार की लय में बद्ध होता है।<sup>7</sup>

केवल साहित्य में ही नहीं, बल्कि साहित्य से इतर ग्रामीण क्षेत्र के लोकगीतों में भी मृत्यु के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों की प्रथा अत्यंत प्राचीन है। इन गीतों के लिए कोई विशेष छन्द या राग का निर्धारण नहीं है। भारत के विभिन्न प्रांतों में इन गीतों के विविध रूप व्याप्त हैं। भोजपुरी, अवधी आदि क्षेत्रों में मृत्यु गीत गाने की किसी विशेष प्रथा का प्रचलन नहीं है। मृत्यु के पश्चात् तेरहवें दिन मृत व्यक्ति का श्राद्ध होता है, जिसे तेरहवीं कहा जाता है। इस अवसर पर ब्राह्मणों एवं कुटुम्बियों को भोज दिया जाता है। तेरहवीं के दिन स्त्रियाँ अनेक गीत गाती हैं, जिनमें निर्वेद भाव की प्रधानता होती है। अवधी क्षेत्र में इस अवसर पर देवी के भजन गाये जाते हैं।<sup>8</sup>

मालवा प्रान्त में भी मृत्यु के अवसर पर गीत गाने की प्रथा का प्रचलन है। मृत्यु के अवसर पर गाये जाने वाले इन गीतों को 'मसाणिया' गीत कहा जाता है। निमाड़ में मृत्युगीतों को 'मसाण्या' अथवा कायाखो गीत कहते हैं। किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता सम्बन्धी पारम्परिक गीत गाए जाते हैं। मसाण्या गीतों में आत्मा को दुल्हन की उपमा दी गई है और शरीर को दूल्हा कहा गया है। मसाण्या गीत प्रायः मृत्यु के अवसर पर ही गाये जाते हैं, अन्य समय में गाना प्रतिबंधित होता है। मालवा व निमाड़ की संस्कृति में अनेक साम्य है। यही साम्य इन गीतों में भी मिलता है। अन्य प्रान्तों की तरह मालवा में भी मृत व्यक्ति के घर तेरह दिन का शोक रखा जाता है। इन तेरह दिनों तक स्त्रियाँ प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में मृत व्यक्ति की आत्मा की शांति के लिए एवं मृतक के परिजनों को संसार की नश्वरता बताते हुए भजन गाती हैं, जिनमें निर्वेद भाव की प्रधानता होती है। यह भजन मुख्यतः काया पर आधारित होते हैं, इसलिए मालवी में इन्हें 'काया भजन' भी कहा जाता है।

इन काया भजनों में जीवन के प्रति अनासक्ति एवं मृत्यु के बाद की दुनिया के प्रति चिंता का भाव प्रकट होता दिखता है। जीवन में वह एक क्षण भी आ जाता है, जब शरीर की शक्ति चुक जाती है, सांसारिक आकर्षण सारे टूट जाते हैं और मनुष्य सारे आकर्षणों से विलग होकर दुनिया के बारे में सोचने लगता है। विरक्ति के भावों में गूँथे ये गीत मनुष्य को सोचने पर विवश कर देते हैं कि इस जगत से क्या लेकर जा रहे हैं, और उन्होंने इस दुनिया में रहकर क्या कमाया। धन-दौलत अथवा परोपकार-सत्कर्म। ये गीत महिला गीत है। प्रायः सभी संस्कार गीत महिलाओं द्वारा ही समूह में गाए जाते हैं। ये समवेत गीत बिना वाद्य के ही गाए जाते हैं।

मालवा की स्त्रियाँ जीव को अनेक नामों से उपमित करती हुई दुनिया की नश्वरता के बारे में बताती हुई गाती हैं-

हंसा छोड़ों नगरी, जम से बिगड़ी  
जम से बिगड़ी, हरि से सुधरी  
हंसा छोड़ों नगरी, जम से बिगड़ी  
घड़ी दोई घड़ी दोई ठहरो जमराजा  
बेट्या फिर बिलखी-बिलखी  
हंसा छोड़ों नगरी, जम से बिगड़ी  
जम से बिगड़ी, हरि से सुधरी  
घड़ी दोई घड़ी दोई ठहरो जमराजा  
बेटा बऊ फिर बिलख्या-बिलख्या  
हंसा छोड़ों नगरी, जम से बिगड़ी  
जम से बिगड़ी, हरि से सुधरी

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो प्राणी जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है, इस संसार में कोई भी सदा के लिए नहीं रहता, इस सत्य को मालवा की स्त्रियाँ बड़े रोचक ढंग से उद्घाटित करती हुई अपने भजन में इसे शामिल कर लेती हैं, जिसमें स्वयं को केन्द्र में रखकर कहा गया है कि मुझे कौन-सी दुनिया में रहना है, मुझे तो सब छोड़कर एक दिन चले जाना है, अर्थात् देह के भीतर आश्रय लेने वाला जीव सदा के लिए इस देह को धारण किये नहीं रहता, उसे तो एक-ना-एक दिन इसे छोड़कर चले जाना है। साथ ही मृत्युभोज की कुरीति पर व्यंग्य करते हुए महिलाएँ गाती हैं-

म्हारे कई रेणा रे माया रा लोभी, एक दिन जाणो रे,  
 म्हारे कई रेणो रे  
 उन्ना भोजन कदी ए नी जीम्या, ठंडा से दिन काइया रे  
 मरवा पाछे लाडू बंधाणा, म्हारे कई जीमणो रे  
 एक दिन जाणो रे,  
 म्हारे कई रेणो रे माया रा लोभी, एक दिन जाणो रे,  
 म्हारे कई रेणो रे  
 ठंडी छाया कदी ए नी बैठ्या, तड़का में दिन काइया रे  
 मरवा पाछे तम्बू तणाया, म्हारे कई भैणो रे  
 एक दिन जाणो रे  
 म्हारे कई रेणो रे माया रा लोभी, एक दिन जाणो रे,  
 म्हारे कई रेणो रे  
 नया कपड़ा कदी ए नी पेया, फाट्या में दन काइया रे  
 मरवा पाछे मिसरू पेराया, म्हारे कई पेरनो रे  
 एक दिन जाणो रे  
 म्हारे कई रेणो रे माया रा लोभी, एक दिन जाणो रे,  
 म्हारे कई रेणो रे..... ।

मानव जीवन बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है। मानव को ईश्वर ने असीम क्षमताएँ प्रदान की है कि वह अपनी भक्ति और समर्पण से मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। अपने सांसारिक जीवन में जब उसका अंत समय निकट आता है तो वह मोक्ष की प्राप्ति के लिए भगवान से प्रार्थना करता है कि मेरे अंत समय में आप ही मुझे लेने आए। शुभ दिन हो और जीवात्मा को लेने स्वयं भगवान पधारें, तो मनुष्य को मोक्ष निश्चय ही प्राप्त हो जाएगा। ऐसे ही भाव इस भजन में आते हैं-

तू ही आज रे गोपाल, लेवा म्हने तू ही आज  
 जेठ मत आज, आषाढ़ मत आज,  
 सावण में आज रे गोपाल  
 तू ही आज रे गोपाल, लेवा म्हने तू ही आज  
 नौमी मत आज, दसमी मत आज,  
 ग्यारस को आज रे गोपाल  
 तू ही आज रे गोपाल, लेवा म्हने तू ही आज  
 दिन मत आज, रात मत आज,  
 भोर की वेरा, आज रे गोपाल  
 तू ही आज रे गोपाल, लेवा म्हने तू ही आज

जीवन में अनेक कठिनाईयों को झेलते रहने वाला जीव जब अपनी अंतिम यात्रा पर निकलता है तो वह देखता है कि जीते-जी जो लोग उससे बोलते नहीं थे, वे भी आज दुनिया को दिखाने के लिए रो रहे हैं। इस नश्वर शरीर के खत्म हो जाने पर दुःखी हो रहे हैं, और मृत्युभोज का आयोजन कर रहे हैं। जिस मनुष्य को जीते-जी अच्छा भोजन भी प्राप्त न हुआ हो, उसके मरने के बाद उसकी आत्मा की शांति के लिए भोज दिए जा रहे हैं। देखा जाए तो इस भजन के माध्यम से समाज की एक बड़ी कुरीति की ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की गई है, मृत्युभोज जैसी कुरीति पर व्यंग्य किया गया है-

सांवरिया म्हाने रंज आवे रे एक दिन रो  
 जीवता जीव प्रभु लाइया बरु नी बोल्या  
 झूठी काया पे माथा फोड़्या रे  
 सांवरिया म्हाने रंज आवे रे एक दिन रो  
 जीवता जीव प्रभु ठंडा वासी जीम्या  
 झूठा काया रा लाडू बाट्या रे  
 सांवरिया म्हाने रंज आवे रे एक दिन रो  
 जीवता जीव प्रभु फाटा टूटा पेया  
 झूठी काया रा मिसरू राया रे  
 सांवरिया म्हाने रंज आवे रे एक दिन रो

काया में बसने वाले जीव को कहीं हंस तो कहीं भंवरे की उपमा देते हुए महिलाएँ गाती हैं कि मानव जीवन बार-बार नहीं मिलता, इसलिए जितना हो सके इस जीवन के माध्यम से उपकार करते रहना चाहिए। विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से मानव को समझाने की चेष्टा की गई है-

भंवरा मिल कर मौज उड़ा ले, जिंदगी मिले ना बारम्बार  
 भंवरा मिले ना दूजी बार, जिंदगी मिले ना बारम्बार  
 भंवरा मिल कर मौज उड़ा ले, जिंदगी मिले ना बारम्बार  
 प्रीत करो तो ऐसी कर जो, जैसे रूई कपासा  
 जीवता जीवे तो तन को ढंकता, मर्या पे कफन औढ़ाए  
 भंवरा मिल कर मौज उड़ा ले, जिंदगी मिले ना बारम्बार  
 प्रीत करो तो ऐसी कर जो, जैसे लोटा डोर  
 अपना कंठ तो बांध लिया रे, तुझको दिया पिलाय  
 भंवरा मिल कर मौज उड़ा ले, जिंदगी मिले ना बारम्बार

प्रीत करो तो ऐसी कर जो, जैसे दीया, जोत  
अपने तन को जला दिया रे, तुझको दिया उजास  
भंवरा मिल कर मौज उड़ा ले, जिंदगी मिले ना बारम्बार

मानव जीवन मिलना हीरे के समान अमूल्य बताते हुए महिलाएँ गाती हैं कि इस हीरे रूपी मनुष्य जीवन को सांसारिकता की मिट्टी में मिला कर यूँ ही बरबाद नहीं करना चाहिए। यह जीवन बहुत छोटा और पानी के बुलबुले के समान क्षणिक है जो कभी भी खत्म हो सकता है। इसकी सार्थकता इसी में है कि तुम सबके साथ अच्छा व्यवहार करो और अपनी जिंदगी को सार्थक बनाओ-

तेरा मनुष्य जनम अनमोल रे, तू माटी में मत रोल रे  
अब तो मिला है, फिर ना मिलेगा  
कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं  
तू बुलबुला है पानी का, मत कर तू गर्व जवानी का,  
एक कमाई कर ले रे भाई, पता नहीं जिंदगानी का  
तू मीठा सब से बोल रे, तू माटी में मत रोल रे  
अब तो मिला है फिर ना मिलेगा  
कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं  
तेरा मनुष्य जनम.....

तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में लिखा है 'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा' अर्थात् मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसी के अनुसार उसका जीवन निर्धारित होता है। मालवी के इस भजन में यही बात कही गई है कि कर्म के अनुसार मनुष्य की अलग-अलग गति होती है। अपने कर्म के माध्यम से मनुष्य अपना भाग्य स्वयं बनाता है। इसलिए उसे अपने कर्मों के अनुसार ही जन्म प्राप्त होता है-

ओ संता मत दीजो माता बाई ने दोस,  
करमा री गति न्यारी-न्यारी  
ओ संता मत दीजो जामण जाई ने दोस,  
करमा री गति न्यारी-न्यारी.....  
ओ संता एक माटी रा करवा चार  
चारा री गति न्यारी-न्यारी  
ओ संता पेलो है दूध केरा ठाम  
दूजो है दही के री जामणी

ओ संता तीजो है पाणी रोपा ने  
चैथो जंगल रूठियो  
ओ संता मत दीजो माता.....  
ओ संता एक बेला रा तुम्बा चार  
चारा री गति न्यारी-न्यारी  
ओ संता पेलो है तन्दुरा री तान  
देजा में जल बरस्या  
ओ संता तीजो है सतगुरू रे हाथ  
चैथो तो बोले लागियो  
ओ संता मत दीजो माता.....

लोक में निर्गुणी और सगुणी संत कवियों की छाप लगाकर पदों की रचना और गाने की सुदीर्घ और समृद्ध परम्परा रही है। इसमें कबीर, मीरा, रैदास, सूर आदि कवियों की छाप वाले भजन लोक में सबसे अधिक प्रचलित हैं। अनेक अनाम लोक कवियों ने परम्परा से चली आ रही चिन्ताधारा अथवा पंथ सर्वोपरि माना और अपनी रचनाओं में आंचलिक विशेषताओं घटनाओं लोक प्रतीकों को कल्पनाशील तरीके से समाहित कर कुछ इस तरह से प्रस्तुत किया कि वे कबीर, सूर, मीरा आदि की ही रचना लगे। निर्गुण धारा के प्रवर्तक कवि शिरोमणि संत कबीर की विचारधारा का बाद के अनेक कवियों पर इतना जबरदस्त प्रभाव पड़ा कि वे अपना नाम छोड़कर कबीर की छाप वाले पद गाने लगे। इसके कारण कबीर की विचारधारा समस्त अंचल में फैल गई और आंचलिक बोलियों में भी कबीर की निर्गुण विचारधारा का समावेश हो गया, इसके कारण निरगुनिया गायन की आंचलिक शैलियों का विकास हुआ। अलग-अलग ढंग से लोग कबीर के लोकपद गाने लगे। मालवा में निर्गुण लोक पद गायन परंपरा बहुत पुरानी है। निरगुनिया भजनों में कबीर के अध्यात्म की छाप होती है, जिसमें नश्वर शरीर, अमर आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी तत्त्वों की सरल ग्रामीणों प्रतीकों में विवेचना होती है।

कबीर के गीतों में सांसारिक मोह-माया से दूर रहकर उस निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना के उपदेश मिलते हैं। उनकी इन्हीं विशेषताओं को मालवा प्रांत की स्त्रियाँ अपने भजनों में शामिल करती जा रही हैं। वर्तमान में गाए जाने वाले भजनों में सबसे ज्यादा कबीर की छाप वाले भजन ही होते हैं। इन भजनों में मन को सांसारिक बंधनों से मुक्त कर ईश्वर के ध्यान में लगा देने की बात प्रमुखता से कही गई है-



मत पड़ रे उलझन में, मन तू मत पड़ उलझन में  
 कंचन जैसी काया पाई, हो जा मगन भजन में  
 मत पड़ रे उलझन में.....  
 झूठा नाता, झूठा रिश्ता, झूठा कुटुम्ब कबीला  
 मन तू मत पड़ रे उलझन में....  
 बाहर काँटा, भीतर काँटा, काँटा सारा बदन में  
 मत पड़ रे उलझन में.....

मानव जीवन पाने के बाद भी यदि जीव राम नाम का सुमिरण नहीं करता, तो इस दुनिया में उसका जन्म लेना व्यर्थ है। उसका जीवन उसी प्रकार व्यर्थ हो जाता है, जिस प्रकार केसर को मिट्टी में डाल देने पर वह व्यर्थ हो जाती है। कुछ इन्हीं भावों को इस भजन में व्यक्त किया गया है-

राम सुमर ले, सुमिरन कर ले, मनख जमारो नई आवा ने  
 केसर मिल गई गारा में  
 भँसा पदमणि ने गेणो पेरायो, वा काई जाणे अणी गेणा ने  
 केसर मिल गई गारा में  
 पेरणो नी जाणे वा तो, ओढ़नी नी जाणे  
 जाइ ने कूदी उन्डा खाड़ा में,  
 केसर मिल गई गारा में  
 राम सुमर ले, सुमिरन कर ले.....  
 आंधा ने लाई ने हीरो बतायो, उ काई जाणे अणी हीरा ने  
 केसर मिल गई गारा में  
 ओरख्यो नी जाणे उ तो परख्यो नी जाणे  
 जाई ने फेक्यो वणे कचरा में  
 केसर मिल गारा में  
 राम सुमर ले, सुमिरण कर ले.....

राम के नाम की महिमा हर कोई जानता है। इस सृष्टि में एक राम का नाम ही है जो मानव को सारे दोषों से मुक्त कर मुक्ति के पथ पर ले जाता है। इसलिए हे प्राणी! तू राम का नाम भज और संसार सागर से पार हो जा-

राम भजो, राम भजो, भज ले रे प्राणी  
 हरि भजन से तीर जाएगा,  
 अच्छी-अच्छी मटकी घड़ ले कुम्हारा  
 एक दिन मटकी तेरी फूट जाएगी

राम भजो.....  
 अच्छी-अच्छी वाणी बोल ले रे प्राणी  
 एक दिन हंसा तेरा गूंगा जाएगा  
 राम भजो.....  
 अच्छी-अच्छी भागवत सुण ले रे प्राणी  
 एक दिन हंसा तेरा बहरा जाएगा  
 राम भजो.....  
 अच्छी-अच्छी लकड़ी घड़ ले सुतारा  
 एक दिन लकड़ी तेरी जल जाएगी  
 राम भजो.....

संत कबीर की छाप वाला एक भजन जो निरगुनिया भजनों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है, मालवा में कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ महिलाओं द्वारा गाया जाता है। निरगुनिया गायक इस भजन को झांझ, मंजीरे और इकतारे के साथ गाते हैं। यह भजन राजस्थान और निमाड़ अंचल में भी बहुत लोकप्रिय है। इस भजन में मनुष्य को मुसाफिर की संज्ञा देते हुए उसे माया-मोह की नींद से जगाने के प्रयास का वर्णन है-

घणा दिन सो लिया रे, अब तो जाग मुसाफिर, जाग.....  
 पेलो सुतो मात गरभ में, उन्दा पैर पसार  
 हाथ जोड़ ने बाहर आयो, हो रहे मंगलाचार  
 जनम तेरा हो लिया रे, अब तो जाग मुसाफिर जाग.....  
 दूजो सुतो मात गोद में, हँस-हँस दंत दिखाए  
 बेन-बुआ थारा लाड़ लड़ावे, झूलो दियो बंधाए  
 लाड़ तेरा हो लिया रे, अब तो जाग मुसाफिर जाग.....  
 तीजो सूतो त्रिया सेज पे, मन में घणो उछाए  
 त्रिया ने एक जाल रच्यो है, हरि ने दियो बिसराये  
 ब्याह तेरा हो लिया रे, अब लो जाग मुसाफिर जाग.....  
 चैथो सुतो समसाणा में, लम्बा पैर पसार  
 कहत कबीर सुणो रे भाई साधौ, दीनी आग लगाए  
 दाग तेरा हो लिया रे, अब तो जाग मुसाफिर जाग.....

परम्परा ने मालवा की मानसिक धारा का अनवरत वहन किया। लोकगीत लोक में बनते हैं। लोक के कंठ से फूटते हैं और लोक उनका वहन करता है। एक गाँव से दूसरे गाँव और पूरे क्षेत्र में फैल जाता है। फिर माता से बेटी तक तथा सास से बहू,



पड़ोसन इन गीतों का वहन करती रहती हैं। इस प्रकार यह गीत पीढ़ियों को पार करते जाते हैं। मालवी लोकगीत बहुधा नारी गीत हैं। राजशेखर ने इन गीतों के विषय में नितान्त अनुभूत और व्यावहारिक बात कही है—लोकगीत बहुधा स्वाभाविक, अनलंकृत, और सीधी-सीधी भाषा में सर्वग्राह्य होते हैं।

लोकजीवन में व्याप्त लोकगीतों का संसार सत्य का संसार है। लोकगायक के अन्तरभावों का वास्तविक चित्रण रहता है। जटिलता, दुरुहता और गोपनीयता का लोकगीतों में नितान्त अभाव रहता है। हृदय में उत्पन्न होने वाले राग-विराग के सीधे-सच्चे भावों का सीधा और निश्चल प्रकटीकरण लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता है। कृत्रिम साज-सज्जा से परे स्वाभाविक उक्तियों का सौन्दर्य वहाँ लक्षित होता है। लोकगीत की उस विशाल और व्यापक सौन्दर्य राशि के समक्ष संसार की सम्पूर्ण कृत्रिमता तुच्छ है।<sup>९</sup>

अंततः कहा जा सकता है कि हृदय की सहज स्वाभाविक भावानुभूतियों के रत्नों से लोकगीतों की लड़ियाँ सजाई जाती हैं। एक-एक भाव रत्न से सामान्य जनजीवन के अकृत्रिम, सरल, निश्चल सौन्दर्य कि अद्भुत कांति की अपूर्व झलक दिखाई देती है। मानव के जन्मकाल से लोकगीतों की अक्षुण्ण धाराओं का जो वेगपूर्ण प्रवाह उमड़ा है, वह परस्पर संगठित होकर विशाल भवसागर की सृष्टि कर रहा है। उस सागर की लहराती-उछलती तरंगों में युगायुग के मानव मन की कामनाएँ, भावनाएँ और अनुभूतियाँ आन्दोलित होती हैं। इसके कोलाहल में समस्त स्त्री-पुरुषों के मार्मिक भावों के अनुरंजन, प्रेममय पुलकन, भय मिश्रित प्रकापन, उल्लासयुक्त मिलन और विषाद ग्रस्त बिछुड़न की व्याप्ति है।<sup>१०</sup> जो काल गणना के आदि से अंत तक लोकजीवन के सार को उद्भासित करती रहेगी और लोकजीवन इन गीतों के माध्यम से हँसता, रोता, गुनगुनाता और इन गीतों में समाविष्ट सत्य से रू-ब-रू होता रहेगा।

## संदर्भ-

1. रामनरेश त्रिपाठी-कविता कौमुदी (परिवर्धित संस्करण) तीसरा भाग (ग्राम गीत) पृष्ठ-78
2. डॉ. कुलदीप-लोकगीतों का विकासात्मक अध्ययन, प्रगति प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण।
3. मालवी भाषा और साहित्य-म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, संपादक-डॉ. हरिमोहन बुधेलिया, पृष्ठ-10
4. डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, मालवी संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ-407
5. मद्नेन विना कृता रतिः क्षणमात्रं कितस जीवतीति मे।  
अर्चनीयमिदं व्यवस्थितं रमणा, त्वामनुयामि यद्यपि॥ कालिदास, कुमारसंभव
6. हा नाथ प्रिय धर्मज करुणानाथ वत्सल।  
त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रथाः॥  
त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषषम।  
न षोभते व्यभिव निवृत्तोत्सव मंगवा॥  
-श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, अध्याय 44, श्लोक 44-45
7. A martirengo, the study of folksongs. page-27
8. विद्या चैहान-लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, कानपुर।
9. पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ-138
10. श्याम परमार: भारतीय लोकसाहित्य, पृष्ठ-53
11. काया भजन संकलन-1 अयोध्या ठन्ना, रतलाम 2. द्वावारका गलगामा, खेड़ावदा, उज्जैन 3. निर्मला धाकड़, डोसीगांव, रतलाम 4. आनंदी धाकड़, साजोद, धार, आदि।

## भाव व्यंजना के गीत

डुमन लाल ध्रुव

लिपे पोते अंगना अऊ पांव दिये ठहराय हो।  
कन्हई गए हे कवर्धा घर रोवय यशोदा माय हो॥  
वृन्दावन छोड़व नहीं यही हमारो टेक।  
भूतल भार उतार के धरिहौं रूप अनेक॥

जब हम छत्तीसगढ़ में लोकगीत, लोकनृत्य, लोकगाथा और लोककला संस्कृति की बात करते हैं, तब हमारा ध्यान स्वभावतः लोकनृत्य की ओर जाता है, क्योंकि अनेक लोकगीत-लोकनृत्य के साथ में गाए जाते हैं। ग्रामगीत संभवतः वह जातीय आशु कवित्व है, जो कर्म या क्रीड़ा के ताल में रचा गया है। गीत नृत्य का उपयोग जीवन के महत्वपूर्ण समाधान के अतिरिक्त मनोरंजन भी है। छत्तीसगढ़ में राउत नृत्यों के गीत चंचल एवं उद्दाम होते हैं। राउतों में यह नृत्य मंडलाकार या पंक्तिबद्ध होते हैं। राउत नृत्य में लय व ताल पर अधिक बल दिया जाता है। साथ में वाद्य भी रहते हैं। वाद्यों में लोक-वाद्यों का ही प्रयोग होता है। हमारा परिवेश, हमारी बुद्धि और उद्देश्य हमारे व्यक्तित्व एवं चरित्र के निर्माण में सहायक होते हैं, किन्तु हमारा व्यक्तित्व किन्हीं संस्कारगत परंपराओं, वंशानुक्रम की रीतियों और जातीय संभावनाओं से एकदम अलग रहकर विकसित नहीं होता, उसी प्रकार लोक नृत्यों में लोक समूह की प्रगति हो सकती है, किन्तु वह देश-काल, परंपरा-जातीय चेतना अथवा संस्कार इन सब बातों से एकदम अलग नहीं रह सकता।

किसी भी लोक-संस्कृति के मूल में लोक या व्यक्ति समूह का सत्य मूलभूत है, इसीलिए व्यक्ति के विकास के नियम जातीय विकास लोक संस्कृति की प्रगति के लिए उत्तरदायी है। और जिस तरह व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास एक तरह के विरोधाभास में

पलता है, उसी तरह लोक संस्कृति भी पनपती है। यदि एक ओर व्यक्ति की स्वतंत्र बुद्धि, उसका उद्देश्य और चेतन प्रयास है तो दूसरी ओर परंपरागत संस्कार और आदिम मूल प्रवृत्तियाँ भी उसमें हैं। एक ओर जहाँ विशिष्टता कारण है अथवा नयी दिशा को खोजने वाला है, वहीं दूसरा एक सामान्य धरातल निश्चित करता है जिस पर इस तरह की विशिष्टता खिल सके। यही अंतर व्यक्ति समूह और लोक संस्कृति के सम्बन्ध में भी किया जा सकता। हमारा छत्तीसगढ़ का साहित्य लोक संस्कृति की उज्वलतम भावनाओं को अपनी अपरिष्कृत भाषा में संजोकर रखता है। हमारा लोक साहित्य पाश्चात्य देशों का फोक नहीं है। अपितु देश की समूची संस्कृति की सीमा निर्धारित करते हुए सत्येन्द्र लिखते हैं—लोक साहित्य के अंतर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें— आदिम मानव के अवशेष उपलब्ध हों। परंपरागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो, जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो। किन्तु वह कृतित्व लोक मानस के सामान्य तत्त्वों से युक्त हो उसके किसी व्यक्तित्व के साथ संबद्ध रखते हुए भी लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।

किसी भी राष्ट्र की जातीय, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक विशेषताएँ वहाँ के लोक-साहित्य में निहित रहती हैं। ये भी कहा जाता है कि शिक्षा से लोक-साहित्य का बैर होता है, क्योंकि जब कोई जाति पढ़ना सीख लेती है, तो सबसे पहले वह अपनी परंपरागत गाथाओं का तिरस्कार करना सीखती है। किन्तु दूसरी ओर लोक साहित्य और लोक-नृत्यों का सच्चा मूल्यांकन करना है तो उसका अध्ययन वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय भी तो अनिवार्य है। और मानी हुई बात है कि इस प्रकार का अध्ययन शिक्षितजन ही कर सकेंगे। डॉ. नामवर सिंह जी जनसाहित्य और लोक साहित्य का भेद बताते हुए लिखते हैं कि— जन साहित्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करने वाले सामान्य जन साहित्य है। इसलिए जन साहित्य लोक-साहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है। लोक साहित्य जहाँ जनता के लिए जनता ही द्वारा रचित साहित्य है। लोक-साहित्य रचियता के निजी व्यक्तित्व का विलयन हो जाता है। वह लोक मानस तादात्म्य रखते हुए भी

व्यक्तित्वहीन रचना करता है—ऐसी रचना लोक दावे के साथ अपनी चीज कह सके। वह स्वयंभू होती है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल लोक के विस्तार और महत्त्व की चर्चा करते हुए कहते हैं— लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत-भविष्य-वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक कृत ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव यही हमारे नए जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इस प्रकार लोक में सब कुछ समाहित है, और वह 'ग्राम' और 'जन' दोनों ही शब्दों की अपेक्षा अधिक सारगर्भित और सार्थक है। 'लोके वेदे च' से लेकर 'लोक के वेद बड़े' तक शुद्ध फोक की भावना मिलती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन अत्यन्त युक्तिसंगत है कि 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।

मानव की विराट भाव व्यंजना इन गीतों की हर कड़ी में सजीव है। अनेक क्षुद्रताओं के बीच, अनेक अभावों में पले लोक जीवन का यह रचनात्मक सौन्दर्य मानों कीचड़ में उत्पन्न कमल का सौन्दर्य है, जो सहस्रों वर्षों से इन गीतों में रंग भरता चला आया है। डॉ. शंकरलाल यादव के शब्दों में लोक-साहित्य 'अपने असंस्कृत रूप आकर्षक, अपनी कच्ची अवस्था में ही मधुर और अपनी हीन स्थिति में है। उच्च तथा महान है।'

*वृन्दावन के कृष्ण कन्हईया*

*फिर फिर देही आशिष।*

*धन-जन से घर भरय*

*जुग जियो लाख बारिश।*

यदुर्वशियों का यह दोहा सहजात है। इसीलिए इनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता का स्थान नहीं। जीवन के अनुभवों से ये प्रसूत हैं। अतः इनमें अनुभव की सच्चाई और सादगी देखी जा सकती है। और जिस हृदय में ये गीत जन्म लेते हैं, उस हृदय को कीर्ति या यश की चाह नहीं होती। गीत-रचना में उसका कोई उद्देश्य नहीं रहता, इष्ट कोई विशिष्ट नहीं, वह तो स्वांतः सुखाय गाता इसीलिए वह उस गीत में कहीं अपना नाम नहीं लाता। वह

अज्ञात रहता है और रहना चाहता है। 'जिस तरह वेद अपौरुषेय माने जाते हैं, उसी प्रकार ग्राम गीत भी अपौरुषेय हैं।' पर जो कुछ वह गाता है, वह उसकी अनुभूति ही मानव मन की अनुभूति है, यही कारण है कि वह एक की रचना होकर भी सबकी होती है, और काल विशेष में रचित होकर भी सर्वकालिक होती है। वह व्यक्ति-गीत न होकर लोकगीत है जनता की शाश्वत सम्पत्ति। किन्तु हम उस एक को भुला नहीं सकते, क्योंकि वह व्यक्ति चिरन्तन व्यक्ति हो। उसने अपने व्यक्तित्व को समष्टि से विलीन कर दिया है। लोक-गाथा एक सामाजिक संस्था है, जिसकी अंतरात्मा में व्यक्ति बैठा हुआ है। उस व्यक्ति की अवहेलना हम कदापि नहीं कर सकते। बदलते हुए युग और बदलती हुई परिस्थितियाँ उन परम्पराओं में, जो उन गीतों में हैं, संशोधन या परिवर्तन कर सकती हैं और उसकी आत्मा का सौन्दर्य कभी मलिन नहीं पड़ता। वह अक्षुण्ण है, चिर प्रकाशमान है।

भारतीय लोकगीतों का मूल ऋग्वेद में देखा जा सकता है। वैदिक-साहित्य में जिन गाथाओं का उल्लेख स्थान-स्थान पर पाया जाता है। उन्हें ही लोकगीत की पूर्वपीठिका मानना चाहिये। प्राचीन लोकगीत इन गीतों के निर्माण व विकास में सहायक होते हैं। भारतीय लोकगीतों के क्रमिक विकास में देखा जा सकता है कि उनके तत्त्व मूलतः भिन्न-भिन्न जातियों के हैं। नाग पूजा की प्रधानता, सिंदूर धारण करना संभवतः जातियों के अवशेष है। शिव के विभिन्न रूप आर्य द्रविड़ जातियों के संघर्ष में विद्यमान हैं।

इन लोकगीतों में वर्ण्य विषय के संदर्भ में स्वाभाविक रूप से आदिम विश्वास, टोने-टोटके इत्यादि का उल्लेख मिलता है तो कहीं जातीय विशेषतायें और मानव मन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन का चित्रण होता है तो कहीं संस्कृति और संस्कार सामने आते हैं। कभी अतिशयोक्ति होती है, कल्पना से खूब समृद्धि वैभव का वर्णन होता है जैसे मोती की चौक, केसर से आँगन लीपना इत्यादि! रामायण में एक स्थल पर वर्णन है-

हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल।  
रचना देखि विचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल ॥

यह लोकमानस का ही परिचायक है लोकगीत की तरह माता कौशल्या या यशोदा होती है, हर बहू रूक्मण, सीता और हर बालक राम-लक्ष्मण। लोकगीतों के एक-एक सौन्दर्य पर, श्रृंगार और सतीत्व पर रीतिकाल की मुग्धायें और नूतन शिक्षितायें न्योछावर की जा सकती हैं। भावों की लयात्मक अभिव्यक्ति के साथ ही इन गीतों में कई बार निरर्थक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। पुनरावृत्तियों से गीत सहज ही याद रहते हैं।

प्रश्नोत्तर प्रणाली से उनका अर्थ स्पष्ट होता है, और उसमें जिज्ञासा व रुचि जागृत होती है। टेक से उसका संगीतात्मक सौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है। गीत की एक पंक्ति लेकर अपने मन से अनेक वस्तुएँ कालान्तर में नारियाँ जोड़ती जाती हैं और गीत बढ़ता जाता है। इन गीतों में मनोरंजन तत्त्व भी होता है। ये प्रचार हेतु रचे नहीं जाते, अतः इनमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति छू भी नहीं गई। यह बात दूसरी है कि उनका प्रचार स्वयमेव हो जाता है। इन गानों में सामूहिक प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है।

इन लोकगीतों में परिष्कृत मेघा की ऊहापोह में यदि खोजने चलें तो सम्भवतः हमें निराशा होगी किन्तु हृदय की कोमल से कोमल और सूक्ष्मतम भावनाओं को प्रश्रय यहाँ अवश्य मिलता है। यही कारण है कि किसानों ने अपनी थकान इसमें मिटायी है, प्रेमियों ने अपने बिरवे को यहाँ सींचा है। नारियों ने वियोग के दिन इनके सहारे काट लिये हैं और जाता चलाते-चलाते, आटा पीसते हुए गृह क्लेशों को भी पीस डाला है।

बच्चों ने जीवन का पहला पाठ यहीं सीखा है। उमंग और उल्लास के क्षणों में भी ये गीत नर-नारियों के, सखी-सहेलियों के प्रणय साहचर्य, ममता-दुलार के साक्षी रहे हैं। इन गीतों का कवित्व नारी के ललित कण्ठ का संयोग पाकर सौन्दर्य, माधुर्य और उन्माद से भर उठता है।

## छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य में गीत

डॉ. राजन यादव

जब मनुष्य ने बोलना भी नहीं सीखा था, तब भी वह अपने हाव-भाव को कार्य, अनुकरण और अदाओं द्वारा प्रकट करता था। ये तीनों कार्य ही नाट्य-कला के बुनियादी तत्त्व हैं। नाट्य सामान्य जीवन की शाश्वत प्रवृत्ति को स्पर्श करने वाला एक सार्वभौम संवेदनशील साधन है। लोकनाट्य के प्रमुख दो अंग माने गए हैं- पहला बहिरंग और दूसरा अंतरंग। बहिरंग में कथा का उद्दाम आवेग, अंचल विशेष की बोली, अंचल विशेष के प्रतीकात्मक पात्र और सहज श्रृंगार निरूपण का समावेश होता है। संगीत युक्त गीत, नृत्य और अभिनय लोकनाट्य के अंतरंग पक्ष हैं।<sup>1</sup> लोकनाट्य आरंभ से ही गीत, संगीत और नृत्य के साथ जुड़ा रहा है। 'भारत में पुराने समय से ही काव्य और नाटक का समान अर्थ ही माना गया है। प्राचीन ग्रीक के कवि तथा भारत में कालिदास और भवभूति ने नाटकीय अभिव्यक्ति के लिए कविता का चयन किया। उन्होंने इसलिए पद्य का सहारा लिया, क्योंकि जीवन के गंभीर और सारपूर्ण विषय पद्य में अधिक सुचारु रूप से अभिव्यक्ति पाते हैं।'<sup>2</sup> पारंपरिक गीत का अनिवार्य तत्त्व संगीत रहा है, जिस पर अधिक बल देने से शब्द की सत्ता कमजोर होती है और कई बार लगता है कि अगर सांगीतिकता उनमें से निकाल दी जाए तो वे खोखले हो जाएँगे। किन्तु लोकनाट्य में ऐसा नहीं होता। गीत और संगीत के बीच यदि गैप आता है तो लोक अभिनेता अपने अभिनय कौशल से उस रिक्तता को पूरा कर देता है।

लोकसाहित्य में छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य का महत्वपूर्ण स्थान है। नाचा, डिड़वा नाच, रामलीला, रासलीला या रहस आदि छत्तीसगढ़ के प्रमुख लोकनाट्य हैं। वर्तमान की मजबूत पकड़ के लिए अतीत से सामंजस्य, मनुष्य को जिस अनुष्ठान से जोड़ती हैं, उसे सांस्कृतिक जीवन दृष्टि के विकास की नींव स्वीकार किया गया है। जीवन के किसी भी मार्मिक प्रसंग, जिसमें परिवार के बनते-

बिगड़ते स्वरूप, दहेज-प्रथा, अस्पृश्यता, अंधविश्वास, सती-प्रथा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह और विधवा पुनर्वास के सम्बन्ध में संदेशपरक दृष्टि के सहज रूप में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी स्तर पर लोक मानस जिस बात को स्वीकार नहीं कर पाता, उसका माखौल वह नाचा द्वारा करता है। गाँव के गौंटिया के अत्याचार से लेकर अंग्रेजों के आतंक तक, विवाह से लेकर ऋतुओं के परिवर्तन तक नाचा के न जाने कितने वर्ण्य विषय होते हैं जो गीतों से प्रभावी हो जाते हैं। अभाव में भी प्रसन्न रहने सम्बन्धी प्रहसन में नचौड़ी गीत कथानक को गति ही नहीं देते, बल्कि उसे और अधिक संवेद्य बनाते हैं। जैसे-

खर खेसवा मगन होगे, बासी रोटी खाके।  
सब खाथें दार-भात, घीव ल चुहा के।  
हमू खाथन दनाका रोटी, करम ल ठठा के॥  
सब सुतथें सेज सुपेती, तकिया लगाके।  
हमू सुतथन खोइरा खटिया, टेकना चबाके॥  
सब पहिरथे आनी बानी, फैसन लगाके।  
हमू पहिरथन रिंगी-चिंगी, चिथरा ओरमा के॥

इन लोकनाट्यों में प्रयुक्त गीतों में संवाद वहन की अद्भुत शक्ति होती है। धुनें लय प्रधान होती हैं। गीत का प्रथम चरण समाप्त होते ही अभिनेताओं के पाँव थिरकने लगते हैं और वे अपनी पदचापों से अनंत बोलों की सृष्टि करते हैं। लोकनाट्यों में प्रयुक्त गीत रंगमंच के अनुरूप होते हैं। महीन गायन न होने के बावजूद दर्शकों को रस सिक्त कर देने की इनमें अद्भुत शक्ति होती है। ये गीत स्वर-ताल के मोहताज नहीं होते। गीत लोकनाट्य के प्राण हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने 'प्राणभूतं तावद ध्रुवगानं प्रयोगस्य' कहकर इसकी अनिवार्यता घोषित की है। गीत ही लोकनाट्य के संवादी स्वर होते हैं, जो लोक-धर्म, विश्वास और उल्लास को वहन करने में समर्थ होते हैं। 'ये गीत रंगमंच पर ही रुचते हैं और उनको यदि नाटक से असंबद्ध करके गाया जाय तो वे बहुत ही फीके लगते हैं। इन गीतों में भी विविध रसों के अनुसार बंदिशें होती हैं। क्रोध युक्त एवं आवेश पूर्ण संवादों में इन गीतों की स्वर रचनाएँ गेय प्रणाली छोड़कर तालबद्ध गद्य प्रणाली में उतर जाती है, जिनमें ताल-स्वर अवश्य होते हैं। परन्तु गाते समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे केवल शब्दोच्चार हो रहा है। इसी प्रकार करुणापूर्ण प्रसंगों के गीतों की बंदिशें धीमी और वक्र चलने वाली झूमर,

तेवरा, दीपचन्दी जैसी तालों में ही बँधी रहती हैं। विलाप के गीतों में कोमल स्वरों की प्रधानता रहती है और बहुधा पीलू, सोहनी तथा कालिंगड़ा रागों की छाया से वे आवृत रहते हैं। वे विशुद्ध लोक शैली में ही गाये जाते हैं, परन्तु उनकी बंदिशों का प्रभाव जनता को रुला-रुला कर छोड़ देता है।<sup>13</sup>

लोकनाट्य में प्रयुक्त गीतों की रचना में संवाद वहन की अद्भुत शक्ति होती है। इन गीतों में स्वर-गुंफन कम तथा संवाद वहन की शक्ति अधिक होती है। छत्तीसगढ़ी लोकनाटकों में गीत सवाल-जवाब के रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे-

मुसर बाहना टेकी बाजे धान बिना ठकले।  
तैं हा काबर नई लिपे गोसानिन बछरु गोबर दिही तब तो  
तैं हा काबर नई हागे रे बछरु मैं हा दुदे ला पिहुँ तब तो  
तैं हा काबर नइ पियावस ओ गायं मैं हा कांदी ला खाहुँ तब तो  
तैं हा काबर नइ जागेस रे काँसी अरे पानी हा गिरही तब तो  
तैं हा काबर नइ गिरस रे पानी अरे मेचका नरियाही तब तो  
तैं हा काबर नइ नरियावस रे मेचका मोला साँपे हा धरही तब तो  
तैं हा काबर नइ धरस रे साँपे मोर बिला मा आही तब तो  
तैं हा काबर नइ जावस रे मेचका मोर काले हा आही तब तो  
अरे काले हा आही तब तो,  
मुसर बाहना टेकी बाजे धान बिना ठकले॥

लोक जीवन में जो नाट्य बिखरे हुए हैं, उनके मुख्य माध्यम ये गीत ही हैं। भारतीय परम्परा में अधिकांश लोकनाट्य पद्यों में खेले जाते हैं। ध्वनि विस्तारक यंत्र के अभाव में अत्यधिक ऊँचे स्वर एवं विविध धुनों में गाकर अभिनेताओं को स्वयं गाकर अपने सहपात्रों के साथ वार्तालाप द्वारा अपनी वाणी के लालित्य को दर्शाना पड़ता है। इसलिए इन नाट्यगीतों में गेय तत्त्वों का भले ही अभाव-सा रहता है, किन्तु नाट्य के कथोपकथन के रूप में प्रयुक्त होकर संवाद वहन करते हैं। यदि अभिनेता गीतों की बारीकियों में उलझ जाय तो वे कथोपकथन के मूल उद्देश्य से भटक सकते हैं। गेय संवादों के साथ अभिनेतागण को नाट्य अनुरूप अपने अंगों का संचालन भी करना पड़ता है। नाटक में गीतों को नाट्य के अनुरूप तोड़ना भी पड़ता है। पारम्परिक गीतों को उसके संदर्भ से अलग कर अभिनेता अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उन गीतों की पंक्तियों का प्रयोग करता है। जैसे- नाचा के दो



जोक्कड़ आपस में कुछ वार्तालाप कर रहे हों और परी का आगमन हो जाय तो एक जोक्कड़ अपनी विकलता को व्यक्त करने के लिए इस प्रकार की पंक्तियों को गुनगुनाते हुए लाठी को अपनी दोनों जंघाओं में दबाकर झूमने लगता है-

*एतना के बेरिया कवन देव ला सुमिरौं रे  
लेववं मैं कवन देव के नाम हो ना*

लोकनाट्य में प्रयुक्त गीतों में लय की दृष्टि से जो गैप आता है, उसे अभिनेता अपनी लय-तालयुक्त भाव-भंगिमाओं के संचालन से भरता है। इसमें विशेष बात यह होती है कि गीत भले ही वही हो, किन्तु प्रत्येक अभिनेता अपने व्यक्तित्व का चमत्कार दर्शाने के लिए इन गीतों को अत्यन्त अलंकृत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। उस समय भावोद्रेक और उत्साह के वातावरण में लय-ताल सम्बन्धी अनेक उत्कृष्ट कल्पनाएँ साकार होती हैं, जिनका शास्त्रीय संगीत या नृत्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कभी-कभी ये कल्पनायें साजिन्दों तथा विशिष्ट कलाकार की प्रतिभा पर ही निर्भर नहीं रहती, बल्कि समस्त नाट्यदल ही अपनी अद्वितीय कल्पनाओं में थिरक उठता है। 'लोकनाट्यों की भावाभिव्यंजना में अतिरंजना और प्रतीकात्मकता की प्रधानता रहती है। गद्य संवादों की अनुपस्थिति में गीत-नृत्य के माध्यम से प्रकट होने वाले प्रयोजन, अतिशयोक्ति और प्रतीकों का आधार ग्रहण नहीं करे तो वे भी सार्थक नहीं हो सकते। क्रोध और आवेश प्रकट करने के लिए लोकनाट्यों का अभिनेता अपने पाँवों की नृत्य-चालें अत्यन्त गतिमान और तीव्रतम बना देता है तथा आंगिक मुद्राओं को अतिरंजित कर एक विचित्र से तनाव की सृष्टि करता है। पृष्ठभूमि में गाये जाने वाले गीत-संवाद की समाप्ति पर उसकी विशिष्ट चालें दर्शकों पर अद्वितीय प्रभाव उत्पन्न करती हैं।<sup>14</sup> गाँव में जबरिया वसूली अथवा बाजार-हाट में मुफ्त का सामान हथियाने वाले कोटवार का प्रहसन दिखाने के लिए नाचा के कलाकार बाजार का दृश्य इस प्रकार के गीतों से उभारते हैं, जो कथानक को और अधिक प्रभावी बनाते हैं। जैसे-

*एक पइसा के भाजी ल दू पइसा में बेंचे गोई,  
गौंदली ल रखे जीमाँ डार के  
अहो मचिया मा ओ अवो पेंडहमा वो, बइटे मरारीन बजार में।*

विविध प्रहसनों में लोकनाट्य नाचा के कलाकार अधिकतर उन्हीं गीतों को गाते हैं जो अधिक लोकप्रिय होते हैं या जन-सामान्य में जिनकी गहरी पैठ होती है। संस्कृत के श्लोक, हिन्दी के दोहे, फिल्मी जगत से लेकर लोक की विविध-विधाओं के गीत प्रसंगानुकूल नाचा में प्रयुक्त होते हैं। जैसे संस्कार-जन्य प्रहसनों में विवाह के उपरान्त कारुणिक दृश्य को संवाद के साथ और अधिक प्रभावी बनाने के लिए इस प्रकार के विदाई गीतों की प्रस्तुति होती है-

*जा दुलोरिन बेटी तैं मइके के सुध झन लगाबे  
मइके छोड़त हावस कोरा टोरत हावस,  
सुख माँ ये जिनगी पहाबे..... ।  
दाई ददा तैं हा मानत रहिबे तोर ससुर अऊ सास वो  
सत्यवान सही तोर पति हे, झन करबे मन ला उदास वो  
सती सावित्री सही सेवा करके  
कुल के लाज बचाबे..... । जा.....*

बाल विवाह या अनमेल विवाह छत्तीसगढ़ की नहीं, अपितु यह भारतीय समाज की समस्या रही है। अब इस दिशा में समाज व सरकार द्वारा सार्थक प्रयास किया जा रहा है। 'कन्या पराया धन है' समझकर बाल-विवाह या गौना कर देना भी समाज के लिए अभिशाप है। समाज को शिक्षा देने के उद्देश्य से इस प्रकार के खेले गये प्रहसनों में नाचा के कलाकार बहुचर्चित प्रसंगानुकूल गीतों का समायोजन करके कथानक को भाव संवेद्य बनाते हैं। जैसे-

*एसो गवन झन देबे बूढ़ी दाई,  
मँय बांस भिरहा कस डोलत-हँव ना  
हँवला भर पानी ह उठे नहीं दाई  
लिच लिच डोलत हे कनिहा  
कुआं के जावत ले थक जाथे  
जाँघर कइसे उठावों दाई पनिया  
कनकी कोड़हा बैरी नई निमराये  
सूपा में फूनत-फूनत वो। बूढ़ी दाई..... ।*

पति-पत्नी के बीच नोक-झोंक 'क्षणे तुष्टा क्षणे रुष्टा' की स्थिति में दैनिक-जीवन की आपा-धापी के बीच भी जीवन को

कैसे सरस बनाते हैं, इसका जीवंत दृष्टान्त लोकनाट्य नाचा में प्रयुक्त गीतों में देखा जा सकता है। प्रेमिका की आसक्ति और प्रेमी की बेरुखी का सुन्दर समाहार इन पक्तियों में देखा जा सकता है-

गोंड मैं रैपुर सहर के बिछिया जोगनी कस चमके टिकुलिया  
आनी बानी के रूप सजा के तोला मैं मोहाँ लेहूँ ना  
ए मोर हीरा मैं तोला अपन बना लेहूँ ना।  
तोर पिरित लागे हूँडरा लीलवा मोर बर हावस गजब मूँड पीरवा  
कानी खोरी ल जिनगी के संगी बनाके रेंगा लेहूँ ना  
ए पतरेंगी मैं जिनगी के दिन ला पहा लेहूँ ना।

गृहस्थ जीवन को सुखमय माना जाता है, किन्तु समस्याओं का रेला भी आता है। संतुलन डगमगाने पर आशा-निराशा, आनंद व विषाद के बीच उलझना भी पड़ता है। पारिवारिक समस्या परक प्रहसनों में पति-पत्नी के बीच अनबन, विवाह पूर्व का आकर्षण और विवाह के उपरान्त उपजे निराशा को लोकनाट्य के अभिनेता अभिनय और गायन के साथ उभारते हैं। जैसे-

सुख बर मेंहर बिहाव करेंव गा अपन हाथ मां घाव करेंव  
घानी कस बइला फंदागेंव विधाता चारों मुड़ा ले धंधागेंव।  
सुने रेहेंव अनुसुइया सती सीता के मैं कहानी ला  
पति सेवा में मगन होके बिताईन अपन जिनगानी ला  
उही आस में बिहाव करेंवगा ये जिनगी के नास करेंव गा  
दही के भोरहा मां कपसा ल खायेंव,  
मेड़वा बइला कस फंदागेंव-विधाता। चारों मुड़ा.....

प्रहसनों के बीच-बीच में कथानकों को सरस बनाने के लिए नाचा में गीतों का गुम्फन पूरे प्रहसन को फलागम तक रोचक बनाते हैं। चूँकि अभिनेता का मकसद केवल गीत गाना नहीं बल्कि कथानक को रोचक ढंग से आगे बढ़ाना होता है। इसीलिए वे पूरे गीत नहीं गाते, बल्कि प्रसंगानुकूल गीतों के मुखड़ा या एक दो अंतरा का गान करते हैं। जैसे- प्रेमिका का प्रेमी से नहीं मिल सकने की विवशता, लोक मर्यादा आदि उन्हें स्वच्छन्द विचरण के लिए रोकती है। जब नायक प्रेमी द्वारा बार-बार प्रेमिका से रुक जाने का मनुहार किया जाता है तो वह गा उठती है-

मोला जावन देना रे अलबेला मोर  
अब्बड़ बेरा होगे मोला जावन दे न .....

संझा के आये मुंधियारी होगे, गाय गोरू आगे अँधियारी होगे  
काली फेर आहूँ देखे बर तोला,  
हली भली जावन दे मयारू मोला।।

प्रेमी द्वारा प्रेमिका के रूप गुण का खूब बखान किया जाता है। यह एक तरफा नहीं होता, बल्कि प्रेमिका के द्वारा प्रेमी का आकर्षक वर्णन किया जाता है। मूल कथानक के इर्द-गिर्द गुंजित इन गीतों से प्रहसनों में गति आती है। जैसे-

लागे रहिथे दीवाना तोरो बर मोरो मया लगे रहिथे  
दाँते बत्तीसी नयन कजला या तोर मया के मारे, का भइगे  
मैं होगे हँव पगला बैरी ये दिना। लागै रहिथे.....

प्रिय का विछोह पीड़ा दायिनी होती है, न चाह कर भी अपने घर-द्वार, प्रिय-पत्नी को छोड़कर आजीविका के लिए पति को बाहर जाना जड़ता है। घर में पत्नी उन्हें याद करती है। कितना भी वैभव-विलास के साधन हों, धन-सम्पदा हो किन्तु जीवन-साथी साथ न हो तो बाहरी चमक-दमक व्यर्थ-सा लगता है। विरह व पलायन सम्बन्धी प्रहसनों में इस प्रकार के भावों को व्यक्त करने वाले गीतों का प्रयोग होता है। जैसे-

धनी बिना जग लागय सुन्ना रे नइ भवय मोला  
सोना चाँदी महल अटारी।  
माटी के मोल काबर सोलहों सिंगार लागय  
चढ़ती जुवानी मोरो अँगार के आँच लागय  
पीरा होवय छिन-छिन नवा जुन्ना रे नई बांचय चोला  
धधकते छतिया में आगी .....

छत्तीसगढ़ की बहुत बड़ी समस्या पलायन की है। रिश्ते-नाते, जन्मभूमि को छोड़कर रोजी-रोटी के लिए बाहर जाना कोई नहीं चाहता, किन्तु आजीविका के लिए जाना ही पड़ता है। पलायन सम्बन्धी प्रहसनों में गाँव की सरलता, धरती की महिमा, बाहर जाने पर कई प्रकार की समस्याओं से जूझने आदि का उल्लेख करते हुए गाँव में ही जीवन निर्वाह करने सम्बन्धी गीतों का समायोजन होता है। जैसे-

मोर गंवई गंगा ये मोर गंवई गंगा ये  
छोड़ के गंवई सहर डहर झनजा झनजा झनजा रे।

ए मया के बादर ये भारत माँ के काजर ये  
 ये भुईया के अँचरा ये धरती के गजरा  
 जगुर जगार रात इहाँ के चुहुल-पुहुल संझा रे<sup>5</sup> .....

नाचा भले ही प्रादेशिक लोकनाट्य विधा है, किन्तु इनके कथानक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों को स्पर्श करता है। बिल किंल्टन का प्रेम, ओसामा बिन लादेन का आतंक, गुजरात का भूकम्प, कारगिल का युद्ध, अन्ना का आन्दोलन, ये सब नाट्य कलाकार के परिधि में होता है। राष्ट्रीय एकता, जन-जागरण, भेदभाव, ऊँच-नीच आदि को दर्शाने वाले प्रहसनों में गुम्फित गीत दर्शकों को बाँधने में सफल होता है। चाहे लोकगीत हो या लोकनाट्य, धरती की वंदनापरक गीत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। ग्रामीण परिवेश में कृषि-प्रधान देश में धरती की महत्ता धरती पुत्र ही ज्यादा समझते हैं। उनके जीवकोपार्जन का मुख्य आधार धरती ही होती है। इसलिए उनकी वंदना करना कलाकार अपना परम कर्तव्य समझता है। कृषि कार्य से मुँह फेरने वाले प्रहसनों में अभिनय के साथ गाये जाने वाले गीत दर्शकों पर अमिट प्रभाव छोड़ते हैं। जैसे-

मंय बंदथौं दिन रात वो मोर-धरती मइंया जय होवय तोर  
 मोर छइय्याँ भुइय्याँ जय होवय तोर  
 तोर कोरा सब जीव-जंतु के घर दुवार अउ डेरा  
 तहीं हमन के सुख दुख अउ ये जिनगी के घेरा  
 तोर मया मँ जग दुलरावँय वो मोर धरती मइंया।<sup>6</sup>

समाज में व्याप्त विसंगतियों को उलटवासियों के रूप में भी नाचा के कलाकार प्रस्तुत करते हैं। हास्य व्यंग्य के रूप में गोरखनाथ की बानी, कबीर के दोहे व उलटवासी के अलावा लोक में प्रचलित गीतों के माध्यम से जन-सामान्य के बीच घटित प्रसंगों की प्रस्तुति होती है। जैसे-

छितका कुरिया में करे सिंगार, ठमकत केवटिन चले बजार।  
 कारी केवटिन गरभर पोत, बरगे केवटिन सुरुज के जोत।  
 कनवी अँखी में काजर अँजाये, खोरवी गोड़ में तोड़ा लगाये।  
 बुच्ची कान में गा ढार लगाय, नकटी नाक माँ गुना लगाय।<sup>7</sup>

नाचा समूचे छत्तीसगढ़ लोक जीवन की नब्ज को टटोलने का सबसे कारगर माध्यम है। इस लोकनाट्य का अलग रंग है,

भाव है, मस्ती है, प्रवाह है। एक ओर जहाँ इसमें परंपरा निर्वाह की चाह है, वहीं अनचाही परंपरा की चट्टानों को तोड़ने की अदम्य शक्ति भी है। नाचा आँसुओं को पीकर मुस्कान बाँटने की सहज सरल चेष्टा है। अपनी दीनता, हीनता, अशिक्षा, उपेक्षा और अपमान की आग में तपकर ग्रामीण कलाकार जिस कला संसार की सृष्टि करते हैं उस संसार का नाम है नाचा, गीत और गम्मत का अनूठा संगम।<sup>8</sup> सामाजिक विषमता के फलस्वरूप उपजे असंतोष को व्यक्त करने के लिए अभिव्यक्ति के विविध रूपों का सहारा लिया जाता है। निरंकुश सत्ता के विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष करने की प्रेरणा नाचा के इन गीतों के माध्यम से मिलती है-

सुन सँगवरी मोर मितान देस केंधारन तहीं परान। जय गंगा  
 महँगाई बाढ़े हरसाल बेपारी होवत हे लाल  
 अफसर सेठ उड़ावय माल नीँछत हे गरीब के खाल  
 रोज बने जनता कंगाल, का गोठियावँ सब जानत हव  
 बइरी बनगे आज मितान, बूढ़वा बईला ला दे दे दान-जय गंगा।  
 उठ सँगवारी अब तो जाग, हाँका पार लगा एक राग  
 तपनी रोज तपइया मन बर तैं हर बन जा सँऊहत नाग  
 अब तो अपन जगा ले भाग  
 गउकी जोखा तभे माँड़ही घर-घर होही नवाँ बिहान  
 बूढ़वा बइला ला दे दे दान- जय गंगा

लोकनाट्य नाचा में विरह-मिलन, सुख-दुःख विसंगतियाँ, देश-राज आदि सम्बन्धी प्रहसनों में जीव-जगत ब्रह्म, माया तथा मोक्ष सम्बन्धी दार्शनिक विषयों का भी लोक भजनों के माध्यम से सुन्दर समावेश होता है। सटीक गीतों द्वारा नाचा के कलाकार संसार की असारता व क्षण-भंगुरता को प्रस्तुत करते हैं। जैसे-

तोला जाना परही राम काया ल छोड़ के हंसा जाना परही  
 राज छोड़ के राजा जाही रूप छोड़ के रानी।  
 धरती चाँद सुरुज ह जाही जाही पवन अउ पानी।।  
 मानुष जनम ह बड़ दुरलभ हे, समझ ले रे अभिमानी  
 लोभ-लहर के नदी बोहत हे बूड़ि जाही जिनगानी।।  
 तोला जाना परही राम .....

**डिड़वा नाच** -छत्तीसगढ़ का एक लोकनाट्य रूप है डिड़वा नाच। इसकी कोई लिखित कथानक नहीं होती। यह पूर्णतः नारी

जाति के द्वारा उन्हीं के बीच खेला जाने वाला लोकनाट्य है। विवाह के अवसर पर वर-पक्ष के पुरुष वर्ग के बारात चले जाने के उपरान्त रात्रि में खेले जाने वाले इस लोकनाट्य में महिलाओं द्वारा पुरुष वेश धारण कर पुरुषों के हाव-भाव, क्रिया-कलापों का अभिनय किया जाता है। हास्य-व्यंग्य प्रधान इस लोकनाट्य में ननद, देवर-भौजाई, सास-ससुर इत्यादि रिश्तों को लेकर करारा व्यंग्य व मनोविनोद किया जाता है। अधिकतर इस लोकनाट्य में विकृत रूप भी सामने आ जाता है। मैंने डिड़वा नाच देखा नहीं है, किन्तु लुकछिप कर देखने वालों से वार्तालाप के दौरान यह ज्ञात हुआ कि यह अश्लीलता से बोझिल हो जाता है। इसके अन्तर्गत गाये जाने वाले गीतों में फूहड़ता की अतिशयता भी इसके विकास में बाधक सिद्ध हुआ। इसीलिए यह नाट्य रूप समाप्ति के कगार पर है। अतिशय फूहड़ता, महिलाओं के ही बीच महिलाओं द्वारा प्रदर्शन की वजह से इसका दायरा सिमटता चला गया। मनोरंजन के अन्यान्य साधन भी इस लोकनाट्य के आगे बढ़ने में बाधक सिद्ध हुए हैं। इस लोकनाट्य के एक बहुत ही सहज गीत से इसके खुलेपन का अंदाजा लगाया जा सकता है। इस लोकनाट्य के वास्तविक गीतों का उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है। डिड़वा नाच के एक सहज गीत बानगी के तौर पर प्रस्तुत है, जिसे फागुन गीत के रूप में पुरुष वर्ग भी गाते हैं-

मैं तोका जानों राम जियरा बियाकुल जोड़ी बिना  
रइया रतनपुर मइके रे ससुरे ओड़ियान  
बीच बोहिगे कोइली नद्दी बिन पानी के धान ॥ जियरा  
ससुरे ला आगे तीजरा रे ननद ला संताप ।  
देवरा ला खरजरहा मैं तो टूटे डारा के पान ॥ जियरा  
बिना सहेली के बाजा दुलहिन बिन बरात  
बिना पुरुष के तिरिया रोवे आधी रात .. जियरा .....

बिना दीया के मंदिर बिन खंभा के ताल ।  
बिना पिया के तिरिया पड़े रहे बेहाल ॥ जियरा.....  
खटिया के टूटगे पटिया चारों खुँटा के साल ।  
गोरी के छुटगे हितवा रोइ रोइ करथे बिहान ॥.. जियरा....  
बिन बिरछा के अँगना बिन कूकरा के गाँव  
बिन डौका के डौकी रोइ रोइ करथे बिहान ।. जियरा.....

रामलीला और रासलीला- भारत की लोकधर्मी नाट्य परम्परा में रामलीला का विशेष महत्त्व है। देवताओं के लिए भी दुर्लभ

रामकथा का लीलाभिनय भील बालकों के सहयोग से करवाने की मनोकामना गोस्वामी ने पूरी की और उसे जन-सुलभ बनाया। कहते हैं कि काशी में चित्रकूट की रामलीला का शुभारम्भ गोस्वामीजी ने करवाया और मेघा भगत के नेतृत्व में यह लोकमंच सशक्त बना। राम जीवन के विविध प्रसंगों की रंग-प्रस्तुति ने जन-जीवन को सबल आधार दिया। समाज में नैतिक मूल्यों, सामाजिक मर्यादाओं और आध्यात्मिक आदर्शों की स्थापना हुई।<sup>9</sup> असत्य पर सत्य की विजय, दानवता पर मानवता के रूप में रामलीला का मंच आज सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश की धर्मप्राण और सर्वहारा जनता में आस्था और विश्वास का आधार बना हुआ है।

अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय पहचान वाले रामलीला का छत्तीसगढ़ी स्वरूप परम्पराबद्ध ही है। इसके मूल आधार तुलसीकृत रामचरित मानस और भारत के आधुनिक थिएटर के आदि व्यक्तित्व पं. राधेश्याम कथावाचक कृत राधेश्याम रामायण है। रामचरित मानस के दोहों तथा चौपाइयों की गायन विधि नाट्योचित नहीं होने के कारण उनका अर्थ अभिनेताओं द्वारा गद्य में उलथाने की परम्परा डाली गई है, जिससे इस समस्त नाट्य प्रणाली में जान-सी आ गई है। बीच-बीच में तुलसीकृत गीतावली के रागबद्ध गीतों की गायिकी से रामलीला को सरस बनाते हैं। श्रीराम को देखने के लिए शिवजी का ज्योतिषी वेश में अवधपुरी आना, भविष्य में विश्वामित्र जी की यज्ञ रक्षा के बहाने सीताजी के साथ स्वयंवर होने की बात कहना, राम-भरत-लक्ष्मण और शत्रुघ्न के भावी जय तथा सुख और सुयश का वर्णन करना जैसे प्रसंग रामचरित मानस में सहज दोहे और चौपाइयों की अपेक्षा रागबद्ध गीत से अधिक भावपूर्ण हो जाता है। जैसे-

अवध आजु आगमी एकु आयो ।  
करतल निरखि कहत सब गुन गन, बहुतन्ह परिचौ पायो ॥  
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो ।  
सँग सिसुसिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ॥  
जनम प्रसंग कहयो कौसिक मिसीय-स्वयंवर गायो ।  
राम भरत रिपुदवन लखन को, जय सुख सुजस सुनायो ॥<sup>10</sup>

प्रसिद्ध नाटककार व श्रीरामकथाकार पं. राधेश्याम कथावाचक की कृति 'श्रीराम-कथा' राधेश्याम रामायण के रूप में विख्यात है। हिन्दी प्रदेशों व छत्तीसगढ़ में गेय शैली तथा संवादों में

गत्यात्मकता की वजह से इसे भी आधार बनाकर श्रीरामलीला का मंचन होता है। इस ग्रंथ के आधार पर गद्य संवादों के साथ-साथ गीति संवाद भी नाटक को प्रभावी बनाते हैं। जैसे धनुष यज्ञ प्रसंग में सभी राजाओं द्वारा धनुर्भंग में असफल होने पर राजा जनक का कथन अभिनय और गीत के साथ व्यक्त होता है-

*मुझको इस शूर वीरता का कुछ भी चल जाता पता अगर।  
तो मुझे न पछताना पड़ता, पीछे इतना दुर्गम प्रण कर।।  
पर अब मुझको मालूम हुआ, पृथ्वी वीरों से खाली है।  
प्रत्येक नाम में सिंह लगा, सारा क्षत्रियन जाली है।।  
हो गया स्वयंवर रहने दो, अपने अपने घर जाओ तुम।  
होकर सपूत क्षत्राणी के, मत माँ का दूध लजाओ तुम।।<sup>11</sup>*

रामलीला और रासलीलाओं के गीतों में एक विशेषता रहती है। इन नाटकों के गीत अलग से नहीं रचे जाते। इन ग्रंथों के प्रति जनता की अगाध श्रद्धा के कारण गीतकार इन नाटकों के लिए अलग संवाद-गीत लिखने की धृष्टता नहीं करता है। नाट्य पद्धति के अनुकूल नहीं होने के बावजूद श्रद्धा भक्ति के कारण समाज ने इन गीतों को स्वीकार किया है। यही शास्त्रीय रूप छत्तीसगढ़ में मंचित रासलीला और रामलीला में देखा जा सकता है। रासलीला लोकनाट्य या रहस श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं पर आधारित है, जिसका आधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कंध है। यह मूलतः नृत्य प्रधान लोकनाट्य है। इसके गीत संवाद और नृत्य से युक्त होता है। इसमें राधा-कृष्ण से सम्बन्धित भक्ति के पद होते हैं, जिसे चौकोर मंच के चारों ओर घूम-घूम कर नाचते हुए गाते हैं। मध्ययुगीन लोकधर्मी नाट्य-परम्परा में लीला नाटकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राम के लोकरक्षक और कृष्ण के लोकरंजक स्वरूप की नाट्य-प्रस्तुतियों ने जन-जीवन में आस्था और विश्वास के आधार को सबल बनाया। इन लीला नाटकों की उत्सभूमि उत्तरप्रदेश है, परन्तु पूर्वी भाग में रामलीला और पश्चिमी भाग में रासलीला मंच पल्लवित और पुष्पित हुआ। रासलीला कृष्ण विषयक काव्य, संगीत, नृत्य और अभिनय की समन्वित मंच प्रस्तुति है, जो सदियों से लोकानुरंजन और लोकादर्शों की संवाहिका बनी हुई है।<sup>12</sup> रामलीला व कृष्णलीला सार्वदेशिक है। ये दोनों लोकनाट्य तुलसीकृत रामचरित मानस और भागवत ग्रंथ पर आधारित हैं। इन दोनों ग्रंथों के प्रति जनमानस में अपार श्रद्धा-भाव है। इसीलिए नाट्य के अनुकूल न होने के बावजूद समाज ने श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया है।

रासलीला में रासधारिये प्रचलित कृष्णलीलाओं के गीत गाते हैं और अनेक दर्शनीय प्रसंगों को उनमें लपेटकर, उन अभिनेय-घटनाओं को प्रस्तुत करते हैं, जिनमें भगवान का चरित्रोत्कर्ष दर्शाया गया हो। ये विशिष्ट प्रसंग हैं- कृष्णजन्म, कालियादमन, पूतनावध, गिरिवर धारण, माखनचोरी, चीरहरण, कंसवध आदि। इन प्रसंगों में रासधारिये मूल्याथाओं का गीत वाचन करते हैं और लीला के विविध स्वरूप (पात्र) उनका अर्थ उलथाते हुए कभी गद्य में कभी पद्य में संभाषण करते हैं। यद्यपि ये सभी प्रसंग कथात्मक दृष्टि से एक सूत्र में बंधे हुए नहीं हैं, परन्तु रासधारिये अपने टेक-गायन द्वारा उनके बीच की कड़ियाँ जोड़ते जाते हैं और कथावस्तु भगवान कृष्ण की विविध लीलाओं का उत्कर्ष बतलाती हुई आगे बढ़ जाती है।<sup>13</sup> रासलीला में जयदेव, विद्यापति तथा अष्टछापि कवियों के प्रसंगानुरूप पदों का गान किया जाता है। इसमें संस्कृत काव्य के हिन्दी रूपों का भी गान किया जाता है। माखन-दूध के साथ निकलने वाले छैल-छबीले के रसमय लीलाओं का 'रहस' या रासलीला में इस प्रकार गान किया जाता है-

*चित कौ चोर अबहिं जो पाऊँ।  
द्वार कपाट बनाइ जतन करि नीके माखन दूध खवाऊँ।  
जैसे निसंक धँसत मंदिर में तिहि औसर जो अचानक आऊँ।  
गहि अपने कर सुदृढ़ मनोहर बहुत दिनन की रुचि उपजाऊँ  
लै राखों कुच बीच निरंतर प्रतिदिन कौ तन-ताप बुझाऊँ।  
परमानंद नन्दनन्दन कौ घर-घर कौ परिभ्रमन मिटाऊँ।।<sup>14</sup>*

ब्रज भूमि और वृन्दावन रासलीला की मुख्य भूमि हैं, फिर भी रासलीलाओं के प्रदर्शन समग्र हिन्दी भाषी प्रदेशों में जनता के प्रबल आकर्षण के केन्द्र हैं। इसका कारण है कृष्ण जीवन के प्रति आम आदमी का अनुराग। भारतीय परिवारों में माँ का रूप यशोदा और बालक का आदर्श रूप बाल श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण की बाल-क्रीड़ाएँ और युवावस्था की लीलाएँ भारतीय साहित्य, शिल्प, संगीत और मंच की प्रिय विषय-वस्तु रहे हैं। कृष्ण के विराट और विविध व्यक्तित्व को भारतीय प्रतिभाओं ने अपनी अनूठी कला-क्षमता के साथ प्रस्तुत किया है। लोकजीवन और लोककलाओं में तो जैसे कृष्णचरित घुलमिल गया है।<sup>15</sup> वासंती वातावरण में तरुणी गोपियों के साथ नाचने-गाने वाले रासविहारी श्रीकृष्ण के लीलापरक निम्न अष्टपदी का गान रतनपुरिहा गम्मत व रासलीला के कलाकार अब भी गाते हैं-



ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।  
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे।।  
विहरति हरिह सरस वसन्ते।  
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते  
उन्मद मदन मनोरथ पथिक वधू जन जनित विलापे।  
अलिकुल संकुल कुसुम समूह निराकुल बकुल कलापे।।<sup>6</sup>

वस्तुतः जन मनोरंजन के साथ सामाजिक जागरुकता पैदा करने में नाचा के प्रदर्शन अहम भूमिका निभाते हैं। रामकथा के मनोहारी प्रसंग भारतीय लोकमानस में आज भी श्रद्धा जगा रहे हैं।

रामलीला आज भी लोकानुरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम बनी हुई हैं। रासलीला समाज के उच्चवर्ग से लेकर निम्नवर्ग तक, शहरों से लेकर गाँवों तक और शिक्षित वर्ग से होकर निरक्षर जन तक लोक-संचार का एक प्रभावी माध्यम है। इन लोकनाट्यों में प्रयुक्त गीत बहुप्रचलित होते हैं। इन गीतों के मुखड़ा, कुछ अंतरा या कभी-कभी पूरा गीत नाटकों में प्रयुक्त होता है, स्वर रचना भी विशेष प्रकार की होती है। प्रसंगानुकूल इन गीतों को तोड़ा-मरोड़ा भी जाता है। इसलिए इन गीतों में मधुरता या पूर्णता नहीं होती, किन्तु कथा-प्रसंगों के अनुरूप इन लोकनाट्यों में प्रयुक्त गीत कथानक को रोचक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

## संदर्भ

1. अग्रवाल महावीर- छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य : नाचा, श्रीप्रकाशन, दुर्ग प्र. सं. 1999, पृ.- 14
  2. मान ज्ञानसिंह-नाटक, काव्यात्मक परिवेश, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, प्र० सं. 1980, पृ. 15
  3. सामर देवीलाल-लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ, भारती लोककला मंडल, उदयपुर, प्र.सं. 1968, पृ. 224
  4. सामर देवीलाल-लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ, पृ. 211
  5. मस्तुरिया लक्ष्मण-मोर संग चलव, वैभव प्रकाशन, रायपुर, प्र. सं. 2003, पृ.27
  6. मस्तुरिया लक्ष्मण-मोर संग चलव, पृ. 26
  7. कुलदीप जगदीश-छत्तीसगढ़ के सुवागीत : साहित्यिक, सांस्कृतिक अनुशीलन, शोध प्रबंध, 2000, पृ. 362
  8. मस्तुरिया लक्ष्मण (सं.) लोकसुर (मासिक पत्रिका) रायपुर अंक- 3 अक्टूबर 2010 पृ. 3
  9. 'मधुर' शिवकुमार-भारत के लोकनाट्य, वाणी प्रकाशन दिल्ली, प्र.सं. 1980, पृ. 13-14
  10. तुलसीदास- गीतावली, बालकाण्ड पद- 17
  11. पं. राधेश्याम कथावाचक - श्रीरामकथा धनुष- यज्ञ, पृ. 39
  12. 'मधुर' शिवकुमार- भारत के लोकनाट्य, पृ. 17-18
  13. सामर देवीलाल- लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ, पृ. 259
  14. गर्ग लक्ष्मीनारायण- संगीत अष्टछाप, संगीत कार्यालय, हाथरस, उ.प्र., संस्करण 1962, पृ. 48
  15. 'मधुर' शिवकुमार- भारत के लोकनाट्य, पृ. 18
  16. शर्मा पं. श्रीकेदारनाथ- महाकवि श्रीजयदेव विरचित गीतगोविन्द, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, आठवाँ संस्करण, वि.सं. 2061 प्र. सर्ग श्लोक 1,2 ।
- \* डॉ. भरतपटेल, अधिष्ठाता एवं श्री बिहारीलाल तारम-शोध सहायक लोकसंगीत संकाय इ.क. सं. वि. वि. से प्राप्त, लोकगीत, श्री नेतराम डोरे, श्री सागरदास, मानिकपुरी नवागढ़ व बालोद से प्राप्त नाचागीत



## कुम्हारों की पहचान

डॉ. सुधीर कुमार

मृदभाण्ड बनाने वाले, खिलौने बनाने वाले, देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण करने वाले सृजनकर्ता जिन्हें कुम्हार कहा जाता है। धरती की मिट्टी को उठाकर-गूँथकर आकारों एवं आकृतियों का निर्माण करने वाले कुम्हारों की सामाजिक भूमिका पर चर्चा किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि ये ही वह जाति है, जिसने भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक विरासत को आज के आधुनिक युग तक कायम रखा है। मेले, तीज-त्योहार, मांगलिक कार्य से लेकर आनुष्ठानिक क्रिया-कलापों में इन कुम्हार लोगों की विशेष भूमिका है, क्योंकि इनके द्वारा ही सभी कार्य सम्पन्न होते हैं।

प्रत्येक भाषाई क्षेत्र में कुम्हार कई छोटे-छोटे उपजातियों में बँटे हुए हैं, जो कई क्षेत्रों में पदानुक्रम के अनुसार व्यवस्थित हैं। जबकि ये उपजाति अपने कर्म पर जाने जाते हैं, लेकिन दूसरी उपजातियों के समान इनकी एक अलग पहचान नहीं है, बल्कि इनकी उपजाति एक कुम्हार के रूप में जानी जाती है। इसलिए अनेक जातियों के साथ इनका सम्बन्ध एक अलग उपजाति के रूप में दिखाई देता है। यह कहना गलत होगा कि कुम्हार जाति एक ही उपजाति समूह के रहे हैं, बल्कि व्यवसाय एवं धार्मिक वृहदता के कारण इनकी उपजाति की पहचान बनी। कुम्हार उपजाति विभिन्न कारणों से अपनी पहचान बना सके, विशेष रूप से प्रादेशिक और तकनीकी महत्त्व के कारण इन्हें कुम्हार उपजाति के अन्तर्गत रखा गया। एक बहुत बड़े कुम्हार उपजाति के समूह को आरम्भिक पूर्वजों के क्षेत्रों के आधार पर जाना गया। जैसे इनके क्षेत्र अजमेर, जयपुर, जोधपुर, मारवाड़, मेवाड़ और नागौर रहे हैं, जो राजस्थान में स्थित है। इन्हीं क्षेत्रों को कुम्हार की उत्पत्ति का आरम्भिक चरण माना जाता है। इसी प्रकार ब्रजवासी ब्रज के, गूजर या गूजरिया गुजरात के, जम्मू के जगुआर, कन्नाडिया कन्नड़, मैसूर के कन्नौजिया कन्नौज के, गंगा के दोआब के प्राचीन शहर, काठियावाड़ के कठियावाड़ी, खम्भाटी खम्भाट

के, गुजरात के लाट या लाड बिहार के, मगध के माधिया, मध्यप्रदेश के मालवा के मालवी, महाराष्ट्र के मराठा, मथुरा के मथुरिया, मध्यप्रदेश के निमाड़ क्षेत्र के निमारी, गुजरात के प्राचीन शहर पाटन के पाटवी, सौराष्ट्र के सोहरिया, आन्ध्रप्रदेश के तेलंगाना के तेलंगी आदि लोगों में कुम्हार जाति की उपस्थिति है। ऐसा ज्ञात होता है बगदी या बंगर जो राजस्थान के बीकानेर के रहने वाले थे, पंजाब में आकर बस गये और अपनी मातृभाषा भूलकर पंजाबी हो गये, जो कुम्हार उपजाति से सम्बन्धित रहें हैं।

तकनीकि आधार पर कुम्हारों की उपजाति मृदभाण्ड बनाने वाली उपजाति के रूप में अपनी पहचान बना सकी। पॉटरी दो प्रकार की है, एक चाक और दूसरा हाथ द्वारा। जो कुम्हार चाक द्वारा बर्तनों का निर्माण करते हैं, उन्हें चक्रसाल्वी-चकेरे-चक्रेशिया नाम दिया गया। कुम्हार के चाक को संस्कृत में चक्र नामकरण से जाना जाता है। इसी प्रकार हाथ से बर्तन बनाने वाले कुम्हारों को हांडाकिया या हांकिया, हरेरे या थाडे, हथेलिया और हथेरे नाम दिया गया, जो हाथ शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। ये वे कुम्हार हैं जिन्हें चाक उपलब्ध नहीं है, फिर भी वे हाथ के मॉडलिंग से बर्तनों का निर्माण करते रहे हैं।

वास्तव में इनकी सामाजिक भूमिका विशेष है, क्योंकि कुम्हार पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने निर्माण कार्य में लगे रहते हैं और इनके सृजन से सामाजिक कार्यों का सम्पादन होता है। इस प्रकार अधिकतर कुम्हारों की उपजाति की भूमिका पर आधुनिक पॉटरी या सिरेमिक की आधार शिला रखी गयी, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। हथेरे और चकेरे एक ही समूह के कुम्हार नहीं हैं। कोंकण के चक्रसाल्विस और मध्यप्रदेश के बुंदेलखण्ड के चकेरे या चक्रेसिया एक समूह के नहीं हैं, इसलिए सामान्यतया ये दो समूह एक ही उपजाति में आते हैं, यह आवश्यक नहीं। बुंदेलखण्ड के हरेरे या हथेरे या थाडे जो सिरमूर और देहरादून के हैं तथा बनारस के हथेलिया उपजाति के कुम्हारों के साथ भी यही कठिनाई है लेकिन अगर इनके सीमित दायरे को हटा दिया जाय तो ये तकनीकि दृष्टि से एक ही समूह के दिखाई देते हैं। आपस में एक उपजाति से दूसरे उपजाति के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध होने के कारण भी इनके समूह का विभाजन सरलता से नहीं किया जा सकता। यह

भी माना जाता है कि जो कुम्हार चाक पर बर्तनों का निर्माण करते हैं वे चकेरे या चक्रेतिया उपजाति के हैं, बल्कि उनकी संख्या अधिक है। लेकिन यह भी देखा गया है कि उन क्षेत्रों में जहाँ हाथ द्वारा बर्तनों का निर्माण करने वाले कुम्हार हैं, वहाँ चाक पर कार्य करने वाले कुम्हारों की संख्या कम है। ग्वालियर के हथेरे अपने आपको चकेरे समूह से श्रेष्ठ मानते हैं। यद्यपि तकनीकि दृष्टि से ये कुम्हार निम्न श्रेणी के हैं। जब पॉटरी टेक्नोलॉजी का प्रादुर्भाव हुआ तो चाक द्वारा बर्तनों का निर्माण करने वाले कुम्हार हाथ द्वारा बर्तनों का निर्माण करने वाले कुम्हारों से आगे निकल गये। लेकिन फिर भी हाथ द्वारा कार्य करने वाले कुम्हार अपने को बहुत प्राचीन काल से मानते रहे हैं। लेकिन यह भी कहा जा सकता है कि चाक पर कार्य करने की तकनीकि प्रतिबद्धता के कारण चकेरे अधिक सफल रहे हैं। यह कोई तर्क नहीं है वे बाद में आये, जबकि हाथ से बर्तनों और अन्य वस्तुओं का निर्माण करने वाले कुम्हार बहुत पहले से अस्तित्व में रहे। यह अवश्य कहा जा सकता है कि चकेरों द्वारा चाक की खोज की गई, इस कारण इन्हें प्राचीन कुम्हारों के समूह के रूप में माना जाता रहा है। लेकिन यह कहा जा सकता है कि ये दोनों तकनीकि समूह सामाजिक रूप से बहुत महत्त्व रखते हैं।

कुम्हारों की सामाजिक भिन्नता चाक के आधार पर नहीं दिखाई देती, बल्कि कुछ स्थानों पर चाक के आकार या माप पर निर्भर करता है। महाराष्ट्र के लहानचके जो छोटे चाक पर कार्य करते हैं। वे बड़े चाक की तुलना में भिन्न जाति के कुम्हार माने जाते हैं। यहाँ तक की तीन मीटर की भिन्नता से इनकी सामाजिक दूरी का आभास होता है।

टेक्नोलॉजी के उद्भव की स्थितियों का सर्वेक्षण करने पर दोनों समूह चाक पर कार्य करने वाले और हाथ से कार्य करने वाले कुम्हारों के बारे में जानकारी मिलती है। पहले छोटे पत्थर के चपटे गोलाकार चाक का आविष्कार हुआ, जिसे मध्यप्रदेश के कुम्हार प्रयोग में लाते थे, जिसे कुरो कहा गया। जिसे बाद में कुरेरे नाम दिया गया, यद्यपि तकनीकि दृष्टि से इन्हें हाथ द्वारा कार्य करने वाले कुम्हारों के समूह में रखा गया। सामाजिक तौर पर हथेरे और चकेरे अपने क्षेत्र विशेष के रूप में जाने गये और एक अलग

समूह के रूप में उभरे। इन दोनों की विभिन्नता के साथ ही उत्तर प्रदेश में कुम्हारों का एक ऐसा समूह सामने आया, जो हाथ की मॉडलिंग से और चाक पर दबाकर खिलौनों का निर्माण करते रहे हैं, जिन्हें रंगिया कहा गया। वे अर्दनवेयर को रंगते हैं, इस कारण इन्हें रंगिया कहा गया। ये कुम्हार सामाजिक रूप से कासगर या कसतौरा कहलाये, जो चाक और हाथ दोनों तकनीकि द्वारा कार्य करते रहे हैं।

इस प्रकार कुम्हारों की उपजातियों का अपना सामाजिक महत्त्व रहा है, जो अपने कार्य द्वारा सामाजिक रीति-रिवाजों को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। लेकिन यह भी कहा जा सकता है कि कुम्हार उपजाति वास्तव में अपनी तकनीकि प्रतिबद्धता के कारण ही पहचाने जाते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि बर्तन बनाने, खिलौनों का निर्माण करने, रंगने की पद्धति से भी इनके सामाजिक स्तर का आभास होता है।

---

## सन्दर्भ

1. पी.एस.रावसन- 'दी सरफेस ट्रीटमेन्ट ऑफ अर्ली इण्डियन पॉटरी'। संस्करण 1, 2 मार्च 1953
2. सरस्वती बैद्यनाथ और नब किशोर बेहुरा- 'पॉटरी टेक्निक्स इन प्रीजेन्ट इण्डिया, एंथ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, कलकत्ता 1966
3. दत्ता भुपेन्द्रनाथ 'स्टडीस इन इण्डियन पोटिरी, पूरबी प्रकाशन, कलकत्ता, 1944
4. गुर्ये जी.एस.-'फास्ट, क्लास एण्ड ओक्यूपेशन' पॉपुलर बुक डिपो, बम्बई, 1957,1961
5. पिल्लई जी.के.- 'ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ कास्ट' किताब महल, इलाहाबाद, 1959

## लोक साहित्य में पर्यावरण

डॉ. अंशुबाला मिश्रा

प्रकृति की गोद में बसने वाला लोकजीवन पग-पग पर्यावरण का सहगामी रहता है। प्रकृति का सौन्दर्य ही लोकजीवन की कलापरक अभिव्यक्ति का सार है। किल्लोल करती नदियाँ, कल-कल, छल-छल का नाद करते झरने, कुलांचे भरते मृग और सिंह की दहाड़, प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व पर्यावरण के संवाहक हैं। और ये ही प्रकृति प्रेम पैदा करने वाले विषय मानव समुदाय और लोक साहित्य को प्रभावित करते आये हैं, सभ्यता के प्रादुर्भाव काल से ही प्रकृति प्रेमी लोक जीवन ने अपने साहित्य में पर्यावरण को समेटा है। वैदिक साहित्य प्रकृति पूजा से भरा पड़ा है। आकाश-जल-वायु अग्नि ये सभी प्राकृतिक अवयव वैदिक लोक जीवन में पूज्य एवं वंदनीय हैं। वैदिक युग में तो यज्ञों की झड़ी-सी लग गयी थी। ऋषियों के आश्रमों की संरचना, प्रकृति की क्रोड में पूर्णतः पर्यावरण के संतुलन के अनुरूप थी। वहाँ फल था, फूल थे, औषधि थी और थी स्वच्छ नीर वाली पवित्र नदियाँ। ऐसे शुद्ध पर्यावरण में निवास करने वाला व्यक्ति स्वस्थ सानन्द एवं प्रसन्नचित्त था। संकीर्णता लेशमात्र भी नहीं थी। परोपकार का भाव था। यह भाव प्रकृति द्वारा प्रदत्त प्रेरणा से उत्पन्न था। तभी तो कहा गया-

*वृक्ष कबहुँ नहि फल खाभै, भखै न संचै नीर।*

*परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर ॥*

प्रकृति के समान ही प्रकृति की क्रोड में बसे आश्रमों के संत परमार्थी थे। शिक्षा-दीक्षा के केन्द्र रहे संतों के आश्रम में सूर्य प्रणाम, नदी वंदन, जल से अर्घ्य देने की सारी पद्धतियाँ लोक जीवन में पर्यावरण की संरक्षक थीं। ऋषियों के आश्रमों में यज्ञ-यज्ञाहुतियों के धुएँ से वातावरण शुद्ध होता था, पर्यावरण परिवर्धित होता था, समाज एवं पशु-पक्षी, जीव-जंतु सभी स्वस्थ रहते थे।

वैदिक काल के पश्चात् पौराणिक युग में भी लोक जीवन प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति सचेत था। भगवान श्री राम का वनवास यह सिद्ध करता है कि प्रतिद्वंद्वी को भी (प्रकृति में रहना) जंगल में जीवकोपार्जन कर लेने का आभास था। इसी प्रकार पांडवों का वनवास में जाना और राजा नल का वन में जाना यह दर्शाता है कि राजसुख भोगने वाला व्यक्ति भी प्रकृति के बीच रहकर अपने कष्ट को भूल जाता है। प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना बहुत ही सहज है, क्योंकि मनुष्य जन्म से ही प्रकृति प्रेमी होता है। पक्षियों का चहकना, भौरों का गुंजारना, कोयल का कूकना भला किस इंसान को अच्छा नहीं लगेगा। निर्जीव पत्थरों में नारी अहिल्या की सौन्दर्यमयी देह समा जाना, वर्षों तक श्रीराम की प्रतीक्षा में प्रस्तर रूप में रहना, यह प्रकृति का अनुपम संरक्षण एवं सामंजस्य है। इन अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि प्रकृति के अभाव में मानव जीवन असम्भव है और यह भी ध्रुव सत्य है कि पर्यावरण संरक्षण के अभाव में प्रकृति असंभव है। लोक जीवन में प्रकृति और पर्यावरण के प्रति जागरूकता पैदा करना सभी का कर्तव्य है।

लोक आस्थाएँ सदा ही प्रकृति एवं पर्यावरण की संरक्षण रही हैं। वृक्षों में देवता का वास मानकर उसकी पूजा करना, इसका यह तात्पर्य नहीं कि देवताओं को देवालय अच्छे नहीं लगते। इसका तात्पर्य तो यह है कि लोक जीवन में पूजनीय वृक्ष, पीपल, बरगद, नीम आदि सहज में सर्वत्र उपलब्ध रहते हैं। विशालता वाले ये वृक्ष ठंडी छाया देते हैं, पर्यावरण को शुद्ध रखते हैं और इनकी आयु बहुत लम्बी होती है। अतः इन्हें देवता का वास बताकर काटने से, नष्ट करने से रोकना प्रथम उद्देश्य ने ही लोक जीवन में इन्हें पूजनीय बना दिया। लोक जीवन की आस्था रूढ़िवादी न होकर तर्कसंगत एवं समायानुरूप सही और सत्यवादी होती है। यदि प्राचीन काल से ही वृक्षों को पवित्र मानने की आस्था लोक जीवन एवं साहित्य में न पनपती तो आज लोग कई वृक्षों को डायनासोर सा अद्भुत मानकर मॉडलों में ही देख पाते। इसी प्रकार नदियों को भी पवित्र मानकर गंगा, यमुना नर्मदा, कावेरी, सिंधु आदि को पूजनीय बताया गया। गंगा को तो स्वर्ग से पधारी हुई नदी मोक्षदायिनी कहा जाता है। इन आस्थाओं के चलते ही लोक जीवन ने इन नदियों को प्रदूषित नहीं किया, इन्हें बाधित नहीं किया। इन नदियों के जीव-जंतुओं को भी

निर्बाध जीवन जीने दिया जिससे पर्यावरण का संतुलन बना रहा। आज सबसे बड़ी समस्या नदी प्रदूषण की है। शहरों का गन्दा पानी एवं सीवेज लाइनों का मैला, नदी में छोड़ने वाले नगर निकाय एवं ठेकेदार लोक जीवन एवं लोक आस्था के अंग नहीं हैं। काम निपटाऊ एजेंसी एवं काम को अपना मानने में जो फर्क होता है, वही फर्क प्रदूषण फैलाने वाले एवं आस्थावश नदी में डुबकी लगाने वाले में है। बाग-बगीचों में गंदगी फैलाने वाले भूल गये कि लोक साहित्य रामचरित मानस की सीता अशोक वाटिका में रहती थीं। गौतम बुद्ध वट-वृक्ष की छाया में बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था और गंगा शिव की जटा से उतरकर पृथ्वी पर आती हैं।

पृथ्वी का प्रत्येक प्राणी पूर्णतः पर्यावरण पर निर्भर है। जीवन के प्रत्येक परिवर्तन में प्रकृति एवं पर्यावरण समाहित रहता है। लोक जीवन के प्रत्येक पक्ष पर भौगोलिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है। पर्यावरणीय गुणवत्ता एवं सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण के नष्ट होने पर मानवीय चेतना का प्रभावित होना स्वाभाविक है। अतः लोक जीवन का नैतिक दायित्व है कि यह विघटित होते पर्यावरण को बचाने हेतु आगे आये। जीवन की प्रेरणा, मन की शांति, प्रेयसी की आशा एवं प्रेम की भाषा को व्यक्त करने वाली प्रकृति वीरान हो रही है। भौतिकता की अंधी दौड़, संसाधनों का अधिक दोहन, आवासीय योजनाओं का मकड़जाल, कृषि-भूमि पर उद्योगों का विस्तार पर्यावरण के लिए विकट खतरे के रूप में सुरसा-सा मुँह फैलाये खड़ा है।

नियमों का पालन करते हुए नदियाँ अपने प्रवाह की दिशा सुनिश्चित रखती हैं और कभी निश्चित दिशा के विपरीत नहीं बहतीं। नदियाँ ऋतावरी हैं। लोकभाषा में ऋतावरी को प्रकृति के नियमों का अनुपालन करना कहते हैं। इसलिए नदियाँ भारतीय जनमानस की माता हैं, देवी हैं। गंगा मात्र संज्ञा नहीं, बल्कि एक भाव है। वे गंगा हैं, गंगा देवी हैं। गंगा मैया एवं नर्मदा मैया का नाम लेकर लोग डुबकी लगाते हैं, तो उन्हें माँ की गोद में बैठने का आभास एवं अनुभूति होती है। भारतीय चिंतन में पृथ्वी भी माँ है। निर्जीव होकर भी वह मातृभूमि है। शास्त्र कहता है- 'माता भूमि पुत्रो अहं पृथिव्याः' यह पृथ्वी हमारी माता है और हम इसके पुत्र हैं। इसी प्रकार आकाश हमारा पिता है, दोनों हमें जीवन देते

हैं। जीवन में शांति और आनंद भर देना माँ-बाप का कर्तव्य है, धर्म है। धर्म परायण आकाश और पृथ्वी से मानव प्रार्थना है- 'है द्यावा प्रथिविः मिमिक्षिताम्' अर्थात् हे दोनों आकाश-पृथ्वी! आप हम सब प्राणियों (अपनी संतानों) को मधुरस से युक्त करके जीवन में आनंद भर दो। ऋग्वेद का मनीषी पूरी पृथ्वी के कल्याण की कल्पना करता है। भारतीय परम्परा वसुधैव कुटुम्बकम् के सूत्र को आत्मसात करके ही ऐसी स्तुतियों के माध्यम से पूरी पृथ्वी पर मधुरस बिखेरना चाहती है। पूरी सृष्टि में शांति का समर्थक भारतीय ऋषि यजुर्वेद के एक मंत्र के माध्यम से समूची मानवता को शांति देने के लिए पर्यावरण में शांति की कल्पना करता है-

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षः शान्तिः पृथ्वी  
 शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः  
 वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः  
 शान्तिः ब्रह्म शान्तिः सर्वः शान्तिः  
 शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिःरोधिः  
 ॐ शांति शांति शांति ॐ

अंतरिक्ष पृथ्वी के साथ-साथ प्रकृति की अन्य शक्तियाँ जल, वनस्पतियाँ और औषधियाँ शांति प्रदान करें। विश्वदेव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को शांति प्रदान करें। यहाँ पर्यावरण में अशांति से उत्पन्न प्रलयकारी ताण्डव भूकम्प, झंझावात, जलजला एवं अतिवर्षा आदि को शांत रहने के लिए स्तवन किया गया है। अन्तश्चेता ऋषियों को यह तथ्य ज्ञात था कि पर्यावरण के शुद्ध एवं शांत रहने से मानव जीवन एवं पूरी सृष्टि शांत एवं समृद्ध रहेगी। इन्हीं कारणों से उसने शांति शब्द की आवृत्ति से अपनी प्रार्थना को ही शांतिमय कर दिया। जल देवता है, जल से देव को अर्पण एवं पितृ तर्पण दोनों किया जाता है। जल जीवन है तो वायु

प्राण है। प्रकृति ने हमें सहेजने के लिए पंच तत्त्व प्रदान किये हैं, इन्हीं पंच तत्त्वों से मानव जीवन संचालित है। पृथ्वी, आकाश, जल, वायु एवं अग्नि ये पंचमहाभूत जीवन के मूल मंत्र हैं। ये तभी सही ढंग से अनुरक्षित हो सकते हैं जब पर्यावरण शुद्ध होगा।

वैदिक चेतना में पर्यावरण का चिंतन उदात्त दृष्टिकोण रखता है, परन्तु लोकचेतना में पर्यावरण परम्परागत रूप से चर्चित है। लोकगीतों में बारहमासा का वर्णन होता है। प्रकृति के बारह महीनों के गुण-धर्म का प्रभाव मानव जीवन पर पड़ता है। ऋतु परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते विरही नायिका के मनोभावों के माध्यम से बारहमासा का वर्णन अधिक हुआ है। यहाँ प्रकृति कल्याण का कारक कम और जीवन की संगी-साथी अधिक दिखती है। मानव के दुःख-सुख में प्रकृति उसके साथ खड़ी नजर आती है। प्रकृति विरहिणी के विरह में घी का काम करती है, जिससे उसकी भावनाएँ उद्दीपन हो उठती हैं। और प्रकृति ऋतुओं का प्रभाव उसके लिए कष्टदायी हो जाता है।

सावन श्याम चले मधुवन को, कैसे रहब अकेली ना।  
 असाढ़ मास घने घन गरजै, सावन रिमझिम बरसे ना।।  
 भादों मास भयावन सजनी, पिया क देखु सपनवा ना।  
 कुंवार मास मोहि घाम सतावे, कार्तिक लगे सुहावन ना।।  
 अगहन मास पिया घर नाही, सब सखी चलीं गवनवा ना।  
 पूस मास मोहि जाड़ा सतावै, मघवा में काँपै करेजवा ना।।  
 फागुन मास केकरे संग खेलऊँ, पिया मोर छाये बिदेसवा ना।  
 चैता मास बन टेसू फूले, बैसखवा लिखे अनवना ना।  
 जेठ मास अब भयऊँ निरसवा, गावत बारहमसवा ना।।

अवधी के इस सुंदर लोकगीत के माध्यम से मानव मन के मनोभावों को पर्यावरण के प्रभाव के अनुरूप करते दिखाया गया है।



## गोण्ड जनजातीय परम्पराएँ

जगप्पति आनंद ज्योतिषी

जनजातीय समुदाय की परम्पराएँ अपनी विशिष्टताओं के लिये चर्चित रही हैं। उनकी सांस्कृतिक निधि को लेखकों-कलाकारों ने अपने तरीके से परखने का प्रयास किया है। सभी के अपने नजरिये हैं। जनजीवन के मध्य जाकर कुछ ने उनके सांस्कृतिक सौरभ को समझने का प्रयास किया, तो कुछ ने पुस्तकालय में बैठकर उनके सांस्कृतिक वैभव को परखने का यत्न किया। दोनों तरीके के लिखने वालों का लेखन समसामयिक और यथार्थ जीवन से दूर होकर शिक्षित जन-समुदाय के लेखन का विषय बनता गया।

जनजातीय समाज विकास की धारा से अनुप्राणित होकर विकासोन्मुख हुआ और स्वातंत्रोत्तर काल में अनेक सामाजिक परिवर्तन उनमें आये। इस विकासोन्मुख बदलाव ने उन्हें प्राचीन और नवीन के मध्य लाकर खड़ा कर दिया। शिक्षित जनजातीय समुदाय अन्य जन-समुदाय से प्रभावित होकर एक नवीन जीवन-शैली के साथ समरस होता गया। क्रान्तिकारी परिवर्तन की इस कालयात्रा में, अब उसके मूल स्वरूप, सांस्कृतिक मूल्यों और धरोहर को पहिचानना कठिन होता जा रहा है। हम यहाँ पर उनके इसी सांस्कृतिक स्वरूप को, उसके मूल आकार को रेखांकित करने का प्रयास कर रहे हैं।

सम्पूर्ण सांस्कृतिक आधारों पर चर्चा करना हमारा विषय है न लक्ष्य। यह स्वतंत्र शोध का विषय है। इसलिये हमने मंडला और डिंडोरी की जनजातियाँ, विशेषकर गोंड जनजाति के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है। सम्पूर्ण जीवन-शैली को न देखकर उसके एक वैवाहिक पक्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। विराट जीवन-शैली के मध्य समाज की वैवाहिक परम्परा का विहंगम स्वरूप उनके तत्कालीन जीवन मूल्यों का प्रकटीकरण है। युगीन प्रभाव से मुक्त रहकर उनके दूरदराज और अरण्यांचल में बसे परिवारों तक पहुँचने का यह एक विनम्र प्रयास है। यहाँ हम एक विशेष लक्ष्य से, एक विशेष दृष्टि से यह विचार कर रहे हैं, इसलिये इस पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

## अभिनय

अनुकरण की प्रवृत्ति, मानव सभ्यता के प्रारंभ से ही देखी जाती है। एक दूसरे की नकल उतारना, हास-परिहास का प्रारंभिक उपादान है। चलने की, बोलने की, उठने-बैठने की, बतियाने की प्रत्येक व्यक्ति की अपनी शैली होती है। जनजातीय समाज में जब कोई मनोरंजन के साधन नहीं थे, तब किसी की परभितिया में, आँगन-परछी में, आसपास के लोग एकत्रित होते। बैठते, चिलम तमाखू की होती। पुरुष-महिलायें सभी होते। तब कुछ मसखरे स्वभाव के नवयुवक लोगों का मनोरंजन करते और हँसाते।

एक दो लड़के जोकर बनते। जोकर की विचित्र वेशभूषा धारण करते। उनकी सज्जा, वस्त्र और भाव-भंगिमायें हास्य सृजन करने में सहयोगी होते। एक दो लड़के उनकी जोकराइन बनते, महिला बनते। उनकी वेशभूषा भी जन-सामान्य की वेशभूषा से हटकर होती। जोकर मसखरी भरे स्वभाव में अपनी बातें कहता। लाठी का घोड़ा बना लेता और अपनी घुड़सवारी के करतब दिखाता। बूढ़ों की, बुढ़िया की चाल दिखाते। किसी का हँसना तो किसी का रोना दिखाते। झुकी कमर वालों के चलने की नकल, हकलाने वालों की बोलने की नकल, टूटे दाँतों वाले पोपलेमुख से निकलने वाली वाक्यांजलि की नकल, लंगड़े और लूलों की नकल, चोरों की करामतों की नकल, रात में बगीचे से आम की चोरी के तरीके की नकल, अलग-अलग लोगों के पहिनावे की नकल, घर-पनघट और खेत-खलिहानों में होने वाली झड़पों के तौर-तरीकों से सम्बन्धित उनके विषय होते।

जोकर भिन्न-भिन्न प्रकार की मुखाकृतियाँ बनाते। नाक, कान किसके, कैसे हैं-बताते। बीच-बीच में लोकगीत बना-बनाकर गाते और लोगों को रिझाते। हू-ब-हू और अच्छे करतब दिखाने पर गाँव के मिनपुरुआ, मिहिरिया थपोड़ी बजाती और उनकी कला को प्रोत्साहित करती। जोकर-जोकरानी कभी दर्शकों से इनाम भी पा जाते। ऐसे मसखरे अपने इलाके में प्रसिद्ध होते। इलाके के लोग उनकी प्रशंसा के पुल बांधते। इस रूप में इन कलाकारों की क्षेत्र में समीक्षा होती। कौन अच्छा है और कौन में क्या कमी है, इस पर अनायास ही चर्चायें हो जाती। इस प्रकार की जन समीक्षा से कलाकार अपनी कमियों को सुधारते।

एक चिकाड़ा होता और एक दुलकी। ये ही उनके संगीत

के सहारे होते। ज्यादा हुआ तो कोई मंजीरा वाला या खरताल वाला उनके साथ बैठ जाता। गाँव में एक चिकाड़ा बजाने वाला और कुछ दुलकी बजाने वाले जरूर होते। उन्हें महत्त्वपूर्ण माना जाता। ऐसे अवसरों में उन्हें ससम्मान बुलाते। इस रूप में जनजातीय समुदायों में अभिनय कला के दर्शन होते। जोकर-जोकराइन को सम्मानित व्यक्ति माना जाता। क्योंकि वे गाते-बजाते इन्हीं से गाँव वालों का मनोरंजन करते। जोकराई करना सम्मानजनक काम था।

## रंगमंच

जनजातीय समाज में जब कभी मनोरंजन की पारी आती, तो जहाँ करतब दिखाये जा सकें। वही रंगमंच बन जाता। न कोई पाल-परदा, न कहीं मलगा-बाँस।

बड़ी और खुली परछी का बड़ा अँगना या परभितिया में चटाई या कम्बल-चदरा, जो मिलता बिछ जाता। सामने तिराहा-चौराहा मिल जाये तो और अच्छा। लोगों को बैठने की जगह मिल जायेगी। यदि किसी की बाड़ी मिल गयी तो और अच्छा। यही उनका स्थानीय रंगमंच होता। एक किनारे साज वाले अर्थात् चिकाड़ा, दुलकी, मंजीरा या खरताल वाले बैठ गये।

रंगमंच का चयन कलाकार नवयुवक अपने काम के लिहाज से खुद चुन लेते। पीछे की दीवाल परदा का काम कर देती। दायें-बायें चदरा या धुतिया टांगकर परदे बन जाते। परछी के खम्भे उपयोगी हो जाते। यदि खूँटा मिल जाये, तो ठीक, नहीं तो खटिया-पलका दायें-बायें खड़ा कर इसमें चदरा, धुतिया लटका देते।

उजाले के लिये लालटेन या बखरंडा (रतनजोत) के भपका से काम चल जाता। बखरंडा के बीज छीलकर, उसके सफेद बीज को लम्बी सीक में छेद लेते और ऊपरी छोर को जला देते। यही भपका घंटों जलता। डिब्बी और चिमनी भी उपलब्ध हो जाते हैं। गाँव में किसी के यहाँ कण्डील मिल गई तो और अच्छा। पर इन सबकी बहुत आवश्यकता नहीं होती। मिल गये तो ठीक, नहीं तो काम रुकता नहीं चल ही जाता है। सब कुछ प्राकृतिक।

## वाद्य यंत्र : मांदर

जनजातीय समाज में वाद्य-यंत्र भी सीमित रहे। भिन्न-भिन्न

अवसरों में इनका प्रयोग होता। सबसे उपयोगी वाद्य-यंत्र मांदर रहा। बिना मांदर उनका काम नहीं चल सकता। बिना मांदर न नृत्य हो सकता, न गीत गाये जा सकते। मांदर कच्ची मिट्टी को पकाकर बनाया जाता। पकने के बाद उसमें गेरू पोत दिया जाता। मांदर की लंबाई लगभग ढाई फुट होती है। थोड़ा कम-अधिक हो सकता है, वादक की ऊँचाई के मान से। भीतर से पोला रहता है। लम्बाई में एक सिरा अधिक चौड़ा होता है और दूसरा सिरा पतला। दोनों किनारों में चमड़े का खोल मढ़ा जाता है, जो चमड़े की रस्सी से कसे होते हैं। रस्सी के कसाव के लिये लकड़ी के गुट्टे फंसाये जाते हैं। बड़े मुँह के छोर वाले हिस्से में चमड़े के बीचों-बीच भाव चिपकाया जाता, जिससे बम की आवाज होती। दूसरे छोर के चमड़े में रार आदि चिपकायी जाती। दोनों छोरों से एक रस्सी बंधी होती। वादक अपने कंधे में लटका लेता, फिर बजाता। कुछ कमर में भी बाँध कर बजाते।

### टिमकी

मांदर बजे और टिमकी न बजे, ऐसा हो नहीं सकता। टिमकी की बनावट परैयानुमा होती है। इसे भी मांदर की तरह मिट्टी से बनाते हैं और काला रंग पोत देते हैं। आकों में जो ढँकना होता है, उसको और बड़ा तथा गहरा कर लेते हैं। उसके इस हिस्से में चमड़ा मड़ दिया जाता है। नीचे पेटी में एक गुटनी होती है, जिसके सहारे चमड़े का खोच बना रहता है। बेत, बाँस या लकड़ी के लगभग एक फुट डंडे छीलकर और चिकने बनाये जाते हैं। इन्हीं दण्ड के सहारे इन्हें बजाया जाता है।

### शैला

बाँस या लकड़ी के डंडे से बने होते हैं, जो डेढ़ इंच व्यास के होते हैं। लंबाई लगभग डेढ़ फुट होती है। सुन्दरता के लिये इन्हें रंग या कागज से सजा लेते हैं। इसे दोनों हाथों में रखते हैं। नृत्य के समय नर्तक आपस में एक-दूसरे के डंडों से टकराकर बजाते हैं। साथ ही अपने डंडों को आपस में टकराकर ध्वनि निकालते हैं। मुख्य रूप से शैला का उपयोग शैला नृत्य में होता है। बिना शैला के शैला नृत्य ही नहीं सकता। इससे नृत्य में चार चाँद लग जाते हैं।

एक समय था बोंदर (मंडला जिला) का शैला नृत्य। देश

की राजधानी के गणतंत्र दिवस समारोह में आकर्षण का केन्द्र था। इस समारोह में उसने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया था। तब से शैला नृत्य की ख्याति राष्ट्रपति स्तर की हुई। इसी नृत्य से प्रभावित होकर व्ही. शांताराम ने मंडला जिले के लोक नृत्यों का प्रथम बार फिल्मांकन किया। फिल्म का नाम था-इनक-इनक पायल बाजे।

### शावनाव

यह बाँसुरी का ही एक रूप है, जो बाँस से बनी होती है। बाँस न बहुत मोटा हो न पतला। मध्यम श्रेणी का हो। प्रथम गांठ के दायें-बायें एक-एक कुल दो छेद होते हैं। शेष भाग में पाँच, सात या नौ छेद होते हैं। लोहे की कील जैसी नुकीली धातु को आग में तपाकर ये छेद बनाये जाते हैं। इसकी एक ही धुन निकलती है, जो वाद्य-यंत्रों एवं गायकों की ध्वनि में मिटास भरने का काम करती है। इसे बाँसुरी के समान फूँक से बजाया जाता है। इसे फोहरा भी कहते हैं।

### चटकूले

चटकूले हाथ से बजाया जाने वाला वाद्य यंत्र है। यह दो प्रकार का बनता है। प्रथम बाँस निर्मित और दूसरा लकड़ी निर्मित। प्रथम बाँस निर्मित चटकूला, बाँस को फाड़कर, छीलकर एवं साफ कर दो पट्टियाँ तैयार की जाती हैं। दोनों पट्टियों के दोनों छोर में छेद किये जाते हैं। बाँस की एक तीसरी पतली पट्टी छील कर तैयार की जाती है। इस तीसरी पट्टी को अर्द्ध वृत्त में मोड़कर ऊपर की पट्टी के दोनों छोरों से छेद कर नीचे दूसरी पट्टी के दोनों छेदों पर कसाकर सख्त कर देते हैं, ताकि नीचे की पट्टी के छेदों में यह अच्छी तरह बैठ जाय। ऊपर की पट्टी आसानी से नीचे ऊपर हो सकती है। ऊपर की पट्टी को नीचे गिराकर एवं दोनों पट्टियों को टकराकर ध्वनि उत्पन्न की जाती है।

दूसरा लकड़ी से बनता है। लगभग आठ इंच लंबे, दो इंच चौड़े और एक इंच मोटी लकड़ी छीलकर चिकनी बनायी जाती है। ये चार बनती हैं। एक हाथ के लिये दो, दूसरे हाथ के लिये दो। दोनों हाथों की अंगुलियों और अंगूठे में फंसाकर बजाया जाता है। दो पट्टियों में अंगूठे के नाप के छेद होते हैं और दूसरी पट्टी में दो-दो छेद किये जाते हैं। प्रथम छेद तर्जनिका के लिये और दूसरा छेद मध्यमा और अनामिका के लिये किया जाता है। दोनों हाथों

के अंगूठे में एक-एक पट्टी पहिन ली जाती है, फिर दूसरी पट्टी अंगुलियों में पहिन ली जाती है। अंगुलियों और अंगूठे की पट्टियों को आपस में टकराकर बजाया जाता है।

### झुनझुना

हाथ के पंजे से पकड़ने के लिये लकड़ी की एक मुठिया होती है। इस मुठिया को सुघर बनाने के विभिन्न तरीके हो सकते हैं। मुठिया के दोनों छोर में छेद करते हैं। फिर लोहे का मोटा तार लेकर उसे गोलाकार मोड़ते हैं। उसमें टीन की गोल पत्तियाँ काटकर, उनके बीचोबीच छेद कर, उन्हें लोहे के तार से गँथ देते हैं, जैसे माला बनाने के लिए फूल गूँथते हैं। फिर पत्तियाँ गुँथे तार के दोनों छोरों को मुठिया के छेदों में तार के दोनों छोर फंसा देते हैं। नृत्य-गीत के अवसर पर इसे हाथों से बजाया जाता है।

### तुरही

यह भी प्राचीन वाद्य-यंत्र है, जिसे फूँककर बजाया जाता है। यह पीतल और तांबे से बनाया जाता है। यह अंग्रेजी के एस आकार का होता है अथवा संस्कृत के प्रश्नेष आकार का होता है। लंबा होने के कारण एवं लाने ले जाने की सुविधा के लिये इसे तीन अलग टुकड़ों में बनाया जाता है। बजाने के पहले तीनों टुकड़ों को यथा स्थान जोड़ लेते हैं।

### तारी-गुदुम

तारी-गुदुम को अधिकांश लोग नगाड़ा के नाम से जानते हैं। नगाड़ा जोड़े के रूप में होता है। जोड़े में से एक को तारी और दूसरे को गुदुम कहते हैं। मिट्टी से बने और आग में पकाये गये ये ढोल टिमकी के ही वृहद रूप हैं। इनकी आकृति विशाल गोलाकार पिंड के आधे भाग के बराबर होता है, जिसमें डेढ़ मीटर का वृत्ताकार चमड़ा मढ़ा होता है। नीचे पेंदी में एक गुदुनी की सहायता से चमड़े की तांत या रस्सी से ढोल के ऊपर का चमड़ा कसा जाता है। जोड़े में से एक ढोल बड़ा और एक उससे कुछ छोटा होता है। छोटे को सामने सीधा रखकर और बड़े ढोल को छोटे की ओर लुढ़काकर रखा जाता है।

बेंत-बाँस या लकड़ी के पतले और लगभग तीन फुट लंबे डंडे से इन्हें बजाया जाता है। इनकी ध्वनि तेज और आह्लादकारी

होती है। जनजातीय समाज में बिना इन्हें बजाये शादी का मजा नहीं आता।

### नृत्य

नृत्य और गीत का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जनजातीय समाज में ऐसा कोई घर नहीं, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसे नृत्य करना न आता हो। लोकगीत गाना न आता हो। इसलिये नृत्य और गीत उनके समाज के, उनके जीवन के अभिन्न हिस्से हैं। ऐसे व्यक्ति खोजे न मिलेंगे, जिन्हें नृत्य और गीत के ज्ञान से रहित कहा जा सके। जनजातीय समाज की यह सबसे बड़ी विशेषता है। नृत्य और गीत को जीवन में समाहित कर लेना कोई उनसे सीखें। नृत्यकला और गायनकला का ऐसा अद्भुत प्रयोग केवल जनजातीय समाज में मिलेगा। इस रूप में, इन कलाओं को आत्मसात करने वाला यह समुदाय कला के क्षेत्र में सबसे समृद्ध है। सर्वाधिक वैभवशाली है।

कहना यह चाहिये कि नृत्यकला और गायन कला में पारंगत ये लोग महान कला पारखी हैं। कब और किसने इसकी शुरुआत की-पता नहीं। पर जिसने भी की, उसने यह कल्पना भी न की होगी कि वह समाज को क्या दे रहा है। उसका कलाप्रेम कला को कभी जीवन का अभिन्न अंग बना देगा। उसका यह विनम्र प्रयास आज लोक व्यापक है। इन कलाओं में सब समाहित है। इन कलाओं के व्यापक स्वरूप में अभिनय, रंगमंच सब कुछ लीन है। नृत्य, उसमें पैरों की थिरकन, कमर की लोच, कलाइयों की कशमकश, हाथों की मुद्रायें, उंगलियों में कम्पन तथा घुमाव, और चेहरे में अभिव्यक्त नैसर्गिक भाव मुद्राओं-समवेत रूप में जो लास्य उनके नृत्यों में दृष्टिगोचर होता है। उसे अलग कर पाना दुरुह है। कठिन काम है। ऐसे में गोस्वामी तुलसीदास की निम्न पंक्तियाँ उभर आती हैं-

*गिरा अनयन नयन बिनु बानी।*

इसलिये श्रृंगार, हास-परिहास और जीवन के विभिन्न परिदृश्यों की नैसर्गिक अभिव्यक्ति उनकी कलाओं में है। उनके नृत्य और गीतों में है।

अनुकृति और प्रतिकृति में भाव इतना है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे एक दूसरे से सीखते जाते हैं। सहजता से देखकर सीख

लेते हैं। नृत्य-गीत और उनके अभिनयात्मक स्वरूप की विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप नृत्यों का चयन और गीतों की रचना से स्वयं सीख लेते हैं। इसके लिये किसी सिखाने वाले की आवश्यकता नहीं पड़ती। बजाने वाले की जरूरत नहीं होती। इसलिये कि ये उनके जीवन के अंग हैं।

नृत्य में कब और किस तरह पैरों की गति होगी, उनका संचलन कब-किस गीत में विषय के अनुरूप किस नृत्य में कैसा होगा? वे बारीकी से इसे देखते-समझते और सीखते हैं। उन्हें शब्दों में बांधना कठिन है। अभिव्यक्त कर पाना संभव नहीं। क्षण-क्षण पैरों के बदलने से लेकर और उसी के अनुरूप मचलते हाथों की हरकतें, एक साथ साम्य लिये होती हैं।

उनके जीवन में कला का सर्वोपरि रूप समाया है। इसलिये कला के गुण का विकास उनके जीवन में है। उनका कलाप्रेम, उनके गीतों के प्रश्नोत्तरों में है। और कभी-कभी तो इन्हीं प्रश्नोत्तरों में जीवन-साथी मिल जाते हैं। यह कलाप्रेम विवाह के लिए निर्णायक बन जाता है। उनका कलाप्रेम दो हृदयों को एक कर देने तक चलता है। नृत्य और गीतों के माध्यम से प्रणय अभिव्यक्तियाँ जीवन संगी की तलाश करती रहती हैं। और उन्हें एक विवाह सूत्र में बांध देती हैं। उनके कलाप्रेम का यह चरम बिन्दु होता है। उनकी जीवन की निर्णायक भूमिका प्रस्तुत करता है यह कला प्रेम।

इसलिये जनजातीय समाज में, कला के कलात्मक गुणों का सहज विकास, अपने आप में अपूर्व है। बाह्य दृष्टि से हम उसे देखकर चाहे तो सोचें, चाहे जो समझें, चाहे जो लिखें, वह हमारी सोच है। किन्तु वे क्या सोचते हैं, उनके जीवन की गहराई में उतरकर सोचने और देखने की बात है, विषय है। इस प्रकार यदि हम उनकी कला के विभिन्न पहलुओं के बारे में अध्ययन करें तो वह न्याय संगत नहीं होगा। और हम उनके साथ न्याय करते भी दिखायी नहीं देंगे। उन्हें अलग-अलग करके देखा भी नहीं जा सकता। जनजातीय समाज का जीवन दर्शन ही कलामय हो गया है।

आधुनिक समाज इससे वंचित होता जा रहा है। यह विचारणीय है। जो विरासत हमें धरोहरों के रूप में मिली है, उसका न्यायिक संरक्षण आवश्यक है। वह हमारी पहचान है।

इसे हम न भूलें। हमारे कलाप्रेम की ये सौगातें, हमारी अपनी हैं। इससे हम हटने का, बचने का प्रयास न करें। उसे बचाकर, उसी रूप में संजोकर रखने का, उसी रूप में स्वीकार करने का हमारा दायित्व है, धर्म है।

जब भी मांदर में हाथ की थाप पड़ती है, तब थिरकते पैरों और मचलते हाथों में उल्लास का मादक नशा छा जाता है और बियावान जंगल में नृत्य और गीत का माधुर्य, महुआ के फूलों की सोंधी सुगंध-सी सम्मोहक धुनों से एक नयी बहार आ जाती है। समूचा वन प्रान्त झूम उठता है। उसकी गूँज मानव हृदयों के पार होती हुई वन्य प्राणियों के अन्तराल तक पहुँचती है। जैसे क्षणभर के लिये सब कुछ भूलकर, धरती में स्वर्ग उतर आया हो। परिस्थितियों की विषमताओं को विस्मृति के गर्व में बहाकर आनंद का सागर लहरा जाता हो। क्या पता कृष्ण की रासक्रीड़ा की अनुभूति भी इसमें मिलती हो। कला प्रेम के ये दुर्लभ दृश्यांश इन्हें छोड़ अन्यत्र कहाँ मिलेंगे?

## विवाह

विवाह जीवन की सर्वाधिक किन्तु महत्त्वपूर्ण परम्परा है। यह 'एकोअहं बहुष्यामि' की भावना को प्रस्तुत करती है। वनांचल की बसाहटों में अभी भी जनजातियों के संस्कारों की मूल प्रवृत्तियों की झलक मिलती है। जो वर्तमान की परम्पराओं से हटकर उनके सोच और उनकी जीवन दृष्टि का आलोक बिखेरती है। किताबी संस्कृति से परे वह सहज-सरल जीवन और सादगी से भरे अह्लादकारी क्षण उनके अपने हैं। उनकी सामाजिक अवधारणाओं और यथार्थवादी व्यवहारिक सोच वर्तमान में भी मूल्यवान है, जिसे हम चाह कर भी अनदेखा नहीं कर सकते।

शहरी या कस्बाई बसाहट जनजातीय बसाहट का अंग कभी नहीं रहा। वे ग्रामों की बसाहट में बसने वाले इंसान थे। कृषि भूमि की पर्याप्तता, शुद्ध वायु और सीमित आवश्यकताओं से उनका अटूट रिश्ता रहा। वे प्रकृति पुत्र हैं। अतः जंगली निर्झर की भाँति उन्मुक्त और स्वच्छन्द जीवन जीने की कला में माहिर थे। स्वावलंबन उनकी कार्यशैली के मूल में है। बाह्य वैभव के जाल में वे कम से कम उलझे। सीमित किन्तु अत्यावश्यक ही उनके जीवन से सम्बद्ध रहा। संग्रह की प्रवृत्ति और उससे जन्मी कुत्सित इच्छाओं से वे अनभिज्ञ रहे। इसलिये मानवीय जीवन



मूल्य को वे पूरी ईमानदारी के साथ आत्मसात कर सके। यही उनके सांस्कृतिक जीवन की प्राण शक्ति है। उनकी सांस्कृतिक पहचान है। आज भी वैदिक काल का ऋषि उनमें जीवित है। अरण्यों की सोच और उपनिषदों की समझ उनमें दर्शित है।

जीवन की सबसे मर्मस्पर्शी और आनन्ददायी घटना है विवाह। वैयक्तिक जीवन-शैली से हटकर युग्म जीवन-शैली के अवतरण के साथ जीवन की यथार्थता को स्वीकार कर, उसमें स्वयं को ढालने का, पारिवारिक परिवेश की सहभागिता का यह महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है। स्नेहिल वातावरण में जीवन के विभिन्न अध्यायों का प्रशिक्षण यहीं होता है। दूसरों के महत्त्व को स्वीकार कर समर्पण युक्त जीवन जीने की कला यहीं सीखी जाती है।

जनजातीय समुदाय में वैवाहिक कार्य कुछ हटकर समझ-बूझ भरे होते हैं। जब हम इसे गंभीरता से नहीं समझ पाते तो चूक कर जाते हैं। किसी घर में, किसी चौपाल में अथवा कोई सामाजिक-धार्मिक अवसर पर जब परिजन उपस्थित होते हैं, वहाँ वैवाहिक चर्चा का शुभारंभ होता है।

इस समाज में विवाह की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। एक लमसेना पद्धति जिसे घरजंवाई पद्धति कहते हैं। दूसरी लगुन शैली जिसे सामान्य विवाह पद्धति कह सकते हैं। लमसेना (घर जंवाई पद्धति) का मूल कारण निर्धनता है। जब कन्या पक्ष आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो और वर पक्ष निर्धन हो तो घरजंवाई की भूमिका स्वमेव बंध जाती है। वर पक्ष निर्धन हो, भूमि कम हो संताने अधिक हों और भूमि का बँटवारा उन्हें निर्धन बनाने की स्थिति में हो तो पिता के मन में अपने लड़के को किसी के घर जंवाई बनाकर बिठाने की बात उपजती है। इसके विपरीत कन्या पक्ष आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो और भूमि भी पर्याप्त हो, साथ ही सन्तानें कम हो अथवा मात्र लड़की हो तो उसके मन में घरजंवाई लाने की इच्छा उठती है। इस प्रकार दोनों पक्ष एक दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति करने वाले बन जाते हैं।

बस, फिर किसी समय, किसी के घर कोई ऐसा अवसर आये कि लोग इकट्ठे हो, वहाँ इसकी चर्चा प्रारंभ होती है। 'तोर हिंया लड़की हवै और तोर हिंया लड़का हवै। तय लड़का ला घर जंवाई बना के रख लेवे। प्रस्तावक घर का या गाँव का कोई भी सयाना हो सकता है। सम्बन्ध गाँव का गाँव में, पास में हो जाता

है। सुबह-शाम मुलाकात हो जाती है। एक दूसरे के सुख-दुःख में हिस्सेदारी रहती है। पास का रिश्ता सबसे अच्छा। कहीं कोई दूरी नहीं। अलग से कोई खर्चा-पानी नहीं। मोटर-गाड़ी का कोई खर्चा नहीं। सम्पन्न और विपन्न की यह रिश्तेदारी खूब निभती है। न कोई भेद-भाव न अमीरी-गरीबी की कोई झंझट। एक-दूसरे को समझने-परखने का पूरा अवसर प्राप्त होता है। सभी का ऐसा सम्बन्ध टिकाऊ भी होता है। समाज के दो वर्ग को पाटने का यह सेतु वर्तमान के संदर्भ में भी उपयोगी हो सकता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में भाग्य पर भरोसा रखने वालों का अभाव नहीं। इसलिये लमसेना पद्धति को कुछ लोग भाग्यवादी परम्परा समझते हैं। लमसेना पाँच पंच के सामने दिया जाता है। लमसेना लड़की के घर रहने वाले उस लड़के को कहते हैं, जो वहीं रहे-वहीं खाये और वही करे जो लड़की चाहे या लड़के के माता-पिता कहें या चाहें।

लमसेना लड़की के घर में सबसे छोटे भाई के रूप में रहता है। सभी उसे इसी रूप में मानते हैं। इसमें उमर का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। लड़का या लड़की कोई भी कम-अधिक उमर का हो सकता है। कहने का मतलब यह कि उमर में लड़की छोटी हो ऐसा जरूरी नहीं है, लड़का भी हो सकता है। अधिक अन्तर नहीं रहता। जब काफी समय बीत जाता है, तब विवाह आदि का विचार आता है। इस बीच लड़का-लड़की को और लड़की-लड़के को अच्छी तरह समझ लेते हैं। दोनों की सहमति होने पर विवाह की चर्चा की जाती है। दोनों की सहमति के साथ घरवालों की भी सहमति हो जाती है।

### बारह धिनौची पानी

पुराने समय में एक कहावत का प्रचलन था कि लमसेना को एक रात में बारह खाट की रस्सी कातना पड़ता या बारह धिनौची पानी भरना पड़ता। यह लमसेना की शारीरिक क्षमता की परीक्षा के लिए था। यह भी संभव है कि यह मात्र कहावत रही हो। बारह धिनौची का पानी भरना संभव है, पर एक रात में बारह खाट की रस्सी कातना असंभव है। केवल साहस और स्फूर्ति के मूल्यांकन के लिए ऐसा कहा जाता रहा होगा। हाँ, यह सच है कि लमसेना को घर के अन्य सदस्यों से अधिक कार्य करना पड़ता है। दो-चार साल लमसेना रहने पर विवाह की चर्चा का अवसर



आता है। विवाह के बाद लमसेना को एक भाई की सम्पत्ति के बराबर हिस्से का स्वामित्व दिया जाता है।

लमसेना के प्रमुख तीन रूप देखने को मिलते हैं-

सर्व सहमति लमसेना, लड़की प्रियतम लमसेना और घर घुसरा लमसेना

### सर्व सहमति लमसेना

इस लमसेना के लिये पहले लड़की वाले करते हैं। लड़के वाले नहीं। लड़की के माता-पिता पंच लेकर लड़के के यहाँ आते हैं और लड़के के माँ-बाप को समझाकर तैयार करते हैं। चार पंचों के सामने आश्वासन दिया जाता है कि लड़के को पुत्र के समान रखेंगे और सम्पत्ति का भागीदार भी बनायेंगे। इस पद्धति में टिकाऊपन रहता है। सम्बन्ध टूटने के अवसर नहीं के बराबर रहते हैं।

### लड़की प्रियतम लमसेना

इसमें प्रेम की प्रधानता रहती है। यदि लड़का निर्धन है और लड़की धनी तथा दोनों के बीच प्रेम हो जाता है तो लड़की की इच्छा से लड़की के माता-पिता लड़के को लमसेना रख लेते हैं। लड़का-लड़की दोनों अपना अच्छा-बुरा समझने योग्य होते हैं। अतः यह सम्बन्ध भी टिकाऊ होता है। कभी-कभी स्वयं द्वारा एक दूसरे का चुनाव कर किसी रिश्तेदार के यहाँ जाकर विवाह कर लेने की परम्परा भी है। इसे लै-भाग लमसेना भी कहते हैं। इससे दोनों अपनी मर्जी से चलने के आदी होते हैं। अतः सम्बन्ध विच्छेद की संभावना भी बनी रहती है।

### घर घुसरा लमसेना

माता-पिता द्वारा विवाह कर दिये जाने पर भी लड़का कभी विवाहित लड़की के घर पहुँच जाता है। और लमसेना बनने की इच्छा व्यक्त करता है। यदि लड़की और उसके परिवार की सहमति मिल जाती है तो वह वहीं लमसेना बन रह जाता है। और लड़की के साथ रहना शुरू कर देता है। इसे घर-घुसरा लमसेना या दास-लमसेना कहते हैं।

लमसेना विवाह पद्धति में कभी विवाह सम्बन्ध टूटने की स्थिति आ जाती है तो (जुर्माना) दण्ड भरना पड़ता है। यदि टूटने

की पहल लड़की की ओर से होती है, तो लड़के को और लड़के की ओर से पहल होती है तो लड़की को खाना-खर्चा देना पड़ता है। पारम्परिक रूप से 'बाई के बाइस रूपये और अनाज (अनाज में चावल, दाल, कुटकी, रमतिला आदि) अनाज जो पंच तय कर दें, वही मान्य होता है।

### सामान्य विवाह परम्परा

वैवाहिक कार्यक्रम की शुरुआत शैला नृत्य के साथ होती है। वह पक्ष लड़की की तलाश में रहता है। अपने परिचितों-रिश्तेदारों से जानकारी एकत्रित करता है। कहाँ करना है, रस का निश्चय होने पर ग्रामवासियों से चर्चा होती है। चर्चा में नृत्य तिथि का दिन निश्चित किया जाता है। फिर नृत्य की तैयारी की जाती है। इसमें शैला नृत्य की तैयारी की जाती है।

### शैला-विवाह का शुभ प्रतीक

नृत्यों का बादशाह शैला केवल प्रमुख नहीं है, अपितु जनजातीय वैवाहिक कार्यक्रमों का प्रारंभकर्ता भी है। विवाह की शुरुआत ही नृत्य और संगीत से होती है। दाम्पत्य जीवन नृत्य की विभोरता से प्लावित हो। संगीत की मधुरता उसमें समाहित हो, तब जीवन-जीवन लगता है। विवाह की सुखद अभिलाषाएँ इसी रूप में अभिव्यक्त होती हैं। इसमें शैला नृत्य की ही परम्परा है।

गाँव के लोग शैला लेकर लड़की वाले के यहाँ जायेंगे। लड़की वाले के गाँव पहुँचने पर गाँव वाले उनका टीका करेंगे। टीका में नारियल, सुपारी से सम्मान व्यक्त किया जायेगा। बिना खाये-पीये कोई बात नहीं। खाने-पीने के बाद नृत्य की मादकता की धूम होती है। झूमते गाते हैं। कोई औपचारिकता नहीं। सब कुछ यथार्थ के धरातल पर होता है। दिन में शैला नृत्य होगा तो रात में करमा नृत्य। नृत्य के समाप्त होने पर वापसी होगी। वापसी के समय फिर टीका किया जाता है।

अब विवाह की चर्चायें होती हैं। एक दूसरे को जानने-समझने की बात होती है। लड़की पक्ष वाले फिर वही बात कहते हैं-'बाई के बाइस रूपये.....आदि। ये चर्चा गाँव के चार सियानों के बीच होती है।

### शकुन

विवाह की बात हो जाने के बाद शकुन देखा जाता है।

शकुन देखना से अभिप्राय है शादी का बैठाना। सबसे पहले गाँव-खरखा का मिलान किया जाता है, फिर लड़का और लड़की के गोत्र का मिलान किया जाता है इसके बाद क्रमशः समधी-समधिन, लड़का-लड़की, दोषी, सुवासा-सुवासिन, आदि सगुन मिलान करते हैं। जिसके नाम से शकुन बैठ जाय, वही सुवासा-सुवासिन होते हैं।

कांसे के लोटे में जल भरकर बीच में रख लेते हैं। सभी आसपास बैठ जाते हैं और सगुन देखते हैं। एक हाथ में धान लेकर उसी हाथ से वह छीलता है, अर्थात् अँगूठे और उंगलियों की सहायता से एक हाथ से ही धान को छीलकर चावल बनाता है। फिर छिले हुए चावल को अँगूठा और उंगली की सहायता से लोटे के पानी में डालते हैं। बारी-बारी से सभी के नाम से डालते हैं, जिसके नाम से चावल मिल जाये, वही सुवासा होता है। इसी तरीके से विवाह बैठाया जाता है।

### मण्डप काटना

गाँव में मंत्र आदि का जो जानकार होता है, वही दोषी होता है। वही शादी का काम कराता है। दोषी और सुवासा के साथ गाँव के कुछ लड़के-लकड़ी लाने जंगल जाते हैं। सालहे की लकड़ी ही लाई जाती है। सभी पहले सालहे का पेड़ खोजते हैं। मिल जाने पर सालहे के पेड़ के नीचे मंत्र आदि करके रार की धूनी देते हैं। चीला चढ़ाते हैं। सालहे के पेड़, मोहलान के पत्ता झाड़ आदि की पूजा करते हैं। उन्हें नेवतते और मनाते हैं। निमंत्रण देने और सहायता की मांग कर लेने के बाद ही उसे काटते हैं।

### मंगरोही

विवाह मंडप के बीचोंबीच सालहे का खाम बनाकर गाड़ते हैं। जंगल से सालहे की लकड़ी लेकर सभी जब घर आते हैं, तब आँगन में घुसने के पहले पैर धोये जाते हैं। फिर वे दरवाजे में आकर ठहर जाते हैं। आँगन और परछी के बीच सालहे की वह लकड़ी रखी जाती है लकड़ी के एक छोर को दोषी, सुवासा और अन्य लड़के जो साथ में गये थे उनमें से पकड़ते हैं और दूसरे छोर की ओर औरतें पकड़ती हैं। दोनों रस्सा खींचते हैं। इस खींचतान में जो हार जाता है, वह जीतने वाले को डांड (नेग) देता है।

फिर सुवासा उस लकड़ी का खाम बनाता है। रंगाई का

काम करता है। उसे इस काम में कोई सहयोग नहीं देता। खाम जितना अच्छा, सुवासा की उतनी ही अधिक प्रशंसा होती है। अतः वह अच्छे से अच्छा बनाने का प्रयत्न करता है।

### विष्टी

खाम की तैयारी के साथ ही विवाह का काम शुरू हो जाता है। लड़के पक्ष से कुछ लोग कन्या के गाँव में भेजे जाते हैं। बारात लड़के की लड़की के घर जायेगी, तो बारात की व्यवस्था लड़की वाले कर भी सकते हैं और कहीं उन्हें कठिनाई भी हो सकती है। इसलिये लड़के पक्ष से ये लोग भेजे जाते हैं। वे लड़की के गाँव पहुँचकर उसके घर में नहीं रहते और बारात पहुँचने के पूर्व बारात को ठहराने की, जनवासा की लिपाई-पुताई आदि करके पूरी तैयारी रखते हैं। जरूरत पड़ने पर लड़की के घर की छबाई, लिपाई, पुताई भी करते हैं। भोजन आदि बनाने में सहयोग करते हैं। इससे लड़की के घरवालों को बारात की व्यवस्था करने में सरलता हो जाती है और कोई भूल होने की संभावना नहीं रह जाती। इन लोगों को विष्टी कहते हैं।

जनजातीय परम्पराओं में कन्या पक्ष के प्रति ऐसी सौजन्यता और संवेदनापरक बातों को देखकर आश्चर्य होता है। जनजातीय समाज में बारात को लेकर विवाद की संभावना नहीं के बराबर होती है।

### देव पूजन

मांगरमाटी के पहले घर के देव-धामी की पूजा की जाती है। घर के भीतर निश्चित स्थान में जहाँ देवता बैठाना है, वहाँ की लिपाई-पुताई की जाती है। फिर वहाँ कलश स्थापित किया जाता है। कलश दीवाल के आगे रखा जाता है। दीवाल में दायें हाथ का हत्था लगाया जाता है। थाली में हल्दी घोल लेते हैं, तब उसमें सुवासिन एक हाथ का पंजा डुबाकर दीवाल में एक थाप मार देती है। कलश के पास एक त्रिशुल गड़ा या रख दिया जाता है। दीपक जलाते हैं, फिर कलश और हत्था की पूजा की जाती है। अपने पुरखों को वहाँ आमंत्रित किया जाता है। रार की धूप दी जाती है। गांजा चढ़ाया जाता है।

### कन्या मिलन

जनजातीय समाज की कन्या गाँव की कन्या है। गाँव की

बेटी है। अब उसका ब्याह होने वाला है और वह परदेश चली जायेगी, तब गाँव वालों को वह नहीं देख पायेगी। इसलिये वह सबसे मिलने निकलती है। सबसे मिलना संभव नहीं है, इसलिये पाँच घर जरूर मिलने जायेगी। गाँव के प्रमुख पाँच घर हो आयी तो सबसे मिलना हो गया। फिर कल मांगरमाटी होगी, तब वह घर के बाहर नहीं निकल पायेगी।

कन्या दिन डूबने के बाद सुवासिन, अपनी बहिनों और सहेलियों के साथ घूमने निकलेगी। गाँव के मुखिया या मुकद्दम के यहाँ सबसे पहले जायेगी, फिर बाकी घरों में बारी-बारी से जायेगी। संगी साथ में गाती हुई चलेंगी। मांगरमाटी का स्मरण करते हुए और ददरिया गाते हुए इन शब्दों में -

पातर-पातर बांस काटो, लम्बे-लम्बे पोर।  
ओखर बांधे नांगर छोर..... ॥  
गमछा बारे भइया, कुआँ मा पानी भरे।  
तवा के रोटी तवा मा जरि जाय।  
राम धीरे गाइले..... ॥  
पातर-पातर बांस काटो, ओखर लंबे-लंबे पोर।  
ओखर बांधे नांगर छोर..... ॥

कन्या जिसके घर जायेगी वह उसकी विदाई करेगा। विदाई में वस्त्र, दाल, चावल, सीधा, नारियल, पैसे आदि देता है। कभी-कभी, कहीं-कहीं लड़की रोती, भेंट-भलाई करती दिखती है।

### मांगरमाटी

घर के देव-धामी को मना के घर की बाइयाँ, सुवासिन के साथ मांगरमाटी को जाती हैं। साथ में घर का सुवासा भी जायेगा। घर से सभी गाती हुई माटी लेने जायेंगी। रीना गीत की भीनी-भीनी सुगंध बिखेरती हुई।

तरी ना के नाना रे नानी, तरी ना के ना।  
इक पइसा देबे रे बइया, धरती तंहार।  
पहिले मयं सुमरउं रे मइया, खेरो मेहरानी,  
तरी ना के नाना रे नानी..... ॥  
पहिले मयं सुमरउं रे मइया ठाकुर देवता,  
तरी ना के नाना रे नानी..... ॥  
समनापुर के हरियर चारा, चर चारे ला जाबो,

तरी ना के नाना रे नानी..... ॥  
नाचत कूदत हिरना तयं, कहां लय आये,  
तरी ना के नाना रे नानी..... ॥  
इक ऊँही माटी दइ दे रे बइया, धरती तंहार।  
तरी ना के नाना रे नानी..... ॥  
सुमरों रे सुमरउं बइया, मइं काहिन होऊं।  
तरी ना के नाना रे नानी..... ॥

गाती हुई औरतें निश्चित स्थान पर पहुँची। वहाँ सुवासा पहले पहुँच चुका था। सुवासा माटी कोड़ के बाई के अंचरा में माटी डालता है। एक के बाद एक सभी बाइयों के आंचल में जब माटी रख दी जायेगी तो सभी उसी गीत को दोहराती लौटेंगी। लौटने पर सभी औरतें माटी एक ही स्थान में आँगन में रखेंगी। सुवासा मण्डप और खाम गाड़ेगा। मंडप गड़ जाने पर सुवासिन मंडप की छबाई उसी माटी से करेगी। लड़का-लड़की दोनों पक्ष में एक ही तरीके से मंडप के कार्य किये जाते हैं।

### कलश गोदना

विवाह के प्रारंभ में ही कलश-करवा स्थापित किये जाते हैं। दोनों माटी के बने होते हैं। अब कलश को सजाने की बारी आती है। कलश के बाहरी भाग में सबसे पहले गोबर से सजावट की जाती है। गाय के गोबर से अनेक पतली-पतली रेखायें आड़ी-तिरछी बनायी जाती हैं। कुछ फूल सादगी भरे रूप में बनाये जाते हैं। फिर अनाज या चना की दाल उसमें चिपकायी जाती है। इस प्रकार खाली कलश सुन्दर दिखायी देने लगता है। विवाह के पूर्व युवक-युवती का जीवन भी किसी खाली घड़े के समान होता है। घड़े में पानी भरना जीवन को रसमय बनाना है और उसको सजाना जीवन को सजाना है। विवाह संस्कार जीवन का श्रृंगार है।

जीवन को सजाने का काम हो और गीत-संगीत न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। कलश सजाते समय गाँव की युवतियाँ इस प्रकार गाती मिलेंगी-

तरी ना के नाना रे नानी, तरी ना के ना।  
न तोरे साथी सुवासा, न तोरे सुवासिन।  
रे मोर दाउ कलश ला कौन गोदे तोर।। तरी ना के.....  
न तोरे दइदा, न तोरे दाई रे मोर भइया.....

रे मोर भइया, कलश ला कौन गोदे तोर। तरी ना के...  
 न तोरे भइया न तोरे भौजी, रे मोर भइया.....  
 रे मोर भइया कलश ला कौन गोदे तोर।। तरी ना के  
 न तोरे कक्का न तोरे काकी, रे मोर भइया.....  
 रे मोर भइया कलश ला कौन गोदे तोर।। तरी ना के

रीना की स्वर लहरियों के साथ कलश गोदने का काम पूरा होता है। और उसे यथा स्थान रख दिया जाता है।

### चिकसा लगाना

मांगरमाटी के ही दिन-रात में लड़का-लड़की को चिकसा लगाया जाता है। चिकसा पिसी हुई हल्दी, रमतिला या कोई भी तेल में कुदई बांट के तैयार किया जाता है।

लड़के और लड़की की माँ उन्हें अर्थात् लड़का या लड़की को गोद में लेकर भीतर पूजन स्थान में बैठती है। सबसे पहले चिकसा कुँवारी लड़कियाँ लगायेंगी। ऐसी तीन कुँवारी लड़कियाँ चिकसा लगायेंगी। चिकसा देवपूजा स्थान में ही लगाया जाता है। मंडप के नीचे नहीं। उस समय अन्य औरतें गीत गायेंगी-

भैया तोरे चिकसा चढ़ावय,  
 भवजी तोरे सवा घानी तेल।  
 दददा तोर चिकसा चढ़ावय,  
 दाइ तोरे सवा घानी तेल।  
 कक्का तोरे चिकसा चढ़ावय,  
 काकी तोरे सवा घानी तेल।  
 भांटो तोरे चिकसा चढ़ावय,  
 बइया तोरे सवा घानी तेल।  
 नाना तोरे चिकसा चढ़ावय,  
 नानी तोरे सवा घानी तेल।  
 दादी तोरे चिकसा चढ़ावय,  
 आजी तोरे सवा घानी तेल।

यह गीत सबसे पहले दोषी की घरवाली गायेगी, फिर अन्य औरतें गायेंगी। चिकसा लगाने का भी तरीका है। सभी उसी तरीके से लगायेंगी। चिकसा दोनों हाथ से लगाते हैं। एक बार दोनों हाथ के पंजे सीधे-सीधे जोड़कर, फिर दूसरी बार दायें हाथ के पंजे को बायें तथा बायें हाथ के पंजे को दाँये कर, अर्थात् क्रास

बनाकर चढ़ाते हैं। हाथ में आम की पत्तियाँ रखते हैं। उन्हें चिकसा में डुबाकर उसी से लगाते हैं।

चिकसा सबसे पहले लड़का या लड़की के पैरों के दोनों पंजों में लगाया जाता है। एक सीधे हाथ से दूसरा क्रास की स्थिति करके अर्थात् उल्टे पैरों के बाद घुटनों में लगायेंगे। फिर कंधों में, फिर सिर में बालों के ऊपर चिकसा लगाते समय कहीं दूसरी प्रकार का गीत गाने की परम्परा है-

छिंदी कपूर कंसा पतारा चांउर गा मोर दाऊ।  
 सीक गा सीक कहत गा मोर दाऊ। दाऊ ले... ।।  
 सीक सा तुम्हरा अधा ला देश अधा ला राख।  
 अधा के ठीमा के थूखे रहा गा। मोर दाऊ..। दाऊ सीक ...  
 वन पा जो रहता तो बन पला खतावो गा। दाई...  
 घर मा जो रहता तो पिता तो माता तसी के दूध।  
 हय हय वो मोर दाई, पिता तो माता के दूध।

कहीं-कहीं यह गीत भी गाया जाता है-

तरी ना के नाना रे नानी, तरी ना के नाना।  
 रे मोरे नानी तरी ना के..... ।।  
 इंगरिन छिंगरिन चढ़ जा रे चिकसा,  
 छिन भर हुइ जा सहाय।  
 हे मेरे दीदी छिन भर है जो सहाय।  
 तरी ना के नाना रे नानी, हो तारी ना के नाना ।.....

### हल्दी तेल चढ़ाना

लड़का या लड़की दोनों पक्ष में हल्दी-तेल चढ़ाने का कार्यक्रम होता है। सुवासिन आँगन के कलश को लायेगी। फिर सबसे पहले वही हल्दी चढ़ायेगी। लड़का या लड़की को माँ गोद में लेकर बैठेंगी, तभी हल्दी का काम शुरू होगा। कहीं-कहीं भिन्न परम्परा देखने को मिलती है। गडुवा वाले का जो भीतर देव पूजा में रखा होता है, उसे मंडप के नीचे कार्यक्रम में सुवासिन भीतर से बाहर लेकर आती है और कार्यक्रम हो जाने पर भीतर ले जाती है। मंडप के नीचे रूक-रूक कर सात बार हल्दी चढ़ाई जाती है। सुवासिन के बाद लड़की की दो सहेलियाँ और हल्दी चढ़ायेंगी। अन्य औरतें गीत गायेंगी।

पाँच रूपइया के हरदी मंगवाये रे मोर भइया ।  
 नहीं भिदय हरदी तुम्हार है रे मोर भइया,  
 नहीं भिदय हरदी तुम्हार ॥  
 सवा रूपइया के हरदी मंगवाये रे मोर भइया,  
 नहीं भिदय हरदी तुम्हार ॥  
 हरदी नगर के हरदी मंगवाये रे मोर भइया,  
 भिद गय हरदी तुम्हार ॥  
 रे मोर भइया भिद गय हरदी तुम्हार..... ॥

हल्दी चढ़ाने के समय गाया जाने वाला दूसरा गीत-

चंदा कहय मंय बड़े मंय बड़े ।  
 चंदा कहय मंय बड़े मंय बड़े ।  
 हरदी कहय जनम सुधार,  
 ओ मोर लाटुन हरदी कहय मोर जनम सुधार ॥  
 कौने तोरे कोरा बाना लेय ।  
 चंदा कहय मंय बड़े मंय बड़े  
 हरदी कहय जनम सुधार ॥ हरदी कहय.....  
 पेरू तलिया ओ राई सरसों के तेल,  
 माता तोरे तोरेओ हरदी चढ़ावय ॥  
 पेरू तलिया ओ राई सरसों के तेल ।.....

## रोटी खवाना

हल्दी तेल चढ़ाने के बाद लड़की को खाना खिलाने की परम्परा है। थाली में दूध लाकर लड़की को पिलाया जाता है। लड़की को यह समझते देर नहीं लगती कि अब वह कुछ ही समय के लिये मायके में है। उसकी ससुराल के लिये विदाई का सिलसिला प्रारंभ हो गया है। यह दूध माँ के आंचल का नहीं गाय/भैंस और अंतिम दुग्ध पान का है। इसलिये दृश्य कारुणिक हो जाता है। दुल्ही लड़की गाती है, जिसमें उसके मन की व्यथा अभिव्यक्त है -

काहे मनाने आजी सेवा संहारे,  
 ओ आजी मोरे, काहे मनाने आजी दूध ।  
 थाला मा नाने आजी दूध है  
 ओ आजी मोरे, थाला मा नाने आजी दूध ।  
 काहे का नाने दाई, सेवा संहारे दाई मोरे,

काहे मा नाने आजी दूध ।  
 करवा मा नाने दाई, दूध है वो दाई मोरे,  
 काहे मा नाने आजी दूध ॥  
 काहे मा नाने माई सेवा संहारे,  
 ओ आजी मोरे काहे मा नाने आजी दूध ॥

कहीं-कहीं इस गीत को गाते हैं-

काहे मनोनी सेवा सहरी,  
 मंय नहीं चाहेगी सेवा सहरी मंय चाहूँगा  
 प्याला के दूध  
 काहे पनानी-सेवा सहरी  
 मंय नहीं चाहतो  
 सेवा सहारनी भौ चाउ ए कोरा तुम्हार ।  
 काहे एनोनी सेवा सहरी,  
 मंय नहिं चाहतो सेवा सहरी  
 मंय चाहूँगा प्याल हमार ॥

अन्यत्र इस प्रकार के गीत की मर्मस्पर्शी छटा बिखरती दिखायी देती है। लड़की रोती हुई गा रही है-

तोर नाने पर गय अकाल,  
 है है रे मोर दादा, तोर नाने पर गय अकाल..... ।  
 सब झना दिव जाय अरछी अर परछी,  
 है है रे मोर दादा, मंश दिखथं वन गा अकेल ।  
 काला बादल मा चन्दा छिपे है,  
 ओ मोर नानी वैसन छिपे है नाना हमार ।  
 काहे अन्हमाये काहे जन्माये,  
 रे मोर दाई काहे पियाये दूध  
 है है ओ मोर दाई काहे पियाये दूध,  
 आजो के दिन मा तोहे भारों निकल गये,  
 रे मोर भइया भारों निकर गये तोह  
 है है रे मोर भइया आरो लेवत रहियो मोर ।

लड़की का यह गीत हृदय के तारों को झंकृत करने वाला है। दादा से यह कहना की सबको घर पर मेरे लिये जंगल का रास्ता क्यों दिखा दिये। मैं इस जंगल में अकेली पड़ गई हूँ। हे नानी-नाना! बादलों में छुप गये हैं, तुम धीरज रखना। हे माँ! यदि



तुम्हें मुझे ऐसा ही छोड़ना था तो तुमने मुझे जनम ही क्यों दिया। अपने आंचल का दूध पिला-पिला कर मुझे बड़ा ही क्यों किया। मैं आज तुम्हें भी भारी पड़ गई। भैया तुमने ऐसा क्यों सोच लिया। मैं तुम्हें कभी भारी न पड़ती। और अन्त में भाई को यह कहना कि जो हुआ सो हुआ, पर भैया मेरी खबर लेते रहना।

इस प्रकार के वातावरण में रहना अत्यंत कठिन हो जाता है। एक दूसरे को समझाना असंभव हो जाता है। इसलिये पूरे वातावरण को बदलने के लिये कुछ ही देरी बाद दूसरे कार्य प्रारंभ कर दिये जाते हैं।

### नृत्य और गीत

विवाह के कारुणिक वातावरण को बदलने के लिये इसके बाद शुरू होता है नृत्य और गीत। भोजन के बाद सभी लोग नृत्य की तैयारी में जुट जाते हैं। मांदर की थाप पर नर्तकों के पैर थिरकने लगते हैं। गीतों में कुछ धार्मिक पुट तो कुछ श्रृंगारिक भाव की छटा बिखरती है। राही का मनोहर दृश्य उपस्थित होता है।

गाउरी चढ़ गई पहार, गाउरी चढ़ गई पहार,  
हाथ मा रूमाल गूढ़ा साथ में।  
राम के बेटा लवकुश रे खाड़े, मैदान खाड़े मैदान।  
कैसे के पाकड़ पाहे रे घोड़ा, बोल दो सिया राम ॥  
हाथ मा रूमाल गूढ़ा साथ में..... ॥  
काड़ा बीनन जाये, काड़ा बीनन जाये,  
धन रे शनीचर लड़का, लड़की मार-मार जाये।  
हाथ मा रूमाल गूढ़ा साथ में..... ।  
धन रे शनीचर लड़का, धन रे शनीचर लड़का,  
बड़े बहना ला ले गये, बड़े बहना ला ले गये,  
हाथ मा रूमाल गूढ़ा साथ में ॥  
नदी भीतर के केकर रे, पिथेरा देख-देख जाय,  
पिथेरा देख-देख जाय, इन्हा के लड़का शनीचर।  
हाथ मा रूमाल गूढ़ा साथ में ॥..... ॥  
राम के मुखड़ा काना रे, लछमन का गोर,  
सीता के बारे उमरिया, लेगय रावण चोर।  
हाथ मा रूमाल गूढ़ा साथ में..... ॥  
केलार भाजी गा हमार भाजी,

मामा के बेटा हमार भाजी।

हाथ मा रूमाल गूढ़ा साथ में..... ॥

युवक और युवतियों के ये प्रश्नोत्तर भरे गीत बोझिल वातावरण में हँसी-मजाक बिखेरते हुए आकर्षक दृश्य उपस्थित करते हैं। दूसरे दिन लड़के की बारात निकलती है। दूल्हे के साथ उनके संगी साथी की कमी नहीं। बारात चली तो सियानों के झुंड अलग, लड़कों के अलग और लड़कियों के अलग। अपने-अपने तरीकों से। बारात का आनंद तो नवयुवक और नवयुवतियाँ अधिक लेती हैं। वे अपने-अपने झुंड में ददरिया शुरू कर देती हैं। इस समय ददरिया प्रश्नोत्तर के रूप में गायी जाती हैं। लड़के प्रश्न करते हैं तो लड़कियाँ उत्तर देती हैं और लड़कियाँ प्रश्न करती हैं तो लड़के उत्तर देते हैं। देखिये ददरिया की झलक -

हाथें सरौंता बगल तरे वर,

दउवा जाथय चिरइया, फउज धरिके।

लडनी मा रे ॥

हिन टूरा इतनी बड़ ददरिया, ला नहिं जाने जाये ला ॥

तोरे तो बोली राम धीरे पाइले।

हाथें..... ॥

इन टूरी नई जाने गायेला, पी ले बावसिया आय।

राम धीरे गाहले..... ।

इन टूरी नई जाने गायेगा, खायेगा ला बर्रा के लड्डू आय।

हाथें सरौंता..... ॥

इन टूरी नई जाने गायेला, खायेगा मतररी भर भात।

हाथें..... ॥

एक दूसरा दृश्य देखिये -

अइले है साजा, पइले सरतेली।

सुरता मा राखा, हे राम हम परदेशी ॥

मामा मा राखी ॥

धीरे गाइ ले चिरइया, तोरह बोली आय।

मय खाहं आया, तंय वाबं जाय ॥

करिया परि गई हे राम ॥

तोर सुरता मन मा बस गइसै रे।

### परगौनी

परगौनी के दो रूप देखने को मिलते हैं। प्रथम बाहर



अगवानी के रूप में, दूसरा घर के बाहर। बारात के गाँव में आने पर दोनों पक्ष मिलते हैं इसे अगवानी कहते हैं। अगवानी मिलन भी दो रूप में मिलता है। दोनों पक्ष अपने-अपने पक्ष में नृत्य करते हैं। हाँ, जहाँ नव युवक नृत्य करते हैं, उनके सामने दूसरे पक्ष के रूप में नव-युवतियाँ नृत्य करती हैं। जहाँ वर पक्ष की नवयुवतियाँ नृत्य करती हैं, उनके सामने कन्या पक्ष के नवयुवक नृत्य करते हैं।

दूसरा तरीका है एक दूसरे के पक्ष में नृत्य करते हुए जाना और नृत्य करते हुए आना। नृत्य करते हुए जब प्रथम दूसरे पक्ष में पहुँच जाता है, तो दूसरा पक्ष नृत्य करता हुआ प्रथम पक्ष के स्थान पर पहुँच जाता है। फिर जब प्रथम पक्ष वापिस अपने स्थान पर लौट आता है तो दूसरा पक्ष अपने आप अपने स्थान पर लौट जाता है। कहीं-कहीं ऐसा कुछ नहीं होता, वे सीधे कन्या पक्ष के द्वार पर पहुँचते हैं। बारात आती है तो दरवाजे में उनका स्वागत किया जाता है। आपस में भेंट भलाई होती है, इसे परगौनी कहते हैं।

### तेल उतारना

लड़के की बारात आ जाने पर लड़की का तेल उतरता है। इसे सात बार उतारा जाता है। तेल औरतें उतारती हैं। पहले सुवासिन फिर अन्य।

### पगरइता का नेवता

लड़के के पिता को पगरइता कहते हैं। वह दो लड़कियों के साथ थाली में घुली हुई हल्दी लेकर बाजा-गाजा के साथ गाँव के मुकद्दम के पास निमंत्रण देने जाता है। यदि मुकद्दम नहीं मिलता तो घर के बाहर दीवाल में दरवाजे के दोनों ओर पंजे की थाप देकर आता है। यह निमंत्रण करने की परम्परा है। दूल्हे का सुवासा उसे कंधे पर बैठा कर लाता है। जब तक मुकद्दम नहीं आयेगा, तब तक काम रूका रहेगा।

### रोड़ा मारना

जब बारात लड़की के घर पहुँचती है तो दरवाजे में कन्या पक्ष की लड़कियाँ दूल्हे के मुकुट में आम-कनेर फल आदि मारती हैं। वर पक्ष उन्हें नेग देता है तो वे बंद कर देती हैं। इसे रोड़ा मारना कहते हैं। यदि लड़कियों के मारने से दूल्हे का मुकुट गिर जाय तो दूल्हे को डाँढ़ देना पड़ता है।

### बरतिया गीत

इस समय दुल्हन की नवयुवतियाँ दूल्हे पक्ष से पहेली पूछती हैं। गीत में ही पहेली पूछी जायेगी और गीत में ही वर पक्ष को उत्तर देना पड़ता है। प्रश्नोत्तर गीत इस प्रकार के होते हैं।

रीगी बीगी ओखे फूल,

नीम जइसे ओखे पालर।

कोदों कूदइ जैसे दाना रे दोष.....

नीम जैसे पत्ते होते हैं, कोदों और कुदई जैसे दाना होते हैं, वह क्या है? (पत्ताली) इसे गाँव में भेजरा, बैगन आदि भी कहते हैं। कहीं-कहीं छोटा टमाटर भी कहते हैं। यदि वर उत्तर दे देता है तो ठीक, अन्यथा नेग देना पड़ता है। जब बारात घर आती है, तब लड़की (दुल्हन) मंडप में बैठी मिलती है।

### चढ़ावा

मण्डप के नीचे बैठी लड़की के पीछे दूल्हे को बैठाया जाता है। उस समय वर-पक्ष लड़की के लिये जो सामान लाते हैं, पहिने के कपड़े, गहने आदि वह लड़की को, बाँस की नई टोकनी में रखकर देते हैं। पहली बार टोकनी में देते हैं फिर बाकी सामान एक-एक कर देते जाते हैं, जिसे टोकनी में रखते जाते हैं। पूरा सामान पाँच बार में दिया जाता है। सामान दे दिये जाने के बाद दूल्हा मंडप से उतर जाता है। उसके साथ सभी जाते हैं।

### नहडोर

दूल्हन अब मंडप के नीचे से नहडोर के लिये भीतर आ जाती है। लड़की को नहलाया जाता है। जो कपड़े, गहने उसके लिये आते हैं, उन्हें पहिनाया जाता है। उसका पूरा श्रृंगार किया जाता है। अब लड़की भांवर के लिए तैयार हो जाती है। इसकी खबर जनवासा में भेजी जाती है। लड़के को भी लाने के लिये कहा जाता है।

### कँवारा-कुँवारी भांवर

दूल्हा मण्डप में लाया जाता है। दोनों बैठते हैं। विवाह की रस्म शुरू होती है। बाजा जोर-जोर से बजाये जाते हैं। लड़का-लड़की कलश और खाम के आसपास पाँच बार घूमते हैं। फिर दूल्हा-दुल्हन बगरी को हाथ में लेकर एक के बाद एक, एक-

दूसरे को मारते हैं। पहले दूल्हा मारता है, फिर दुल्हन मारती है। कार्यक्रम समाप्त होने पर लड़का जनवासा चला जाता है और लड़की भीतर आ जाती है। इस भांवर में भी गीत गाये जाते हैं-

मितही रे निकलय,  
मितही रे निकलय,  
हो हरियर राम,  
हरियर अर नाहर, हुलात कोरवा मा ले।  
कहाँ के कनीय भांवर,  
फिरायी दादा आ दादा पछाईया दया दे. ॥  
भितरी महाल ले, भांवेरे निकाले रे  
रे दादा आ दादा,  
छाईया दया दे।  
भितरी से निकलय,  
हो हरियर राम।  
भितरी से निकलय, हो हरियर ॥

### मड़वा सूतना

भांवर के पहले सुवासा-सुवासिन सबसे पहले खाम में धागा लपेटते हैं। फिर एक तरफ से बाहरी थुन्हियाँ में, एक से दूसरी बाहरी थुन्हियाँ में धागा लपेटते हैं। इस प्रकार पूरे मड़वा को धागे से बन्द करते हैं। धागा तीन बार लपेटा जाता है। इसके हो जाने के बाद कुँवारी भांवर जिसे कहीं-कहीं नान भांवर कहा जाता है, का कार्यक्रम होता है। मंडप के नीचे रंग-बिरंगा चौक पूरा जाता है।

### लेहकोरी

दूल्हे को खाना खिलाने के लिये जनवासे से बुलाया जाता है। उसके साथ उसका सुवासा और दो-तीप दोस्त आते हैं। लड़की के पूजा वाले घर में सभी बैठते हैं। लड़की ही लड़के को भोजन करायेगी। यदि लड़का नहीं खाता वो उसे नेग दिया जाता है। लड़की तीन कौर खिलायेगी, फिर लड़का खुद ही खाने लगता है इस समय भी गीत गाते हैं।

गुंदरी के चार चानी, चारय ला बघारय रे।  
मिरचा हरामजादी, चोला ना बिगाड़य रे ॥

### समधौरो

भोजन आदि से फुरसत होने के बाद बारातियों को जनवासा से बुलाते हैं। उन्हें मण्डप के नीचे बैठाया जाता है। दुल्हन पक्ष की औरतें थाली में हल्दी घोलकर लाती हैं। फिर अपने रिश्ते के अनुसार लोगों को हल्दी लगाई जाती है। समधिनें-समधियों को हल्दी लगाती हैं। सभी भेंट भलाई करते हैं।

### विदाई

जब बाहर समधौरों का कार्यक्रम चलता है, तब भीतर दूल्हा-दुल्हन विदाई के लिये सजाये जाते हैं। दोनों पूजा के स्थान से बाहर आते हैं और आँगन के दरवाजे पर खड़े होते हैं। वहाँ दुल्हन के पिता नारियल, आधा बहिरा चावल और सवा पाँच रुपये दूल्हे को हल्दी का तिलक करके देते हैं और पैर पड़ते हैं। दुल्हन को नगद पैसे देकर पैर पड़ते हैं। इसी प्रकार परिवार के आदमी एक-एक करके दोनों के तिलक कर कुछ देकर पैर पड़ते हैं। अधिकांश पैसे देते हैं। पैसे दोनों को दिये जाते हैं।

अब लड़की की विदा का समय आ गया। लड़की की ही नहीं पूरे घर की मानसिकता एक जैसी ही होती है। एक दूसरे से लिपट कर रोते हैं। एक दूसरे को ढाँढस बंधाते हैं। गीत कुछ इस प्रकार के गाये जाते हैं-

घर ला बनायन अटारी कटारी,  
झूला झूले ला हे राम।  
हम तो चले आपन मिले ला..... ॥  
पथरा मा बइठे, नजर डोले जाय,  
घर ला बनायन अटारी कटारी ॥ झूला झूले ला हे राम  
आम ला टोरबो खहूँच कहीं के,  
घर ला बनायन अटारी कटारी। झूला झूले ला हे राम,  
हम तो चले आपन मिले ला ॥

कहीं-कहीं माँ के हृदय की कसक की अभिव्यक्ति मिलती है-

सुवना ला पोसय करन जान ले।  
बिटिया ला निकारय पराई जान के।  
परदेशी भला..... ॥

टुरिया के माया नजर बैरी जाय।

सुवना ला पोसय करन जान ले ॥ बिटिया ला..... ॥

दाई के तो दूध पियाबो, दादा के दुलार ॥

झंय रो झंय रो अभागन बेटी, नहीं छुटाय दुआर ॥

बिटिया झंय रो झंय रो..... ॥

दुल्हन को डोला में बैठाते हैं- जो दुल्ही रोती है।

झिरिया के पानी झिरत होही,

बेटी बारे बेचारे रोवत होही।

परछी के कूची रे भोंहा के कूची,

तुहार बेन टूरी घिनोची छूंछी ॥

इस प्रकार कल तक के बिटिया के हर काम की याद भुलाये नहीं भूलती। दुल्हन का डोला सजने लगा। अब उसे डोला में बैठाने लगे। दुल्हन की अभिव्यक्ति कुछ इस प्रकार की होती है।

डोला रे सज्जन लगिन रे

मोर दादा, डोला ला धीरे सजबाहे..... ।

इस तरह लड़की चली। पलगरिया अर्थात् छोटी खटिया के ऊपर बिछावन बिछाते हैं। उसके चारों ओर चादर या अन्य कपड़े से घेर कर बन्द कर दिया जाता है। वैसे ही सजावट के बाद दुल्हे-दुल्हन सुन्दर लगते हैं, अतः उन्हें किसी की नजर न लगे। डोला के अन्दर दुल्हा-दुल्हन बैठते हैं। जो विष्टी वर पक्ष की ओर से कन्या पक्ष के यहाँ काम करने आते हैं, वे ही डोला उठाकर चलते हैं। दुल्हा या दुल्हन घर तक जमीन में पाँव नहीं रखते। यदि डोली न मिली तो और मुसीबत। फिर तो दोनों को पीठ और कंधों में ही बिठाकर लाना पड़ेगा। हाँ, थकान उतारने के लिये दुल्हे-दुल्हन को कंधे या पीठ से उतारकर नीचे खड़ा किया जा सकता है, पर वे एक कदम भी पैदल नहीं चल सकते।

### बारात की वापसी

सुवासा की दुर्गत चाहे जितनी हो। बारातियों को कुछ लेना-देना नहीं। वे अपनी मौज मस्ती में ही चलते हैं। उन्हें नाचने-गाने से फुरसत कहाँ। वे पूरे रास्ते ददरिया में झूमते गाते ही चलते हैं और नवयुवकों और युवतियों को तो मौका मिला है

नाचने गाने का। वे भला इस मौके को क्यों गंवायेंगे-

छुनुर ले तोर पयरी बजथय,

पायल के झनकार।

बजुन बिंदिया वाली मोर

चिरइया कहाँ निकाल ॥

निकाल गयो आज बाजुल बिंदिया वाले।.....

पथरा मा बड़ठे पथरा डोले,

जाय टुरिया के माया, नजर डोले।

छुनुर ले तोर पयरी बाजय..... ।

× × ×

हाथे के छाता बगर तिरेवर।

कोई राजन के बेटा जाये ससुरे ॥

कलकी के आमा,

लगाये हय मामा,

फुअन के मामा,

फुअन के बेटी, मंगाव हर आये,

सादी कर लेबे ॥.....

आमा खात इमली खात,

बीही ला उठान ले।

बिरहा गलथय मेरा भइया,

जिनगी जोड़ी बनाय ले ॥

ऐसे मस्ती में झूमते-गाते बाराती अपने गाँव-घर को लौटें। दरवाजे में दुल्हा-दुल्हन को हल्दी का टीका टीकते हैं, फिर अन्दर ले जाते हैं। दोनों पूजा की जगह में बैठेंगे। वहाँ से मण्डप में आयेंगे।

### बड़े भाँवर

सुवासा-सुवासिन कलश करवा बाहर लायेंगे। मण्डप के नीचे लिपाई करेंगे। हल्दी-आटा आदि कई रंगों से रंग-बिरंगा चौक पूरेंगे। फिर मंडप सुनते हैं। मतलब, जैसे सूत वधू के घर लपेटे गये थे, वैसे ही वर के घर लपेटे जायेंगे। लड़का- लड़की की भाँवर फेरी जायेंगी। कहीं-कहीं सात फेरों का रिवाज है, कहीं-कहीं तीन फेरे का रिवाज है, क्योंकि चार फेरे पहले ही लड़की के घर लगाये जा चुके हैं।

## पो पखरी

जैसे कन्या पक्ष में कुंआरी भांवर में घर एवं बाहर के लोग दोनों के पैर पखारते हैं और दहेज देते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी पैर पखारा जायेगा, पाँव पखारने में बर्तन, गहनें, नगद रुपये, अनाज, गाय-बैल आदि दिये जाते हैं। इसके बाद मंडप के काम समाप्त हो जाते हैं।

## लगुन गठान छुड़ाई

दूसरे दिन सभी नदी-नाला, तालाब या कुआँ पर सभी जाते हैं। दूल्हा-दुल्हन दोनों आगे चलते हैं। बाजा वाले उनके आगे चलते हैं। यहाँ चलने के तरीके में भिन्नता है। एक तीर-कमान तैयार किया जाता है, जिसे दूल्हा रखता है। पत्तों की पतरी बनाई जाती है, जिसे लड़की रखती है। लड़की आगे चलेगी और पतरी को रखेगी। लड़का उसमें निशाना साधेगा और मारेगा। लड़की उस पतरी को उठाकर फिर आगे चलेगी और रखेगी। लड़का फिर उसमें तीर मारेगा। इसी प्रकार लड़का और लड़की आगे नदी तक बढ़ते जायेंगे। पूरा रास्ता इसी प्रकार पार किया जायेगा।

## लोटा खोजाई

नदी पहुँचने पर सबसे पहले एक लोटा लाया जायेगा। लोटा में पानी भरकर लड़का कहीं भी छोड़ेगा। उसे लड़की खोजकर लायेगी। इस प्रकार लड़का तीन बार लोटे को इस तरीके से डुबायेगा कि लड़की न खोज पाये। इसके बाद लड़की की बारी आयेगी। वह भी तीन बार लोटा डुबायेगी और उसे लड़का खोजेगी। इस खेल में जो अधिक बार जीतेगा, वही विजेता कहलाता है।

## कंगन छोड़ना

नहडोर के अवसर पर कंगन बांधा जाता है। लोटा खोजाई के बाद कंगन छोड़ने का खेल होता है। पहले लड़का-लड़की का कंगन छोड़ेगा, फिर लड़की-लड़के का कंगन छोड़ेगी। इसमें भी प्रतियोगिता होती है। जो कंगन छोड़ लेगा वह जीता, जो नहीं छोड़ पाता, उसे डांड देना पड़ता है। डांड में नारियल और पैसा देना पड़ता है। यहीं विवाह की गांठ भी छोड़ दी जाती है। नदी में ही

सभी स्नान करते हैं। फिर वापस होते हैं। लौटते समय गीत गाये जाते हैं-

या ढबिया के काढ़ा तमाखू,  
या बागुला के पान  
रसा लाय ले, रसा लाये ले,  
रसेनी फूल गाजा कली के भाजा लाइले।।.....

× × ×  
तरी हवय गघरा, ऊपर पपीरा ला।  
ला उतारय देवर, भवजी एना लै ला  
इन दूरा ला देखे ला, लाये ला नहिं जनम।।  
ऊपर.....।

× × ×  
आमा मा अमली, बीही मा बन्दरा।  
मारो-मारो सिकारी, उड़ात बाना छीला गिरालो।।  
पाने ला खाये, मुहे ला कारे लाल।  
आमा मा अमली, बीही मा बन्दरा।  
मारो-मारो सिकारी, उड़ात बाना छीला गिराबो।

## घर की रस्में

सभी लोग घर पहुँचते हैं। घर पहुँचने पर भौजाई एक सीका बंधवाती है और उसमें एक लुढ़िया रख देती है। एक सीका में सुवासिन पुतरा रख देती है। सुवासा सीका की लुढ़िया गिरा देता है। पुतरा रोता है। कुछ लोग रोने की आवाज करते हैं। लड़की उस रोते हुए लड़के को चुप करायेगी।

## खाना खवाना

इसके बाद भोजन करने की बारी आती है। घर में जितने भी लोग रहते हैं, वे सभी खाने के लिये बैठते हैं। सबसे पहले लड़का और लड़की खाना परोसते हैं। इसके बाद घर के अन्य लोग भी उनकी मदद करते हैं।

## चौथिया

कंगन छूटने के दिन चौथिया आते हैं। लड़की पक्ष के उसके भाई-बहिन, फुआ आदि आते हैं। इसे चौथिया बारात भी

कहते हैं। उनका स्वागत किया जाता है। खिलाते-पिलाते हैं। वे लड़के और लड़की को लेने आते हैं। जिस दिन आते हैं, उसी दिन दोनों को लेकर वापिस हो जाते हैं। जब चौथिया आते हैं, तो उन्हें इस प्रकार के गीत सुनाते हैं-

तोर अस बोली आय,  
आमा टोरे ला आय आब।  
तुम्हार बस्ती मा,  
माया जोरे ला आयन ॥  
नीके बने तोरे हुअररा आ देस,  
रोय-रोय माया ला, देबे संदेश ॥  
माया जोरे ला आयन..... ॥

× × ×  
तोरय तो बोली अय,  
गय गय हय गय मा।  
बिछड़ना अब के मिले,  
कबे मिलबो रे दोस ॥  
झै तरसाबे मोला,  
परदेसी दोस ॥

चौथिया वापिस होने लगे तो यह गीत-

अएठा मुराला तोर पागा,  
ये समधी करारे-करारे तोर।  
मुछा करारे तोर अएठा,  
ये समधी करारे तोर।  
केरा के जात तोर दांते,  
ये समधी केरा के जात तोर दांते।

चौथिया जाने लगे। अब कब आयेंगे और कब मिलेंगे कोई पता नहीं। बस गीत में इसी की चर्चा-

हाय गाय हाय वा, बिछड़ना निहो वय मिलना हाय गाय।  
हाय गाय गा बिछड़ना नहिं होवय संगी मिलेगा।  
हाय गाय गा बिछड़ना हाय गाय परदेसी हाय गाय।  
हाय गाय गा बिछड़ना न हो होवय मिलेगा हाय बाय।  
हाय गाय गा बिछड़ना दाई की तो माया टोरे ला।

दादा के दुलार नहा हो हाय मिलेगा हाय गाय हाय गाय।  
गा बिछड़ना ना..... ॥

चौथिया चले गये और लड़का-लड़की के साथ घर पहुँच गये। लड़की मायके पहुँच गयी। लड़का ससुराल।

### मड़वा उझारना

लड़का दूसरे दिन ससुराल का मड़वा उझार देगा। अपने घर पहुँचने पर यदि सुवासा ने उसके घर का मड़वा न उझारा हो तो उसे भी उझार देगा। मड़वा उझारने के साथ ही विवाह की सभी परम्पराएँ पूर्ण हो जाती हैं।

### विवाह के अन्य गीत

विदा के समय चावल-दाल रखा जाता है। प्रस्थान करने के पूर्व लड़की उसे अपने भाई को देती है। बहिन कहती है-

पांवे पसर के पांवे पसर के,  
भूखे जो रहबे रे मोर भइया,  
ले भइया सीधा तुम्हार..... ।  
हय हय रे मोर भइया, ले भइया..... ॥  
फेर पाछे-पाछे उलटे चलत हवें,  
हँसत घुसरउं, रोवत निकरउं मोर भइया,

बारात के चले जाने पर कन्या पक्ष सोचता है-

गली के महुआ टपक जल्दी,  
भवजी भगथय रे भइया दवड़ जल्दी।  
मेढो नकथय..... ॥  
अइना मा देखे, गंगा मा कोरे रे पोर संगी,  
मोर संगी निकल गय डोंगर  
ओही मन नाहीं दीखय।  
तोरे बोली ना धीरे पड़ ले..

अइना मा..... ॥

अवना देन खेले कूदे,  
मंजा करे बइया घोरें  
आजो देन बसती ना,  
सूने करे।

काला रीफल का नीला जो लिखना,  
ओ मोरे संगी,  
छुट गइसे इसकुल के रिंगना डार।.....

नदी पर जाते समय गाया जाने वाला गीत-

आमा के डारा मा बइसे मंजूर,  
मारो-मारो सिकारी,  
उड़त पंछी गा गिराये।

## सुवा गीत

विवाह के प्रसंग में प्रणय प्रसंग और उनके संयोग-वियोग की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति करने वाले सुआ गीतों की चर्चा न हो तो बात अधूरी ही रह जायेगी। कालिदास के यक्ष और यक्षिणी के सन्देश वाहक के रूप में मेघ का दूत रूप अमर है, तो जनजातीय समाज में सुआ गीत अपनी इस विशिष्टता के कारण प्रतिष्ठित है-

चोंच दिखत तोरी लाल लाल कुंदरूती, सुआ न हो,  
आंखी देखे मसरी के दार, कि सुआ न हो..... ।  
जुड़री के पान जैसे दे नासवारे,  
कि सुवा न हो..... ।  
कि सुन लेवे विनती हमार  
सास मोरे मारै, ननद गारी देवे, कि सुवा न हो  
कि सैया मोरे गये हैं विदेश, कि सुवा..... ॥  
लहुरे देवर मोरे जनम के बैरी, कि सुवा न हो,  
कि लै जाते तिरिया संदेश कि....  
वन फल खावे सीतल जल पीवे, कि सुवा न हो,  
कि वन में ही करबे बसेर, कि..... ।  
उहां ले जावे तंय, रैया रतनपर, कि सुआ न हो,  
कि जहां राजा लेवे अवेट, कि..... ।  
ऊंचे मनसिरवा हवै लाली-लाली आंखियां, कि सुआ न हो,  
कि मुंहे मय चुहत हवै रेफ, कि..... ।  
कुदइ सांवर रंग हवय देह जअरठन, कि सुवा न हो,  
कि वीर बराबर वेग, कि..... ।  
उन्हीं ला जाय के तें पाती महावे, कि सुवा न हो,

कि वह देवे तिरिया संदेश, कि..... ।  
लेके संदेशा तुरत चले आवे कि सुवा न हो,  
कि जिनको नोरावे बिलमाय, कि..... ॥  
सोने की थारी में जेवन हो, कि सुवा न हो,  
कि जो लइयो पिया का संदेश, कि..... ।  
मोतियन झालर डैना गुथइहों, कि सुवा न हो,  
पैंया टेक रहिहों हमेश, कि..... ॥

जनजातीय समाज में विवाह परम्परा वैसी ही है, जैसी आज से सहस्र वर्ष पूर्व प्रचलित रही है। आंशिक परिवर्तन के साथ, समय और परिस्थितियों के साथ भारतीय समाज की सभी वैवाहिक परम्पराओं में समानता है। आरंभ से अन्त तक मूल सोच और विवाह की मांगलिक भावनाएँ समान हैं। दाम्पत्य जीवन में प्रवेश की घटना जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षण है, जिसे स्मरणीय और कल्याणकारी बनाने के लिये विवाह के पूर्व की सोच-समझ, छानबीन, सामाजिक समझ और समान वैचारिक चिन्तन उपयोगी ही नहीं अनिवार्य है, ताकि दाम्पत्य जीवन आनन्दमय हो। पारिवारिक सामंजस्य के साथ एक दूसरे के लिये आत्म समर्पण भी हो। सामाजिक सुख और समृद्धि इसी पर निर्भर है।

समस्त वैवाहिक रस्में इसी भावना के साथ इस मंगलकार्य में समाहित होती हैं और सामाजिक सोच के लिये समर्पित होती हैं।

निश्चित रूप से वैवाहिक संस्कार में सुख और दुःख के क्षण आते हैं। किन्तु उन्हें किस तरह, किसी स्थितप्रज्ञ की भाँति सहते हैं, स्वीकार करते हैं और जीवन आगे बढ़ जाता है। परिस्थितियों के दास न बनते हुए, घटनाओं से अप्रभावित रहते हुए वर्तमान को स्वीकार कर समस्त रागात्मक अवसरों को सहजता से पार करते हुए जीवन आगे बढ़ता जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति से परिवार और परिवार से समाज की कड़ी बनती जाती है। एक समग्र जीवन का दर्शन आगे विकसित होता हुआ बढ़ता जाता है।



## आदिवासी संस्कृति में कौड़ी

सुनीता श्रीवास्तव

भारत के आदिवासी क्षेत्रों में कौड़ी उनके संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आज भी ग्रामीण बाजारों में कंधी, माला और चूड़ी, चेन के साथ कौड़ी भी बिकते नजर आते हैं। कौड़ी का प्रचलन ग्रामीण आदिवासियों में है और बंगाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ व मध्यप्रदेश में सर्वाधिक प्रयोग में आता है।

कौड़ी क्या है? कौड़ी कर्क और मकर रेखा के समीप उथले समुद्र तलों में पाये जाने वाला समुद्री जीव का खोल है। जो शंख या सीप प्रजाति से मिलता-जुलता है। यह आकार में छोटा करीब एक से दो सेंटीमीटर लम्बा और पौन से एक सेंटीमीटर चौड़ा होता है। यह एक ओर उभरा हुआ, ऊँट के पीठ की तरह होता है और दूसरी ओर बीच में लम्बी दरार वाला दिखता है। यह दरार अंदर की ओर मुड़ी रहती है। समुद्री जीव शंख और सीप की तरह यह खड़िया की तरह कैल्शियम कार्बोनेट व सिलिकॉन के यौगिक से बना रहता है। यह आसानी से नहीं टूटता। कैल्शियम से बने होने के कारण इसका रंग सफेद होता है। इसकी पीठ पर हल्के पीले निशान बने रहते हैं। कौड़ी बड़े आकार वाले भी मिलते हैं और उनका रंग कत्था जैसा होता है।

डंडामी माड़िया सींग वाले सिर के पहनावे को पहनकर नाचते हैं, जो मोरपंख, जंगली मुर्गों के पंख और कौड़ियों की झालर से बना होता है। वे लंगारी पहनते हैं जो बारह से चौदह इंच चौड़ा और धोती की लम्बाई से कुछ अधिक होता है। इसे कमर पर लपेट लेते हैं और टोका (छोर) को बायीं या दाईं ओर पैर पर लपटने दिया जाता है। इस वस्त्र के ऊपर की ओर कौड़ी की कौंधनी बाँधी जाती है, जो वस्त्र से कुछ हट जाता है। कौड़ी का विनिमय के रूप में प्रचलन करीब 40 साल पहले था। अतः अब उनकी उपलब्धि कम है। पुरानी कौड़ी की कौंधनी अब घर में हिफाजत से रखी जाती है। इस कौड़ी को कौंधनी के स्थान पर करीब सौ-सवा सौ साल पहले

10-15 पतली डोरी बाँधी जाती थी। माड़िया कौड़ी की कौंधनी के स्थान पर एक कमर में डोरी बांधते हैं, जो 'पारा नोरी' कहलाता है।

सींग पर टोपी बास्केट की होती है। उस पगड़ी पर रंगीन कपड़ा लिपटा रहता है। अकेली या डबल लाइन कौड़ी की किनारी में सिली रहती है और सींग की निचले किनारे पर चेहरे के ऊपर कौड़ियों की झालर रहती है।

### मिथक कथा

वेरियर एलिवन ने कौड़ी सम्बन्धी मुरिया मिथक का वर्णन किया है। बस्तर के उत्तर भाग में प्रचलित कथा के अनुसार भगवान के घर से देवी, किशोर और किशोरी कन्याएँ घूमने निकले और पृथ्वी पर नाचने और स्नान करने उतर आए। इनकी एक टोली राज्य में उत्तरी पठारी क्षेत्र में बसे चिखली गाँव पहुँची। स्नान करने के बाद देवी किशोरियाँ सिर के बालों की कौड़ी के गहने छोड़ गईं। मोटियारियों में यह गहने बहुत पसंद किए जाते हैं और कभी-कभी बहुत से कौड़ियों का गहना सिर के पीछे भाग को ढँका हुआ मिलता है। जब किशोरियों को मालूम हुआ कि कौड़ियों से जड़ा गहना खो गया है तो उन्हें क्रोध आया। उन्होंने कौड़ी-कौड़ियों को शाप दिया कि अब से कौड़ियाँ साबूदाने बन जायें और हमेशा हम तुम्हारे साथ रहें और कभी तुम्हें ना खोना। इसी कारण यह कहा जाता है कि कौड़ी एक पंखों का गुच्छा है जो लिंगों के पगड़ी से गिरा था।

### विवाह में कौड़ी का प्रयोग

बस्तर के मुरिया गोंडों में लड़के वाले के माँ-बाप जब दूसरी बार (पहली बार नक्की) लड़की के यहाँ जाते हैं तो चार बास्केट चावल और शराब ले आते हैं। लड़के की माँ लड़की के पैर शराब से धोती है और अँगूठी प्रदान करती है। किन्हीं गाँव में शराब चावल में डालते हैं और पूर्वजों के बर्तन में कौड़ी या शराब डालते हैं। यह लड़की हम अपने (गोत्र) में लेते हैं और लड़की के बदले कौड़ी प्रदान करते हैं। यह प्रदान भिन्न परिवारों में भिन्न होता है।

एसलनार में यह कहा गया है कि पुराने दिनों में पाँच कौड़ी देने की प्रथा थी और अब पन्द्रह पैसे पुराने दिये जाते हैं। इसी

प्रकार दूसरे स्थान पर तीन कौड़ी देने की प्रथा थी और अब नौ पैसे पुराने दिये जाते हैं।

### घोटुल का हरजाना

मुरिया गोंड में चिमरी में यह पाया गया कि जब वर के माता-पिता घर वापस जाते हैं, तब मोटियारी उनको रोककर हर्जाना मांगती है। छोटी अंगूठी या कौड़ियाँ घोटुल छूटने का हर्जाना के तौर पर माँ-बाप मोटियारी को दे देते हैं। यह विवाह के उत्सव के समय दिया जाता है।

### धार्मिक अनुष्ठान में कौड़ी

कुछ धार्मिक कृत्यों में जैसे नये देव का जन्म (अदनार गाँव में सन् 1941 में एक इस प्रकार का उत्सव हुआ था) देव को प्रसन्न करने के लिए स्त्रियों ने कौड़ियों का जेकेट पहन कर नाचा। यह जेकेट कौड़ियों से सजा था।

### सजावट और श्रृंगार

मुरिया जोरिया गोंड चेलक कौड़ी का बेल्ट (कमरबंद) पहनते हैं, जो लुंगी (पहनावा) के कुछ ऊपर बांधा जाता है। पैसे वाले लोग चौड़ा चाँदी का करदान पहनते हैं, जो कि बाजार से खरीदा जाता है और लड़कियाँ जो व्यवहार में लाती हैं। मुरिया जोरिया लड़कियाँ सिर पर कंधियाँ लगाती हैं और साथ में कौड़ियों का मोटा गुच्छा पहनती है। पर जोरिया इलाके के उत्तर में कोन्डा गाँव के आस-पास चेलिक कौड़ी का पट्टा तो नहीं पहनते, पर कमर पर कौड़ी की लटकन, झुनझुने और तम्बाकू की डिबिया रखते हैं। मुरिया कोन्डागाँव के पूर्वी भाग में सिर पर कौड़ी की माला बांधते हैं। यह माला उरेला में देखा गया है। माला सागो केरेको में बंधा होता है।

### सिर का प्रसाधन

मुरिया लड़कियाँ सिर के बालों को कंधी कर पीछे लटकाती हैं। पीछे लकड़ी का गुरका (कुंजर बल्ला) पर लपेटती हैं और कुंजर कोटो (लकड़ी के पिन) से अटका देती हैं। उस पर कौड़ियों के गुच्छे, रंगीन ऊन या बड़े काँच के दानों की लच्छी लटकती है। सिर में लड़के-लड़कियाँ तेल लगाते हैं, पर जोरिया बालों का श्रृंगार करते हैं। सिर पर छोटे काँच के दानों की पट्टियाँ

(पट्टा) लगाती है। यह पट्टियाँ मुटियारी बनाती है और लड़के-लड़कियाँ पहनते हैं। जोरिया के मोटियारी कौड़ियों का गुच्छा सिर पर बांधती हैं और साथ में लाल, हरा और नीले ऊन का गोला होता है।

### जादू-टोने में कौड़ी

ऐसा कहा जाता है कि जब किसी व्यक्ति को विषैला सर्प काटता है, उस व्यक्ति का विष उतारने के लिए कौड़ी का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है- बिहार के मोतिहारी जिले में कहा जाता है कि साँप काटने पर आदिवासी ओझा (पड़िहार) उसे तंत्र-मंत्र द्वारा झाड़ता है और विष को खत्म करता है। पहले तांत्रिक चार कौड़ी लेकर कुछ मंत्र पढ़ता है, फिर उन चारों कौड़ियों को चारों दिशा में फेंकता है। कौड़ी के फेंकने के बाद साँप जिस दिशा में रहता है, उस दिशा से अपने आप तांत्रिक के पास आकर जिस व्यक्ति को काटा होता है, उसका विष निकाल लेता है। इस तरह वह व्यक्ति बच जाता है।

### कौड़ी मुद्रा के रूप में

ऐसे प्रमाण मिले हैं कि गोंडी समाज में कौड़ी मुद्रा के रूप में भी व्यवहृत होता था। गाँव के साप्ताहिक बाजारों में गोंड अपनी

दैनिक घरेलू वस्तुओं का क्रय करने जाते हैं। वहाँ वे कुछ कौड़ी देकर वस्तुएँ खरीदते हैं। सरकारी धातु मुद्रा अंग्रेजों ने चलाया था। कहा जाता है कि करीब सौ साल पहले बस्तर नरेश ने ब्रिटिश सरकार को वार्षिक धनराशि बोरों में कौड़ी भरकर देते थे। वैसे आज भी कौड़ी के दाम में बिका, मैं कौड़ी-कौड़ी चुका दूँगा, मेरे पास कानी-कौड़ी भी नहीं है आदि कहावतें कौड़ी के मुद्रा के रूप में प्रयोग से ही आपस की बोलचाल में आया है। यद्यपि आज भी गोंडों के दूर-दराज गाँवों में वस्तु के विनिमय में कौड़ी का प्रयोग होता है। परन्तु अब कौड़ी की कीमत कम हो गई है।

कौड़ी का प्रयोग आज भी आदिवासी समाज में होता है। अफ्रीका के पूर्वी तट के आदिवासियों में इसका प्रयोग देखा गया है। गोंड कौड़ी को मुद्रा के रूप में पूजते हैं। हिन्दु संस्कृति में कौड़ी को लक्ष्मी पूजा में एक सामग्री के रूप में देखा गया है। कदाचित हिन्दु प्रभाव आदिवासी संस्कृति में भी पड़ा है। सोना-चाँदी की तरह कौड़ी एक पवित्र, क्षय न होने वाला, बहुत दिनों तक टिकने वाला, सदा चमकने वाली प्राकृतिक वस्तु है। जो गोंड समाज में सांस्कृतिक धरोहर की तरह सदा इस्तेमाल होता रहेगा।

## बघेली में मानस का प्रभाव

डॉ. सेवाराम त्रिपाठी

‘रामकथा मूलतः रामलीला है। तुलसीदास ने जब लीलाकाव्य के रूप में मानस की रचना की और जगह-जगह लीला प्रस्तुत करने की व्यवस्था की, तब वह वास्तव में रामकथा की मूल सत्ता और उसकी प्रेरणा-शक्ति को सही पहचान रहे थे, भले ही उन्होंने लीला को एक अवतार-पुरुष की लीला के रूप में प्रस्तुत किया। यह हम कह आये हैं कि लीला नाटक नहीं होती, उसका मंचन नहीं किया जाता; उसके बाद एक घटना दोबारा घटित की जाती है। आवृत्ति के द्वारा उसका नवीनीकरण किया जाता है। मिथक के अध्ययन से हम जानते हैं कि मिथकीय घटना की आवृत्ति भी इसी भावना से की जाती है – उसकी शक्ति को वह पुनर्जीवित और पुनः प्रतिष्ठित करती है।’ — स.ही. वात्स्यायन ‘अज्ञेय’

भारतीय जनमानस में रामचरित मानस का यह एक पहलू है, जिसे अज्ञेय जी ने उसकी मूल्यवत्ता और क्षमता के साथ रेखांकित किया है। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में पहचाना गया। उनका चरित्र भारतीय जनजीवन में आदर्श के रूप में देखा गया। जाहिर है कि आदर्श की संकल्पना और उसका निर्वाह बहुत कठिन होता है। वह एक अद्भुत मूल्य है। उस मूल्य से विचलन के खतरे भी अनेक हैं। बघेली संस्कृति अपने अंचल में विशेष रूप से रेखांकित है और उस अंचल की आस्थाओं, विश्वासों, जीवन-मूल्यों और वहाँ की संघर्षशीलता में, हँसी-खुशी में दुःख और विषाद के साथ उस अंचल के आत्मीय और सामाजिक श्रेणी में लगातार प्रतिबिम्बित होती है। जाहिर है कि रामचरित मानस के मूल्यों और राम की सोच-प्रणाली में मोटे तौर पर एकता के सूत्र हैं। यहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था है और सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्शों के घटाटोप भी और मर्यादा पालन के जज़्बे भी हैं।

जब भी मैं बघेलखण्ड की प्रकृति, नदियों, नालों, पहाड़ों, जंगलों, झरनों, खेत-खलिहानों, खड्डों-खाइयों, यहाँ के पशु-पक्षियों,

स्त्री-पुरुषों के बारे में सोचता हूँ। खिलखिलाती अमराइयों, यहाँ रहने वाले वनवासियों के बारे में विचार करता हूँ। यहाँ की दुर्गमताओं की तरफ ध्यान देता हूँ तो रामचरित मानस की ये पंक्तियाँ बरबल स्मरण में आती हैं, जो वन जाने की आज्ञा मिलने पर राम ने सीता को समझाने के सिलसिले में कहीं थी। दरअसल राम वन की वास्तविकता से परिचित थे।

*कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी।  
कुस कंटक मग कांकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पदत्राना।  
चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमि धर भारे।  
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे।  
भालु बाघ वृक केहिर नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा।  
नर अहार रजनीचर चरही। कपट वेष विधि कोटिक करही।  
लागइ अति पहार कर पानी। विपिन विपति नहिं जाइ बखानी।  
ब्याल कराल विहग वन घोरा। निसिचर निकरि नारि नर चोरा।*

भावार्थ यह है कि— हे सीते! वन बड़ा कठिन, क्लेश देने वाला और भयानक है। वहाँ की धूप, जाड़ा, वर्षा और हवा सभी बड़े भयानक हैं। गुफाएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले अगम और गहरे हैं। यहाँ बाघ, रीछ, भेड़िये, सिंह और हाथी सभी भयानक आवाज़ करते हैं कि सुनकर धैर्य वालों का भी धीरज भाग जाता है। पहाड़ का पानी बहुत ही भयानक लगता है। इस तरह वन की विपत्ति का बखान नहीं किया जा सकता। वन में भीषण सर्प, भयानक पक्षी और स्त्री-पुरुषों को चुराने वाले राक्षसों के झुण्ड के झुण्ड रहते हैं। यह वर्णन राम ने मात्र सीता को डराने, समझाने भर के लिए नहीं किया था। बाद में ऐसा घटा भी है। इससे कौन इंकार कर सकता है? हाँ, ऐसा जरूर है कि यहाँ के सामान्य लोग अब भी भोले-भाले हैं, सहज और सरल हैं। उनमें सेवा-भाव है, तभी तो राम की वन-यात्रा में वहाँ के रहवासी उनकी सेवा में तत्पर हैं। गाँव के लोग कहते हैं—

*तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे। सेवा जोग न भाग हमारे।  
देव काह हम तुम्हहि गोसाईं। ईंधन पात किरात मिताई।  
नाथ हमार यहै सेवकाई। लेहिन बासन बसन चोराई।  
हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती।  
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट करि नहिं पेट अघाहीं।*

भावार्थ यह कि आप हमारे मेहमान हैं। आपकी सेवा करने लायक हम नहीं हैं। भीलों की मित्रता तो बस ईंधन (लकड़ी) और पत्तों तक ही सीमित है। हमारी तो यह बड़ी भारी सेवा है कि हम आपके कपड़े और बर्तन नहीं चुरा लेते। हम लोग जड़जीव हैं। जीवों की हिंसा करने वाले हैं। कुटिल, कुचाली, कुबुद्धि और कुजाति हैं। दिन-रात पाप करते हैं तो भी न तो हमारे कमर में कपड़ा है और न पेट ही भरते हैं। हमारे पास भूख का अखण्ड साम्राज्य है। यह है बघेली अंचल के सामान्य जनजीवन की झाँकी और उसका कठोर यथार्थ। जमाने के साथ बहुत कुछ बदला है लेकिन बघेली अंचल अभी भी अभावों में, कष्टों में और दुःखों के तापों से पीड़ित है। एक गहरी उदासीनता के बीच किसी तरह जीवन-यापन करता है। भविष्य के सपने देखता है और लगातार जीता हुआ सा लगता है।

तुलसीदास ने भूख की पीड़ा को देखा था। वे उसके यथार्थ से परिचित थे। उन्होंने कवितावली के अनेक पदों में बहुत व्यवस्थित तरीके से उसका बखान किया है—

*किसवी किसान-कुल बनिक भिखारी  
भाट चाकर, चपल नर चोर-चार चेटकी  
पेट को पढ़त, गुन गढ़त चढ़त गिरि  
अटल गहन वन आहन अखेट की  
ऊँचे-नीचे करम, धरम-अधरम करि,  
पेट को ही पचत बेंचत बेटा बेटकी  
तुलसी बुझाई एक राम घनश्याम ही ते,  
आग बड़वागि बड़ी है आग पेट की।*

यह भूख, यह पीड़ा, ये अभाव और किसी तरह जीवन निर्वाह के लिए संतप्त लोग अभी भी बघेली अंचल में हैं और अपने दिन फिरने का इन्तज़ार कर रहे हैं। ये दिन कब आयेंगे, जब भूख, गरीबी, बीमारी, लाचारी समाप्त होगी। वे भी अन्य जनपदों की भाँति सुखपूर्वक जीवन-यापन कर सकेंगे।

बघेली अंचल मोटे तौर पर अवधी का विस्तार है और बघेली का विस्तार छत्तीसगढ़ भी है। पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ-अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी में रामकथा का गायन, अनुगायन प्रमुखता से होता रहा है, फिर बघेली अंचल में तो राम-सीता और

लक्ष्मण के साथ अपने विपत्ति के दिनों में चित्रकूट में रहे हैं। रहीम ने यूँ ही नहीं कहा था- 'चित्रकूट में रम रहें रहिमान अवध नरेस/ जा पर विपदा पड़त है सो आवत यहि देस।' विपत्ति में लोग यहाँ आते हैं और यहाँ के रहवासी तो विपत्तियों में ही जीवन जीते हैं। यहाँ गिरे हुआँ को उठाने का रिवाज़ नहीं है, बल्कि उठे हुआँ को मिटाने की परम्परा है। अगस्त्य ने विन्ध्य को न उठने का शाप दिया है। यह शाप यह अंचल अभी भी झेल रहा है। सच तो यह है कि चित्रकूट राम की कर्मभूमि है। उनके सदाचार एवं आचरण की भूमि है। उनके संघर्ष की भूमि है। उनकी तपस्या और संयम की भूमि है। चित्रकूट और यह इलाका राममय है, फिर ऐसा कैसे हो सकता है कि बघेली सभ्यता और संस्कृति एवं यहाँ की प्रकृति में, यहाँ की बोली-बानी में, यहाँ के व्यवहार में, यहाँ की लोकधारा में राम और राम के चरित्र-काव्य रामचरित मानस का प्रभाव न हो। प्रभाव तो भरपूर और अकूत है। इस अंचल में राम का व्यक्तित्व, उनका शील, शक्ति और सौन्दर्य अनेक रूपों में जागृत एवं मुखर है। यहाँ राम का एक ही रूप नहीं है। कबीर के राम भी हैं, जो निर्गुण रूप में अपनी पहचान रखते हैं। यहाँ राजा राम भी हैं और यहाँ वनवासी राम भी हैं, लेकिन विशेषता यह है कि राम इस अंचल में सामान्य आदमी की तरह रहे। आदिवासियों, वनवासियों के बीच लगभग उन्हीं की जीवन-शैली में रहे। पर्णकुटी बनाकर उसकी छाँव में रहे। इसीलिए कोल, किरातों, निषादों एवं वन्य जातियों ने उन्हें सहयोग, आदर, स्नेह और हर प्रकार की सहायता की। ये वन्य जातियाँ राम से दिल खोलकर मिलीं। अपनत्व और उल्लास से मिलीं। जो कुछ भी उनके पास था उसे देकर मिलीं। राम से उन्होंने कुछ भी नहीं चाहा। कुछ भी नहीं लिया। प्रेम और अपनत्व के अलावा मुझे लगता है कि यहाँ के लोगों का मिलना और राम का मिलना लगभग दूध और पानी के मिलने जैसा रहा है, क्योंकि मिलने के पश्चात् उसे अलग नहीं किया जा सकता। एक लोकगीत की दो पंक्तियाँ देखें—

*रमइया मोही अइसन मिलहई हों।*

*अइसन मिलहई हों जैसई मिलई महतारी अउर बाप हो।*

रामकथा परम्परा के अनेक रूप हैं। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा- 'राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, कृष्ण लीला पुरुषोत्तम। राम का वनवास प्रसिद्ध है और कृष्ण की रासलीला और गीता। उत्तर

भारत में आज राम का जो रूप मान्य है, वह तुलसीदास चित्रित एवं विख्यात रूप ही है। अन्य कवियों द्वारा वर्णित रूप नेपथ्य में चले गये हैं। राम का जीवन चरित इतना प्रभावी है कि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने तो लिख ही दिया है कि राम का जीवन वृत्तान्त ही काव्य है। इसका वर्णन करने वाला कोई भी कवि हो सकता है। राम का यह काव्य-पुरुष रूप वाल्मीकि से लेकर आज तक के कवियों का सामूहिक प्रयास है।' गुप्त की पंक्तियाँ हैं- 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है/ कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।'

जाहिर है कि रामकथाएँ अनेक हैं। वाल्मीकि, भवभूति, कम्ब, कृतिवास, कालिदास आदि। लेकिन राम की प्रतिष्ठा और उनके चरित्र में तुलसीदास का योगदान अप्रतिम है। उनकी कथा परम्परा बघेली अंचल में लगातार विकसित और समृद्ध हुई है।

बघेली अंचल में रामकथा का विस्तार अनेक रूपों में है। यहाँ राम की प्रधानता है। इसी वजह से मन्दिरों में, प्राचीन भग्नावशेषों में एवं सांस्कृतिक स्थलों में राम का महत्त्व है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि मात्र रामचरित मानस के राम यहाँ विराजते हैं, क्योंकि रामकथा के विभिन्न स्रोत विभिन्न रूपों में भारतीय जनजीवन में समाये हैं। रामकथा वाल्मीकि, भवभूति और कालिदास की है और कुछ अंशों में मैथिलीशरण गुप्त की भी है, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की है। थोड़े से प्रभाव तो केशव की 'रामचन्द्रिका' के भी हैं, लेकिन इसमें भी दो राय नहीं हो सकती कि तुलसी के रामचरित मानस का प्रभाव सबसे ज्यादा है और सबसे टिकाऊ है क्योंकि रामचरित मानस के पश्चात् राम की मूर्तियाँ बनीं, राम के मन्दिर बने। रामलीलाएँ खेली जाने लगीं। मानस का गायन प्रारम्भ हुआ। राम संकीर्तन (राम धुन) प्रारम्भ हुआ। प्रवचन शुरू हुए। कथावार्ताएँ शुरू हुईं। सत्संग शुरू हुए। कथावाचकों, रामायणियों की एक पूरी परम्परा का प्रचलन हुआ। बघेली संस्कृति में और खासकर बघेली लोकगीतों में राम की विविध छटाएँ हैं। यहाँ के संस्कार गीतों में, ऋतुगीतों में और अन्य तरह के लोकगीतों में भी उनकी छवियाँ हैं। ये छवियाँ राम के लोक-लुभावन व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में हैं। उनके चरित्र का गायन है, लेकिन यहाँ के आदिवासी गीतों में राम से ज्यादा लक्ष्मण जती की चर्चाएँ हैं। राम के नाम पर कितने लोगों के नाम रखे जाते हैं, कुछ कहा नहीं जा सकता। वैसे नाम तो असंख्य हैं।



राम का, राम के चरित्र का प्रकाश बघेली अंचल में अकूत है। कभी-कभी लगता है कि यहाँ का हर व्यक्ति राम है और हर स्त्री सीता। रामलीला की अपार लोकप्रियता इस अंचल में बेहद रही है। गाँव-गाँव में रामलीला मण्डलियाँ रही हैं। यहाँ पच्चीस-पच्चीस दिनों तक रामलीलाएँ खेली जाती रही हैं। यहाँ के लोकजीवन में राम संकीर्तन का जितना महत्त्व है, उससे कहीं ज्यादा मानस के गायन का। किसी के यहाँ कोई उत्सव हो रहा है तो मानस होना आवश्यक है। यह मानस की लोकप्रियता का प्रमाण है। मानस के गायन में लोकगीतों की टेक लगाकर गाने का रिवाज रहा है। राम, सीता, लक्ष्मण को लोक ने बहुत गहराई तक स्वीकार किया है। लोक ने तो राम के भक्त और सेवक हनुमान को भी सिर आँखों पर लिया। हनुमान के मन्दिर बने। उनकी उपासना प्रारम्भ हुई।

राम के चरित्र का बखान कई तरह से होता है। रामानन्द सागर के टी.वी. धारावाहिक में रामायण का भव्य प्रदर्शन लोकप्रियता के नये मानक लेकर आया। बघेली अंचल भी इस लोकप्रियता में सबसे आगे रहा है। यह एक तरह के जादू के रूप में भी अक्सर अंकित होता रहा है।

बघेली अंचल में नमक को 'राम रस' कहा जाता है। गैर पढ़े-लिखे समाजों में रामचरित मानस को 'रामायण' के रूप में ही स्वीकार किया जाता है। यहाँ के रीति-रिवाजों में, जीवन-शैली में राम के आदर्शों को बहुत गहराई तक स्वीकार करने का आग्रह और माद्दा है। हालाँकि बदले हुए समय में इन सन्दर्भों में अनेक प्रश्रवाचक भी हैं। आधुनिकता के रेले भी हैं। वहीं भक्ति के तारों के टूटने की झनझनाहट है।

बाबू शारदाप्रसाद खत्री ने सतना जिले में सज्जनपुर और माधोगढ़ के बीच एक स्थान का सपना देखा था, उसे आजकल 'रामवन' के नाम से जाना जाता है। यहाँ मानस के समूचे काण्डों को चित्रमयता के साथ रेखांकित एवं शब्दांकित किया गया है। यह मानस के प्रभाव का ही प्रतिफल है। लोक ने 'रामवन' को भी स्वीकार कर लिया और यहाँ राम की झाँकियाँ देखने के लिए दर्शनार्थियों का तांता लगा रहता है।

बघेली लोकगीतों में राम के आदर्शों का प्रभाव सबसे ज्यादा है। सोहर, मुण्डन, कनछेदन, व्रतबंध (उपनयन) या विआह

(विवाह)। सभी तरह के अवसरों पर लोकगीत गाये जाते हैं। उनमें राम का उल्लेख और स्मरण किया जाता है। कुछ उदाहरण देखें—

धनी रे अजुधिया, धनी राजा दसरथ  
धनी तोरी भाग कोसिला, राम जनम भे हैं हो  
भंडवा के लूट भई जब राम जनम भे  
भंडवा के नाते रमइया दूध पी हैं हो।

एक दूसरा सोहर है— गर्भवती सीता वन में है, अयोध्या के राजा राम द्वारा त्यागी गईं। वे वन में सोचती हैं अब क्या होगा? समूचे काम-धाम कैसे सम्पन्न होंगे। अकेलापन उन्हें खल रहा है। गीत लम्बा है, उसका एक अंश देखें—

बनवा मां बइठी हैं सितारानी मन मा विसूरइं हों।  
मन मां विसूरइं हो।  
आवा को मोरे आगे-पीछे बइठी।  
लटें लट विउरी लटैलट बिउरईं हो।  
आवा को लोहध करिन बोलाई हो।  
तौ नारा छिनाई नारा छिनाई हो।

दूसरे और अन्तिम हिस्से में लव-कुश के जन्म के बाद रोचना अयोध्या जाता है— राम के पास नहीं, लक्ष्मण के पास। राम प्रश्न पूछते हैं, लक्ष्मण उत्तर देते हैं—

भल बौरान्या है भइया भलिन मति मारी।  
भलिन मति मारी हो।  
भइया भउजी के भै हंड नंदलाल।  
रोचन हम पाइन, रोचन हम पायेन हो।

भावार्थ यह है कि सीताजी वन में अकेली बैठी हैं और मन ही मन में चिन्तित हैं कि प्रसव-पीड़ा काल में कौन मेरे आगे-पीछे बैठेंगी और मेरे बालों की लटों को सँभालेंगी और कौन धाय (बच्चा पैदा कराने वाली) बुलायेगी। कौन नारा छिनवायेगी। अन्त में लक्ष्मण-राम को समझाते हैं कि भाई साहब, क्या आपकी मति मारी गई है या आप बावले हो रहे हैं। भाई साहब, भाभी जी को भगवान ने पुत्र दिया है। वहीं से यह रोचना आया है, जिससे मेरा माथा जगमगा रहा है।

बघेली लोकगीतों में राम के प्रभाव, राम की स्थिति को देखना है तो एक सोहर की कुछ पंक्तियाँ देखें। दरअसल इन सोहरों में मनुष्य की करुणा को भरपूर देखा जा सकता है। राम का अन्नप्राशन होना है। इसमें अनेक तरह के पकवान बनेंगे। उसमें हिरण का मांस भी होगा। तय है कि हिरना मारा जायेगा। हिरणी उदास है। गीत क्या है, करुणा की साक्षात् गंगा है और बघेली जनजीवन की बहुत बड़ी धरोहर है—

छापक पेड़ छिउलिया ता पतवन छापक हो  
अब ओही तरि ठाढ़ी हिरनियां ता मन मा विसूरई हो  
चरतई चरत हिरनवां, हिरनियां ते पूंछई हो  
हरिनी धौं तोरा चरहा झुरान धौं पानी बिन मुरझई हो  
न मोरा चरहा झुरान न पानी बिन मुरझई हो अब  
आजु आहि रामा जै पसनियां तुम्हई मारि तुरहई हो।

हिरना जानता है कि उसको मारा जायेगा। वह शान्त और सन्तुष्ट है। वह हिरनी को समझाता है—

भल वउरानी तू धनिया तो का को बउराइस हों अब  
मंसुआ ता सिझई रसोइयां खलरी साधु लै जइही हों।

हिरन को मार डाला गया। हिरनी कौशल्या के पास जाती है और उनसे विनती करती है कि हमें हिरना की खाल दे दें, जिसे वृक्ष पर टाँग कर मैं अपने हिरण की याद करती रहूँ। हिरणी को वहाँ भी हताश होना पड़ता है, क्योंकि कौशल्या जी उस खलरी से राम के लिए खंजड़ी बनवाना चाहती हैं, ताकि राम उससे खेलें। पंक्तियाँ हैं—

जब-जब बाजई खंजनियां सबद सुनि अनखई हो।  
अब ठाढ़ी विरछि तरी हरनी, ता मन मां विसूरई हो।

राम से सम्बन्धित कितने लोकगीत बघेली अंचल में गाये जाते हैं, कहना मुश्किल है। संस्कार गीत हैं, पर्वों-त्योहारों के गीत हैं, भक्ति के गीत हैं। राम के समूचे जीवन को केन्द्र में करने वाले इन लोकगीतों में बघेली अंचल के लोगों के प्राण बसते हैं। ये लोकगीत उनकी आस्थाओं और विश्वासों की धरोहर और अचल सम्पत्ति हैं। कुछ शीर्षकों को ही देख लें—

1. अंगने राम रथ साजई हों कलपति कौसिल्या  
रामा लखन सिया भये बनवासी।  
पिंजरा सुगनवां रोवई हों कलपति कौसिल्या।
2. चंदन केरि चउकिया मोतिन लागी झालर हो  
तेहि चढ़ि रामा नहाय सीतल रानी विहंसई हो।
3. गली खोरी खेलई आजु हो। रामा लखन दूनौं भइया।
4. रामा के लालि पनहियां महल धरि राखिन हो  
अब ओही का रही हई निहारि आँखिन जल बरसई हो।
5. रामा का वन काहीं जात दिखे रे कोऊ।
6. रामा लिहिन बनवास आगे के दिन बड़े गाढ़े।
7. दियना ऊ राखे लेसाय हो रामा लखन घरे अइहीं।
8. बरसई गगन घनघोर हो। सिया जी की भीजें चुनरिया।

रामचरित मानस का, रामकथा के विस्तार का और उसके प्रभाव को देखना है तो यह 'परछन गीत' जरूर सुनें—

बिआहि लाये रघुवर जानकी का  
अपने का लाये हाथी औ घोड़ा।  
सजाय लाये म्याना जानकी का  
अपने का लाये साला-दुसाला  
ओढ़ाय लाये चुनरी जानकी का।

जाहिर है कि ये तो कुछ पंक्तियों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। कथात्मक लोकगीत भी यहाँ प्रचलित हैं। रामकथा का प्रभाव अन्य रूपों में भी इस बघेली अंचल में रचा-बसा है। सामान्य जनता के मानस में तो रामकथा है ही। यहाँ के राजाओं ने भी राम को आराध्य मानते हुए साहित्य रचा है। महाराज विश्वनाथ सिंह द्वारा लिखित हिन्दी का पहला नाटक 'आनन्द रघुनन्दनम्' और महाराजा रघुराज सिंह द्वारा रचित 'राम स्वयंवर' को भी इसी कड़ी में देखा जा सकता है। ध्यान दीजिये कि सीता का स्वयंवर नहीं, यह राम का स्वयंवर है।

इसके अलावा राम से सन्दर्भित भक्ति गीतों में आत्मा की

पुकार सुनें तो लगेगा कि राम बघेली अंचल से बाहर कहीं गये नहीं हैं। कहीं जा भी नहीं सकते। वे चित्रकूट में बसते हैं। कामदगिरि, लक्ष्मण पहड़िया, सीता रसोइयां, कुमान धारा और पयस्वनी में है, स्फटिक शिला में हैं। वे बघेली अंचल के कण-कण में हैं। यहाँ के लोगों की टेर सुनते हैं। दुःख में, सुख में बघेली अंचल के लोग राम को पुकारना नहीं भूलते। उन्हें कष्टों से निजात मिले या न मिले, यह अलग प्रश्न है लेकिन वे उन्हीं राम को पुकारते हैं। विवाह या अन्य कोई उत्सव हो। पहला निमंत्रण राम को ही जाता है। दो लोकगीतों के कुछ अंश देखें—

1. *रमइया मोरी सुधि न छाड़ै हो,  
तोरे पाछेन पाछे आउब हो।*
2. *रमइया मोरे कइसन होइहई हो  
तोही देखि के अँखियाँ जुड़ान हो।*

राम की कथा के सन्दर्भ में मिथक और किंवदन्तियाँ हैं। क्या ये मिथक राम के प्रति हमारी आस्थाओं के शिलालेख नहीं हैं। हमारे लोकजीवन में जय रामजी की, जय श्रीराम, जय-जय राम, राम-राम भाई के कथन इस बात को प्रमाणित करते हैं कि राम न सही राम की लीलाएँ, राम नाम का महत्त्व इस अंचल के लोगों से कोई छीन नहीं सकता। उनके तथाकथित अनुयायियों और सौदागरों ने राम के व्यक्तित्व को खण्डित किया है, लेकिन थोड़ी-सी ही चोट पहुँचा पाये हैं।

मानस की लोकप्रियता का और राम की महिमा की यह कथा अनन्त है- हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता की तरह।

## पवनपुत्र की श्रेष्ठता डॉ. गार्गीशरण मिश्र 'मराल'

रामचरित मानस का सुन्दरकाण्ड इसलिए सुंदर है कि उसमें पवनसुत के लंका प्रवास की एकादश उपलब्धियाँ समाहित हैं। पवनसुत की इन उपलब्धियों के कारण यदि सुन्दरकाण्ड को 'हनुमान काण्ड' कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

हनुमान जी के लंका प्रवास की पहली उपलब्धि है देवताओं की दूत सुरसा की परीक्षा में शत-प्रतिशत अंक पाकर उत्तीर्ण होना। जैसे ही हनुमान जी लंका के लिए रवाना हुए, देवताओं ने उनके बल-बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए सर्पों की मायाविनी माता सुरसा को भेजा। वस्तुतः देवतागण आश्चर्य होना चाहते थे कि जिस जोखिम भरे कठिन कार्य के लिए हनुमान जी को लंका भेजा जा रहा है, उस काम के लिए वे सचमुच योग्य और उपयुक्त पात्र हैं या नहीं-

*जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानैं कहुँ बल बुद्धि बिसेषा।।  
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहिं बाता।।  
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा। सुनत बचन कह पवनकुमारा।।*

पवनसुत ने जैसे ही सुरसा के मुख से 'सुरन्ह' शब्द का उच्चारण सुना, वे समझ गये कि ये हमारी शत्रु नहीं हो सकती, क्योंकि वे देवताओं के काम से ही तो लंका जा रहे थे। अतः उन्होंने न तो सुरसा पर आक्रमण किया और न ही अपशब्द कहे, उसे सिर्फ यह बताया कि वे श्रीराम के काम से जा रहे हैं, काम करके जैसे ही लौटेंगे और सीता जी का समाचार प्रभु राम को सुना देंगे, तब वे स्वयं उसके मुख में आकर बैठ जाएँगे, ताकि वह उन्हें खा सके। इसलिए उन्होंने उसे माँ कहकर सम्बोधित किया और कहा कि अभी उन्हें जाने दे। जब सुरसा ने हनुमान जी को किसी भी हालत में जाने देना स्वीकार नहीं किया तब हनुमान ती ने कहा तो फिर तू मुझे खा ही

ले। इस पर सुरसा ने हनुमान जी को खाने के लिए-

जोजन भरि तेहिं बदन पसारा । कपि तन कीन्ह दुगुन बिस्तारा ।  
सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ । तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ ॥  
जस जस सुरसा बदन बढ़ावा । तासु दून कपि रूप दिखावा ॥  
सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा । अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ॥  
बदन पड़िठि पुनि बाहेर आवा । मागा बिदा ताहि सिर नावा ॥

सुरसा ने हनुमान जी को भयभीत करने के लिए एक योजन का देह विस्तार किया। इस पर हनुमान जी भयभीत नहीं हुए वरन् उन्होंने उससे दुगुना रूप दिखाकर दुगुनी महिमा सिद्धि का प्रदर्शन किया। यह स्थिति तब तक जारी रही, जब तक सुरसा ने सौ योजन का मुख नहीं बनाया। इस पर हनुमान जी ने लघिमा सिद्धि का प्रदर्शन करते हुए 'अति लघु रूप' बनाया और सुरसा के मुख में घुस कर बाहर आ गये। ऐसा करके हनुमान जी ने मानों सुरसा को चुनौती दी कि वह उन्हें खा सकती हो तो खा के दिखाए। इस चुनौती के पीछे भी उनमें अभिमान की भावना नहीं रही। क्योंकि उन्होंने अंत में सुरसा को सिर झुकाकर अभिवादन भी किया। इस प्रकरण से हनुमान जी की निर्भयता, साहस, शारीरिक बल, सिद्धियों में श्रेष्ठता, बुद्धि चातुर्य, विनम्रता आदि गुणों का परिचय मिलता है। तभी तो प्रसन्न होकर सुरसा ने हनुमान जी को आशीर्वाद देते हुए कहा-

राम काजु सब करिहु तुम्ह बल बुद्धि निधान ।  
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान ॥

पवनसुत के लंका प्रवास की दूसरी उपलब्धि है समुद्र में रहने वाली राक्षसी का वध। यह निशाचरी समुद्र में रहती थी। इसकी विशेषता यह थी कि वह आकाश में उड़ने वाले जीवों को खाया करती थी। आकाश के जीवों की समुद्र में पड़ने वाली परछाई को जैसे ही यह पकड़ती थी, वे उड़ नहीं पाते थे और समुद्र में गिर पड़ते थे, तब यह उन्हें खा लेती थी। उसने वही छल हनुमान जी से किया। हनुमान जी तुरंत उसका कपट पहचान गये। फलतः हनुमान जी ने पहले उसे मार डाला, बाद में समुद्र पार किया-

निसिचर एक सिंधु महुँ रहई । करि माया नभ के खग गहई ॥  
जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं । जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं ॥

गहइ छाँह सक सो न उड़ाई । एहि बिधि सदा गगनचर खाई ॥  
सोइ छल हनुमान कहँ कीन्हा । तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा ॥  
ताहि मारि मारुतसुत बीरा । बारिधि पार गयउ मतिधीरा ॥

पवनसुत की तीसरी उपलब्धि लंका के प्रवेश द्वार पर रहने वाली राक्षसी लंकिनी को सबक सिखाना है। जब हनुमान जी मसक का रूप बनाकर लंका में प्रवेश करने लगे तो लंकिनी ने उन्हें देख लिया और कहा कि मेरा निरादर करके अंदर कहाँ जा रहा है। रे दुष्ट! तुझे क्या मेरा भेद ज्ञात नहीं कि जहाँ तक जितने भी चोर हैं, वे सब मेरे आहार हैं। हनुमान जी ने जैसे ही लंकिनी को अपने लिए 'दुष्ट' और 'चोर' शब्द कहते सुना वे समझ गये कि यह शत्रुपक्ष की राक्षसी है। अतः उन्होंने उसे तुरन्त एक जोरदार घूँसा लगाया जिससे वह व्याकुल होकर खून की उल्टी करती हुई धरती पर लुढ़क गई। किन्तु वह पुनः सँभलकर खड़ी हुई और हाथ जोड़कर विनती करती हुई बोली कि रावण को जब ब्रह्मा जी ने वर दिया, तब उन्होंने मुझे पहचानकर बताया था कि जब तू किसी कपि के मारने से व्याकुल हो तो समझ लेना कि निशिचरों के संहार का समय आ गया है। फिर उसने इसे अपने लिए बड़े पुण्य की बात मानी कि उसे भगवान राम के दूत के दर्शन का सौभाग्य मिला। अंत में लंकिनी ने हनुमान जी से लंका नगरी में प्रवेश कर भगवान राम के सब कार्य करने का निवेदन किया-

नाम लंकिनी एक निसिचरी । सो कह चलिसि मोहिं निंदरी ॥  
जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा । मोर अहार जहाँ लागि चोरा ।  
मुठिका एक महा कपि हनी । रुधिर बमत धरनीं ढनमनी ।  
पुनि सँभारि उठी सो लंका । जोरि पानि कर बिनय ससंका  
जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा । चलत विरंचि कहा मोहि चीन्हा ॥  
बिकल होसि तैं कपि के मारे । तब जानेसि निसुचर संधारे ॥  
तात मोर आति पुण्य बहूता । देखेउँ नयन राम कर दूता ॥

पवनसुत की चौथी उपलब्धि है लंका में विभीषण से मित्रता करना। किसी अनजाने देश में अपने शत्रु राजा की राजधानी में किसी सज्जन व्यक्ति को खोजना और फिर उसे अपना मित्र बना लेना निश्चय ही एक बड़ी उपलब्धि है। हनुमान जी ने लंका में विभीषण की एक सज्जन के रूप में पहचान अपने बुद्धि चातुर्य से की-निवास में अंकित 'रामायुध' और वहाँ विकसित 'नव

तुलसिका वृन्द' को देखकर की। तभी मन में एक शंका उठी कि लंका तो निशाचरों की नगरी है, यहाँ सज्जन कहाँ निवास करने आयेगा-

*लंका निसिचर निकर निवासा ।  
इहाँ कहाँ सज्जन कर वासा ॥*

लेकिन इस शंका का निवारण उसी समय हो गया, जब विभीषण ने जागते ही राम का नाम लिया। हनुमान जी ने पुनः अपने बुद्धि-चातुर्य का परिचय देते हुए विभीषण से हठपूर्वक पहचान करने का निर्णय लिया और इस हेतु तुरंत ब्राह्मण का वेश बनाया और कुछ कहकर विभीषण को अपनी ओर आकर्षित किया। दोनों ने एक दूसरे को अपना परिचय दिया और राम का गुणगान किया। विभीषण से ही हनुमान जी को सीता माता का पता और वहाँ पहुँचने की युक्ति भी ज्ञात हुई-

*पुनि सब कथा बिभीषण कही । जेहि जनकसुता तहँ रही ॥  
तब हनुमंत का सुनु भ्राता । देखी चहउँ जानकी माता ॥  
जुगुति बिभीषण सकल सुनाई । चलेउ पवनसुत बिदा कराई ॥*

पवनसुत की पाँचवीं उपलब्धि सीता माता का पता लगाना है। सीता माता अशोक वाटिका में जिस अशोक के पेड़ के नीचे सशोक बैठी थीं, हनुमान जी उसी पेड़ के ऊपर पत्तों के बीच इस प्रकार छिपकर बैठे थे कि वे सबको देख सकते थे, पर कोई उन्हें नहीं देख सकता था। वहीं से उन्होंने रावण और माता सीता का पूरा संवाद सुना, जिससे उन्हें पता लगा कि रावण साम, दाम, दंड, भेद आदि सभी नीतियाँ अपनाकर सीता को अपनी पटरानी बनाना चाहता है। निराश होकर रावण के जाने के बाद हनुमान जी ने बड़ी चतुरता से श्रीराम की अगूँठी सीता जी तक पहुँचाई और स्वयं का रामदूत के रूप में परिचय दिया-

*राम दूत मैं मातु जानकी । सत्य सपथ करुणानिधान की ॥  
यह मुद्रिका मातु मैं आनी । दीन्हि राम तुम कहँ सहिदानी ॥  
नर बानरहि संग कहु कैसे । कही कथा भइ संगति जैसें ॥*

फिर हनुमान जी ने सीता को भगवान राम का संदेश सुनाया, ढाँढस बँधाया और कहा कि भगवान राम वानरों की सेना लेकर आयेंगे और राक्षसों का वध कर तुम्हें वापस ले जायेंगे। हनुमान जी का छोटा रूप देखकर सीता जी को संदेह हुआ कि ये

छोटे-छोटे वानर बड़े-बड़े राक्षसों का मुकाबला कैसे करेंगे। तब हनुमान जी ने उन्हें अपना विराट और विकराल रूप दिखाकर संतुष्ट किया-

*हैं सुत कपि सब तुन्हहि समाना । जातुधान अति भट बलवाना ॥  
मोरें हृदय परम संदेहा । सुनि कपि प्रगत कीन्हि निज देहा ॥  
कनक भूधराकार सररी । समर भयंकर अतिबल बीरा ।*

हनुमान जी की छठवीं उपलब्धि सीता जी को भगवान का संदेश सुनाना है। यह काम संभवतः हनुमान जी के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता था। क्योंकि यह संदेश वास्तव में हनुमान जी ने नहीं स्वयं भगवान राम ने सीता जी को सुनाया। क्योंकि हनुमान जी ने उक्त संदेश सुनाने के लिए अपने हृदय में विराजे भगवान राम का आवाहन किया। ऐसा हनुमान जी को इसलिए करना पड़ा, क्योंकि संदेश की शब्दावली ऐसी थी कि उसका उच्चारण हनुमान जी माता सीता के लिए स्वयं नहीं कर सकते थे। सम्पूर्ण संदेश प्रथम पुरुष में कहा गया है, जिससे प्रमाणित होता है कि वह संदेश स्वयं राम ने सीता को सुनाया है। संदेश सुनाने के पहले हनुमान जी की भाव दशा स्वयं भी यह प्रमाणित करती है कि हनुमान जी ने वह संदेश सुनाने के लिए भगवान राम का आवाहन किया-

*रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर ।  
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर ॥*

हनुमान जी की सातवीं उपलब्धि रावण की सेना के योद्धाओं के प्रकार और उनकी शक्ति का पता लगाना है। यह पता उन्होंने अशोक वाटिका में फल खाने और उसे उजाड़ने के बहाने लगाया। अशोक वाटिका में हनुमान जी का सबसे पहले सामना भट योद्धाओं से हुआ, जिन्हें अशोक वाटिका की रखवाली के लिए नियुक्त किया गया था। ये रावण की सेना के सबसे निचले स्तर के योद्धा थे। हनुमान जी ने कुछ भटों को तो मार डाला, पर कुछ को छोड़ दिया, ताकि वे रावण तक समाचार पहुँचा सकें। समाचार मिलने पर रावण ने फिर से और भटों को भेजा-

*रहे तहाँ बहु भट रखवारे । कछु मारेसि कछु जाइ पुकारे ॥  
नाथ एक आवा कपि भारी । तेहि असोक बाटिका उजारी ॥  
खाएसि फल अरु विटप उपारे । रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे ॥*



सुनि रावण पठस भट नाना । तिन्हाहि देखि गर्जेउ हनुमाना ॥  
सब रजनीचर कपि संधारे । गए पुकारत कछु अधमारे ॥

इस प्रकार हनुमान जी ने रावण के इन नये भट योद्धाओं का भी आसानी से संहार कर दिया। तब रावण ने अपने पुत्र अक्षयकुमार को द्वितीय श्रेणी के सुभट योद्धाओं को साथ लेकर भेजा। इस पर हनुमान जी ने एक पेड़ उठाया और उस पर पटककर, उसे मार डाला, फिर महागर्जना की। सारे सुभट योद्धाओं में से कुछ को मारा, कुछ को मसल कर धूल में मिला दिया और कुछ ने जाकर रावण को बताया कि वानर बड़ा बलशाली है-

पुनि पठयउ तेहिं अच्छकुमारा । चला संग लै सुभट अपारा ॥  
आवत देखि बिटप गहि तर्जा । ताहि निपात महाधुनि गरजा ॥  
कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि ॥  
कघु पुनि जाय पुकारे प्रभु मर्केट बल भूरि ॥

इस पर नाराज होकर रावण ने बलशाली मेघनाद को भेजा। साथ ही यह निर्देश भी दिया कि वानर को मारना नहीं, केवल बाँधकर लाना, ताकि पता चले कि कपि कहाँ का है। बंधु के निधन का समाचार सुन नाराज अतुलनीय बलशाली मेघनाद चल पड़ा। हनुमान जी ने उसे देखकर समझ लिया कि यह दारुण भट है जो अपने साथ महाभटों को लेकर आया है। तब हनुमान जी ने एक बहुत बड़ा पेड़ उखाड़ा और उसके सहारे मेघनाद को रथहीन कर दिया। जब तक मेघनाद सँभले हनुमान जी ने उसके महाभटों को अपने शरीर से रगड़कर मसल डाला। फिर मेघनाद को एक घूँसा मारकर पेड़ पर चढ़ गये। सब प्रकार से हताश होकर मेघनाद ने हनुमान जी को ब्रह्मास्त्र से बेसुध कर नीचे गिराया और नागपाश से बाँधकर ले गया। इस प्रकार हनुमान जी ने पता लगा लिया कि रावण की सेना में चार प्रकार के योद्धा-भट, सुभट, महाभट और दारुण भट हैं-

सुनि सुत बध लंकेस रिसाना । पठएसि मेघनाद बलवाना ॥  
मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही । देखिअ कपिहि कहाँ कर आही ॥  
चला इंद्रजित अतुलित जोधा । बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा ॥  
कपि देखा दारुण भट आवा । कटकटाइ गर्जा अरु धावा ॥  
अति बिसाल तरु एक उपारा । बिरथ कीन्ह लंकेस कुमारा ॥  
रहे महाभट ताके संग । गहि गहि कपि मर्दई निज अंगा ॥  
तिन्हाहि निपाति ताहि सन बाजा । भिरे जुगल मानहुँ गजराजा ॥

मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई । ताहि एक छन मुर्छा आई ॥  
उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया । जीति न जाइ प्रभंजन जाया ॥  
ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहिं मारा । परतिहुँ बार कटक संधारा ॥  
तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊ । नागपास बाँधेसि लै गयऊ ॥

हनुमान जी की आठवीं उपलब्धि रावण को वाक्युद्ध में परास्त करना है। इसका प्रमाण यही है कि जब कोई वाक्युद्ध में हार जाता है तो वह क्रोध से तिलमिला उठता है। यही रावण के साथ भी हुआ। जब रावण ने हनुमान से कहा कि तेरी मृत्यु निकट आ गई है, तभी तू गुरु के समान मुझे सिखा रहा है। तब हनुमान जी ने कहा कि उल्टा होने वाला है क्योंकि तुम्हारा मतिभ्रम स्पष्ट हो गया है-

बोला बिहसि महा अभिमानी । मिला हमहि कपि गुर बड़ग्यानी ॥  
मृत्यु निकट आई खल तोहीं । लागेसि अधम सिखावन मोही ॥  
उलटा होइहि कह हनुमाना । मतिभ्रम तोर प्रगट मैं जाना ॥  
सुनि कपि बचन बहुत खिसियाना । बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना ॥

हनुमान जी की नवीं उपलब्धि लंका दहन करना है। जब हनुमान जी की पूँछ में आग लगा दी जाती है, तब वे बहुत छोटा रूप धारण कर लेते हैं। इससे उनके सब बंधन ढीले हो जाते हैं। तब वे बंधन से छूटकर सोने की अटारी पर चढ़ जाते हैं, जिससे सभी राक्षसियाँ भयभीत हो उठती हैं। इस प्रकार हनुमान जी विभीषण का घर छोड़कर सारी लंका को जला डालते हैं-

पावक जरत देखि हनुमंता । भयउ परम लघुरूप तुरंता ॥  
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी । भई सभीत निसाचर नारीं ॥  
जारा नगस निमिष एक माहीं । एक बिभीषण कर गृह नाहीं ॥

हनुमान जी की दसवीं उपलब्धि सीता का पता लगाकर उनकी निशानी-चूड़ामणि-भगवान राम तक पहुँचाना तथा सीता की दशा की जानकारी देना है।

चलत मोहि चूड़ामणि दीन्ही रघुपति हृदयँ लाइ सोइ लीन्ही ॥  
सीता कै अति बिपति बिसाला । बिनहि कहे भलि दीनदयाल ॥

हनुमान जी की ग्यारहवीं उपलब्धि भगवान राम से भक्ति का वरदान प्राप्त करना है। हनुमान जी भगवान राम से भक्ति का दुर्लभ वरदान मांगते हैं और भगवान उसे तुरंत प्रदान करते हैं-

नाथ भगति अति सुखदायिनी । देहु कृपा करि अनपायनी ॥  
सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी । एवस्तु तब कहेउ भवानी ॥

इस प्रकार पवनसुत के लंका प्रवास की एकादश उपलब्धियाँ उनके बुद्धि चातुर्य, साहस, बल, विपुल सिद्धियाँ और भक्ति भावना का परिचय देती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इतना सब करने के बाद भी हनुमान जी में अभिमान का अंकुर नहीं फूटा। इसका प्रमाण यही है कि जब भगवान राम ने हनुमान जी से पूछा-

कहु कपि रावन पालित लंका ।  
केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥

तब हनुमान जी ने अपनी अभिमानहीनता का परिचय देते हुए कहा-

साखामृग की बड़ि मनुसाई । साखा तें साखा पर जाई ॥  
नाधि सिंधु हाटकपुर जारा । निशिचर गन बधि बिपिन उजारा ॥  
सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछु मोरी प्रभुताई ॥

इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि हनुमान जी सर्वगुण संपन्न भक्ति शिरोमणि हैं।

## झाबुआई संस्कृति की झलक

डॉ. मनीषा सिंह मरकाम

कहा जाता है कि जो व्यवहारिक होता है, वह उतना ही लोकप्रिय होता है। इसीलिए अधिकांश लोग लोकप्रिय बनने के लिए व्यवहारिकता के अनेक अवयवों को धारण करने के प्रयत्न में देखे जाते हैं। लेकिन मेरी समझ में ऐसे लोग भ्रम में जीवन व्यतीत करने वाले विवश प्राणी हैं, जिन्हें सत्य के दो टूक सिद्धांत से रत्ती भर भी सम्बन्ध नहीं होता। तो क्या दो टूक बात करने वाला, सत्य को उसके मुँह पर कह देने वाला, निर्भीकता से लबरेज व्यक्तित्व, किसी भी बात पर विचार कर उसका काम मिनटों में बना देने वाला व्यक्ति क्या अव्यवहारिक होता है। मुझे इस बौद्धिक प्रश्न का उत्तर डॉ. कला जोशी के सान्निध्य से मिला। ऐसी प्रतिभा सम्पन्न मिलनसार विदुषी की पुस्तक 'आदिवासी संस्कृति' पर कलम चलाने का सुअवसर मिला। परमपिता परमेश्वर उन्हें और अधिक शक्ति प्रदान करें, जिससे वे अपनी साहित्य साधना से पाठकों को इसी प्रकार लोकसंस्कृति के बहुरंगी आयाम से परिचित कराती रहें। जो पाठक लोकसंस्कृति के विषय में जानने के जिज्ञासु हैं, पर उन्हें पठन-पाठन के लिए योग्य साहित्य का सतत् अभाव है, उनके लिए वे साफ और स्वच्छ भोज्य परोसती रहें। निःसन्देह डॉ. कला जोशी अनुशासन, ज्ञान और आचरण की त्रिवेणी हैं।

डॉ. कला जोशी की अपनी पुस्तक 'आदिवासी लोक संस्कृति' में झाबुआ के आदिवासियों की सभ्यता, संस्कृति, संस्कार और परम्परा के साथ नवचेतना का मूल है। इसी परिवेश में वे अपना उत्थान करते हुए नजर आते हैं। अतीत की अचूक पहचान रखने वाले आदिवासियों में नवीन के प्रति आदर का भाव पूरी पुस्तक में परिलक्षित हुआ है। पुस्तक का प्रथम अध्याय लोक संस्कृति की अवधारणा-इस बात का प्रमाण है कि वर्तमान में आदिवासी, परम्परा को स्वीकार करते हुए उससे मुक्त भी रहते हैं, यह उनके लिए अत्यंत कठिन है पर वे भलीभाँति समझते हैं कि परम्परा के भीतर कैसे आधुनिक बने रहें। परम्परा, आधुनिकता और संस्कृति के समन्वय रूप में आदिवासियों का योगदान एक नया स्पर्श दे रहा है। इस स्तर पर उनका संघर्ष भी अप्रतिम है। इस अध्याय में यह भी

बताया गया है कि परम्परा में अनमोल खजाना निहित है, इसे सिर्फ कोसने और नवीनता की बात करने में सिर्फ हमारे बीच राजनीति खड़ी है। लोक-संस्कृति के हमारे बीच अनेक अमर उदाहरण हैं। यदि लोक-संस्कृति में कुछ अच्छा है तो आधुनिकता को उसकी चर्चा करने से रोकना नहीं चाहिए। इसके विषय में हमारे बहुत प्रगतिशील लोग वैसे ही सोचते हैं, जैसे विदेशियों ने सोचा था। दुःख की बात यह है कि एक तरफ तो परम्परा और संस्कृति को विनष्ट कर देने का अभियान चल रहा। हम यह भी बात करते हैं कि लोक संस्कृति को तो हमें बचाकर रखना होगा, भले ही वह स्तर राजनीतिक क्यों ना हो, दूसरी ओर हम नैतिक मूल्यों में गिरावट की बात कर रहे हैं। इसलिए हमें चाहिए कि भारत में जो कुछ अच्छा है, उसे लिपिबद्ध करके रखा जाए कहानी, किस्सों, मुहावरों, लोकोक्तियों के माध्यम से उसे स्मृति में रखा जाए और वर्तमान में वह यदि काम का है तो उससे निर्द्वन्द्व काम लिया जाए।

पुस्तक का द्वितीय अध्याय झाबुआ की लोकसंस्कृति पाठकों के लिए बहुत ही उपयोगी और बौद्धिक विमर्श से भरपूर है। यह वैसा ही है जैसे-सौन्दर्य और उपयोगिता के बीच यदि चुनाव करना है तो ज्यादातर लोग उपयोगिता को ही चुनेंगे। इस अध्याय को पठन करते हुए प्राप्त आनंद को मैं कुछ इस अंदाज में समझाना चाहूँगी कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने भले ही साहित्य को कलाओं से पृथक कर दिया हो, पर है यह कला वैसी ही जैसे नृत्य करना, चित्र बनाना, बाँसुरी बजाना या तनी हुई रस्सी पर चलना। अगर साहित्य कला नहीं होती तो क्यों नहीं हर आदमी दो-चार कविताएँ लिख देता या चार-पाँच कहानियाँ गढ़ देता या एक-दो पुस्तकें ही लिख देता। कला सभी के भीतर होती है, पर वह उचित रीति से प्रकट हो इसके लिए साधक बनना पड़ता है और अपने सम्पूर्ण प्रयास के साथ साधना करनी पड़ती है। ऐसी ही साधना का परिणाम है पुस्तक 'आदिवासी लोकसंस्कृति' का यह द्वितीय अध्याय। लेकिन यह किसने कहा है कि संस्कृति की ऊँचाइयाँ सभी को समान रूप से अपना शिकार बनाती हैं। सत्यम, शिवम, सुन्दरम् तो बहुत बुरी तरह से पिट चुका है। बहरहाल इस दुनिया में भाँति-भाँति के लोग हैं। सभी अपनी समझ से जीने के लिए स्वतंत्र हैं।

लेखिका द्वारा आदिवासी लोकसंस्कृति की गवेषणा का प्रयास तीन सत्र ज्ञान, कर्म और सौन्दर्य को भलीभाँति ध्यान में

रखकर किया गया है। इन तीनों में कोई बैर नहीं है इसे दुहराया जा सकता है, इसमें कहीं परिक्षेत्रीय अध्ययन है, तो कहीं पौराणिक और भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन तो यत्र-तत्र सर्वत्र है। कहीं पर संस्कृति ग्रहण का प्रभाव है, तो कहीं अपनी मूल बोली खो चुके उन आदिवासियों की चिंता और उनकी उत्पत्ति से सम्बन्धित मिथकों की अत्यन्त ही सहज मनोरंजक ढंग से प्रस्तुतीकरण। यहाँ मनोरंजन शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि इसे पढ़ने से मेरे मन का रंजन हो रहा है, कहीं भी मुझे ऊबाऊपन नहीं प्रतीत हुआ। अध्याय अपनी गति से चलायमान हैं, वैसे भी हर साहित्य हमारा मनोरंजन ही करता है, पता नहीं क्यों साहित्य को इतनी भारी-भरकम चीज बना दिया गया है कि यदि उससे पाठकों का मनोरंजन होने लगे तो आज के लेखक या तो पाठक की रूचि को दोष देने लगते हैं या फिर उससे भी बड़ी बात अपने को ही विफल मानने लगते हैं। लेखक को महान बनने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसके लेखन में वो तत्त्व होना चाहिए, जिससे वह रचना सहित कालजयी हो। इस पुस्तक में भी लोकसाहित्य के लोकरस के बहुत से अर्थ मिलते हैं, जिसमें से हर अर्थ कहीं न कहीं आनंद से जुड़ता है। लोकसाहित्य भी आनंद पैदा करने का एक उपक्रम है, इसकी खूबी यह है कि करुण से करुण और रौद्र स्थिति में भी आनंद पैदा कर सकता है। यहाँ एक ऐसा साहित्य उभरकर सामने आ रहा है, जिसमें उस संस्कृति का समग्र अनुशीलन समाहित है। भौगोलिक परिस्थिति से लेकर सामाजिक विधि, कौशल, नए प्रतिमान, पारम्परिक और आधुनिक नवाचार।

जीवन एक ठोस घटना है, यह धरातलीय वातावरण में ही होती है, जिसकी अपनी खूबसूरती है, कुरूपताएँ हैं और कल्पना से सराबोर है। लेखिका ने अपने अगले अध्याय में 'झाबुआ के आदिवासियों में लोक संस्कार' में भील-भिलालों पर अपना पारम्परिक और उसमें समय-दर-समय हुए परिवर्तनों का भी उल्लेख किया है। आधुनिकता के प्रभाव में आकर उनके संस्कार, विहार और आचार लगातार कमजोर, लचर, सतही, असंवादी और अविश्वसनीय होते जा रहे हैं। वे अपनी भाषा (बोली) पर से तो अपना अधिकार खोते जा ही रहे हैं, साथ ही अब अपने संस्कारों पर भी वे इतनी रूचि लेते दिखाई नहीं देते। यह सचमुच ही अपने लोकसंस्कार के लिए निराशा का दौर है। ये धार्मिक हैं। धर्म का इन पर इतना ज्यादा प्रभाव है कि ऐसा प्रतीत होता है कि

ये ही 'सर्व धर्म समभाव' के निवेशक हैं। यहाँ पर लेखिका लिखती हैं कि 'आदिवासी जन धर्म के सम्बन्ध में दोहरी-तिहरी जिंदगी को एक साथ ही जीते हैं।' यहाँ पर एक सभ्य समाज और सभी धर्म के ठेकेदार उनके साथ छलिया की भूमिका में हैं। वह अपने धर्म, संस्कृति से उन्हें रू-ब-रू करवाना ही नहीं चाहते, वरन् उन्हें अच्छी-खासी तादाद में विगलित कर देना चाहते हैं। वे सहज-सरल और भोले होते हुए भी अपनी जाति-ग्राम और कुलदेवताओं को तो पूजते ही हैं, साथ ही साथ अन्य संस्कृति के भी रक्षक बन गए हैं। पर हमारा बौद्धिक समाज उन आदिवासियों के विश्वास और टेर को अनसुना कर अपनी संवेदनशीलता तक से उन्हें वंचित कर देते हैं। उनकी अपनी दैविक शक्तियाँ उन्हें इस अंधेरे की उदासीनता से निकलने के लिए प्रेरणा देती हैं। हमारा बौद्धिक समाज जो उन्हें यथार्थ का धरातल बतलाता है, वह स्वयं को उनका संरक्षणकर्ता मानता है, दरअसल वही उनकी वधशाला साबित हो रहा है।

इस अध्याय में भीलों और भिलालों के लोक संस्कार की अनेक छवियाँ हैं। यह संस्कार अपने स्वभाव, स्वतंत्रता, रहन-सहन, सोच-विचार, सम्बन्धों और कलाओं की खूँटी हैं। जिसमें सम्बन्धों की गरमाहट, स्थायित्व, पारिवारिक मूल्य-मान्यताएँ, पद्धतियाँ, रीति-रिवाज और रागात्मकता आपस में गुँथी हुई है। इसी माध्यम से यह सामूहिक होते रहते हैं, शहरीकरण की छाया पड़ने के बावजूद भी रस्म निभाने के लिए उसे अपने पैतृक ग्रामों में आना होता है। वे हर संस्कार के लिए अपने समाज और गाँव से जुड़े होते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक और इसी बीच होने वाली अनेकानेक संस्कारगत घटनाएँ इनके जीवन का भी अनिवार्य अंग हैं।

चतुर्थ अध्याय में लेखिका ने विषय की स्थिति को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रसंग और स्मृतियाँ चुनी हैं। वे समाज के अनेक अर्थों को खोलते-खोलते उनकी आत्मा की आवाज तक पहुँची हैं और एक नई मूर्ति का रूप-विन्यास कर पाई हैं। डॉ. कला जोशी बहु अधीत लेखिका हैं, इसलिए अध्ययन भी गहरा है, विभिन्न क्षेत्रों का है, गहरे पानी पैठ है। इसलिए यहाँ संदर्भ और प्रसंगानुकूल बातें दोहराई नहीं जाती। यहाँ उन्होंने ऐसे कोई लोकपर्व या त्योहार नहीं बताएँ हैं, जिनका नाम हमने पहली बार सुना हो, पर वे इन बहुपरिचित प्रसंगों में भी अपनी लेखनी से छाप छोड़ रही हैं। इस अध्याय में तीज-त्योहारों और कथाओं

के माध्यम से कुछ अपदस्थ नए आशय दिए हैं। इसमें उनका ध्यान तीज-त्योहारों की प्रवृत्ति के प्रकटन का रहा। लोकव्यापी चेतना शक्ति से पर्वों में भरपूर आनंद प्राप्त होता है। इसी का समन्वय कुछ पूर्व सूक्त मान्यताएँ जिन्हें करना ही पड़ता है इसका भराव। कुछ चीजें संयम से त्यागने का भाव, ऐसी कई विविधता पूर्ण सामाजिक दृष्टि यहाँ पर दृष्टव्य हुई हैं।

परम्परा और आधुनिकता को साथ लेकर चलता पंचम अध्याय 'झाबुआ के आदिवासियों के लोकसाहित्य की वाचिक परम्परा'। यह 'वाचिक' शब्द ही शायद अंत तक जीवित रहेगा। यह शब्द निरंतर स्मृति सम्पन्न और वृहत्तर प्रश्नों की ओर इंगित करता है। यहाँ यह लिखना आवश्यक हो जाता है कि अपने विभिन्न रूपों में आधुनिकता ने खासकर पश्चिम की प्रेरणा से प्राप्त आधुनिकता ने पारम्परिक विवेक में सिर्फ दोष-दर्शन करने में ही अपनी पर्याप्त ऊर्जा व्यय की है। इसका प्रतिफल हमारे सामने है, हम अब इसे शक्ति से महसूस भी कर रहे हैं। इसके कारण एक ऐसी संस्कृति में प्रवेश कर गए, जिसमें हम अपनी भाषा, बोली, त्योहार, कथा, शिक्षा, गीत, खान-पान सभी चीजों में हीनता का भाव महसूस करते हैं। हमारे अनेकानेक सृजन एवं सृजनकारों से, रूपाकारों से हमारे अपने अतीत की गंध आना उत्तरोत्तर कम होती जा रही है। हमें विश्वदर्शन से प्रेम हो चला है। स्वदर्शन से मोहभंग हो गया है। क्यों हमारे समक्ष लोकगीत, लोकगाथाएँ छन-छन कर आ रही हैं? हम क्यों नहीं हमारी चीज को जस की तस प्रस्तुत कर पा रहे हैं? क्यों उन गीतों-कथाओं में पश्चिम का सलाद मिला रहे हैं? हमारे अपने ही गीत-संगीत, नाटक, पुराण, इतिहास अच्छे हैं। हम उन्हें क्यों तिरोहित करने में जी-जान से लगे हैं? समाज का हर जिम्मेदार व्यक्ति यह अनुभव कर रहा है कि आप अपने आपसे क्या अपने परिवेश, अपनी अंतश्चेतना से जब पराए हो जाते हैं, तब अपने साथ न्याय नहीं कर पाते। आप अपने आपको समझा नहीं पाते, अपनी व्याख्याएँ नहीं दे पाते। भास या कालिदास, तानसेन जैसे कलाकार आपको अपनी पुनर्व्याख्या करने का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। हमें यह साफतौर पर समझ लेना चाहिए कि हम परम्परा को जड़ वस्तु या अचल नहीं कह सकते। आज परम्परा वह नहीं है जो हजारों साल पहले न सिर्फ थी, बल्कि उपयुक्त थी। हम परम्परा को इस तरह सीमित नहीं कर सकते। परम्परा शब्द में ही नैरंतर्य का आशय है। बीते हुए कल की विरासत को हम आज परम्परा के नैरंतर्य के रूप में पाते हैं, क्योंकि काल एक निरंतर प्रवाह है।

लेखिका ने पारम्परिक भारतीय विवेक को दृष्टिगत रखते हुए अपनी वाचिक परम्परा के सृजन को अपनी शर्तों पर समझ कर उसे तमाम अटकलों के बावजूद एक सौन्दर्यमयी दृष्टि प्रदान की है। वाचिक परम्परा तो हमारे पूर्वजों द्वारा की गई वह अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति द्वारा पहले कभी कही गई हो, भले ही उसके कोई प्रमाण उपस्थित न हो, परन्तु वह वाचिकता निरंतर हस्तांतरित हुई है और आज जिसे सामान्य समूह अपना मानता है। इस वाचिक परम्परा में बहुविध रंग व्यवहार है और यह सदियों से चली आ रही चुप्पी को शब्द प्रदान करने का बहुत अच्छा माध्यम है।

ग्रामीण आदिवासी का जीवन संघर्षों से भरा पड़ा है। इनका सम्पूर्ण ग्राम्य जीवन कंटकाकीर्ण होता है। अभावों में रहकर गुजर-बसर करते हैं, फिर भी इनके जीवन में मौलिकता, गाना-बजाना, समूहगत व्यवहार, परिश्रम आदि वादों-संवादों की गूँजे सुनाई देती हैं। जब वह किसी शहर के सम्पर्क में आता है तब भी वह एक आम शहरी से कंधे से कंधा मिलाकर चलता है, और वह अपनी समझ से शहरी राजनीतिक दुश्चक्रों के खिलाफ सावधान रहता है। वह पेड़, पहाड़, नदियाँ, जंगल, वन, उपवन छोड़कर महानगर की दुनिया के रंगीले जीवन में ढलने का प्रयास करता है। इतने तेजी से बदलते वक्त परेशान और हताश कर देने वाली सच्चाई लेखिका ने इस अध्याय 'आदिवासी संस्कृति पर शहरी संस्कृति' का प्रभाव में बताई है।

पुस्तक का यह अंतिम अध्याय 'आदिवासी संस्कृति और सामाजिक समरसता' लेखकीय प्रत्याख्यान के साथ शुरू होता है जो लोक का समग्र और वास्तविक अर्थ बतलाता है। इस अध्याय में आदिवासियों के जोखिम भरे जीवन के प्रति कई सवाल उठाए गए हैं, हमारी लोक संस्कृति सिर्फ विवाह, मृत्यु, जन्म संस्कार गीत, प्रेम, प्रकृति गीत, मुहावरे, लोकोक्ति, भाषा-बोली, उनके संस्कारों पर शोध करने में ही नहीं हैं, वरन् उनके प्रति हो रहे व्यवहार की भी पड़ताल है।

संक्रमण के इस दौर में लोक संस्कृति को लेकर अटल पूर्वाग्रह है। हमें पता है कि संस्कृति विघटन की ओर न चली जाए, यदि जाती है तो उनके कारणों का ज्ञान भी हमें है, वह क्या परिस्थितियाँ होंगी, जिसमें संक्रमण का कीड़ा पूरी फसल को नष्ट करेगा, पर प्रश्न है कि हम अपनी संस्कृति को लेकर भी अवसरवादी है, गंभीर नहीं, जिम्मेदार नहीं, विचारशील नहीं। हमारी आलोचना सहज, सुविचारित, सम्प्रेषणीय हैं, पर अज्ञानवश आने वाले हितलाभ के गुण को हम छोड़ नहीं पाते।

आदिवासी लोक संस्कृति, लोकसाहित्य की दुनिया पर केन्द्रित है लेखिका की अपनी दुनिया भी यही है। नित-नूतन देखकर उसे लिपिबद्ध कर उसमें प्रश्न बिखेर देती हैं और भयावह होती जीवन स्थितियों और निरंकुश होती सभ्यताओं पर प्रायः वक्रोक्तियों द्वारा इतिश्री करती हैं। यहाँ परिवेश की अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं, विसंगतियों और जीवन में निहित पाखंडों पर भी उन्होंने वैचारिक आधार पर विचारशील होना आवश्यक माना है, क्योंकि सम्पूर्ण आदिवासी समाज अपने मूल्यों पर भरोसा करने वाला है, वे अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार सकारात्मक संभावनाओं के साथ आगे बढ़ते हैं और सम्बन्ध में अवरोध उत्पन्न करने वाली स्थितियों, प्रवृत्तियों, शक्तियों और दुरभिसंधियों में वैमनस्य न करते हुए समन्वय के आधार पर मूल्यों और ग्रामीण सामाजिक एवं धार्मिक पर्व मनाते चले जाते हैं।

हमें अपनी संस्कृति को अनावश्यक घुसपैठ से बचाना है तो गहरे पूर्वाग्रहों से मुक्त होना होगा। समाज के किसी अंग को मरणांतर झूठ नहीं बोला जा सकता। लोकसाहित्य समाज के समक्ष एक जलती हुई मशाल की भाँति है, यदि वह बुझी तो घनघोर अंधेरा छा जाएगा। सवाल महत्त्वपूर्ण है, कड़वी सच्चाई है, संकट का अस्तित्व चहुँओर है, हमें इस दिशा में अपने तत्परतापूर्ण संवाद करते रहना होगा

#### संदर्भ

1. आदिवासी अस्मिता और विकास-प्रो.हीरालाल शुक्ल
2. आदिवासी विकास-डॉ.ब्रह्मदेव शर्मा
3. आदिवासी भारत-योगेश अटल
4. मानव और संस्कृति-एस.सी.दुबे
5. जनजातीय जीवन और संस्कृति-श्रीचंद्र जैन
6. भारत की जनजातियाँ-शिवकुमार शर्मा
7. म.प्र. की जनजातियाँ-शिवकुमार शर्मा